जयशंकर प्रसाद और मोहन राकेश के नाटकों का तुलनात्मक अनुशीलन

(JAYASHANKAR PRASAD AUR MOHAN RAKESH KE NATAKOM KA TULNATMAK ANUSHEELAN)

Thesis submitted to

Cochin University of Science and Technology

for the award of the degree of

Doctor of Philosophy
in
Hindi

By

MAYALAKSHMI. R

Supervising Teacher

Prof. (Dr) N.G. DEVAKI

Department of Hindi
Cochin University of Science and Technology
Kochi-682 022

May - 2012

JAYASHANKAR PRASAD AUR MOHAN RAKESH KE NATAKOM KA TULNATMAK ANUSHEELAN

Ph.D Thesis (Hindi) in the field of Drama

Author

Mayalakshmi. R
Research Scholar, Department of Hindi
Cochin University of Science and Technology, Kochi-22

Research Advisor

Dr. N.G. Devaki
Professor, Department of Hindi
Cochin University of Science and Technology, Kochi-22

Type setting

Udayan Kalamassery

Department of Hindi
Cochin University of Science and Technology
Kochi-22
www.cusat.ac.in

May 2012

“पूज्य माता-पिता
एवं
प्रिय पति सुमेष को
सप्रेम समर्पित.....”

Declaration

I hereby declare that the thesis entitled **"Jayashankar Prasad Aur Mohan Rakesh Ke Natakom Ka Tulnatmak Anusheelan"** is outcome of the original work done by me, and the work did not form part of any dissertation submitted for the award of any degree, diploma, associateship, or any other title or recognition.

Department of Hindi
Cochin University of
Science and Technology
Kochi-22.

Mayalakshmi. R
Research Scholar

DEPARTMENT OF HINDI
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY

Certificate

This is to certify that, to the best of my knowledge the thesis entitled ***"JAYASHANKAR PRASAD AUR MOHAN RAKESH KE NATAKOM KA TULNATMAK ANUSHEELAN"*** is a bonafide record of research carried out by **MAYALAKSHMI. R.** under my supervision.

Department of Hindi
Cochin University of
Science and Technology
Kochi-22.

Dr. N.G. DEVAKI
Supervising Teacher

"धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतभ्दविष्यति।।115।।
न तज्ज्ञानं न ताच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्योऽस्मिन्यन्न दृश्यते।।116।।"

- आचार्य भरतमुनी
'नाट्यशास्त्र' अध्याय 1 श्लोक 115-116

प्रकाशित रचनाएँ

1) "महादेवी वर्मा के रेखाचित्रों के नारी पात्र", अनुशीलन, कोच्चि अप्रैल 2008

2) "हिन्दी के प्रगतिवादी कविता के प्रमुख हस्ताक्षर", अनुशीलन, कोच्चि, जुलाई 2009

3) "जयशंकर प्रसाद के नाटकों में भारतीयता का स्वरूप", संग्रथन, (केरल) हिन्दी विद्यापीठ तिरुवनन्तपुरम, फरवरी 2010

भूमिका

ललित कलाएँ - चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला, संगीत और काव्य अपनी रचनात्मक अभिव्यक्तियों में किसी जाति के सामुदायिक आदर्शों और मूल्यों को प्रकाश में लाती हैं। साथ ही वे व्यक्ति और जाति के परिष्करण, संशोधन, संपादन, और मनोरंजन का भी महत्त्वपूर्ण साधन होती हैं। अपनी इन विशिष्टताओं के कारण ही सृजन कार्य किसी भी जाति की सामूहिक चेतना का सर्वोत्कृष्ट अंश होता है। कलात्मक भंगिमाओं, अभिव्यक्तियों और प्रदर्शनों के द्वारा जनचेतना का परिष्कार करती हुई कलाएँ मनोरंजन के साथ-साथ अनेक मानवीय गहन अंतर्संबन्धों को प्रकट करती हैं। नाटक और रंगमंच कलात्मक अभिव्यक्ति का विशेष द्वार है जिसमें इन अंतर्संबन्धों का प्रस्तुतीकरण अन्य कलाओं से अधिक होता है। इसीलिए नाटक को 'अवस्था की अनुकृति' माना जाता है। यह एक ऐसी अवधारणा है जिसमें नाटक के स्थूल और भावमूलक दोनों तत्त्व समाहित हो जाते हैं। नाटक में जीवन का इतना व्यापक अनुकरण होता है कि उससे कुछ भी छूट ही नहीं पाता। इस दृष्टि से अनेक कलाओं के योग से विकसित होने वाली कला ही नाट्यकला है। समाज के सभी प्रकार की रुचि वाले लोग नाटक से समान आनन्द प्राप्त कर लेते हैं और इसका कारण यह है कि इसमें जीवनानुभूतियों का अनुकरण देखने को मिलता है।

साहित्य की विविध विधाओं में नाटक को 'पाँचवें वें वद' के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसकी रचना ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से गान, यजुर्वेद से

अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर ब्रह्मा ने, की है। इस तरह इसके मूलतत्व चारों वेदों से ही संगृहीत किये गए थे। जिसके फलस्वरूप इसका रस और आनन्द सभी जातियों और वर्गों के लोग प्राप्त कर सकते हैं। नाटक के प्रति शोधार्थिनी की रुचि है जिसके कारण विशेष अध्ययन के लिए नाटक साहित्य का चयन किया गया। हिन्दी नाटक के दो आधार स्तंभ - जयशंकर प्रसाद और मोहन राकेश पर अध्ययन करने का निर्णय इसी तरह लिया गया। इससे पहले कालिकट विश्वविद्यालय में "जयशंकर प्रसाद और मोहन राकेश के नाटकों में संवाद योजना" विषय पर शोध कार्य संपन्न हुआ था जो इन दोनों नाटककारों के बीच किये गए एकमात्र तुलनात्मक शोध है। प्रसाद और राकेश के नाकों पर स्वतंत्र रुप से काफी शोध कार्य किये गए हैं जैसे जगन्नाथ प्रसाद शर्मा का "प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन"; डॉ. माया सिंह का "प्रसाद के नाटकों का रसानुशीलन"; डॉ. हरीन्द्र का "प्रसाद का नाट्य साहित्य : परम्परा एवं प्रयोग" तथा डॉ. धनानन्द एम. शर्मा का "मोहन राकेश : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, डॉ. पुष्पा बंसल का "मोहन राकेश का नाट्य साहित्य", श्रीमती रीताकुमार का "स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक : मोहन राकेश के विशेष संदर्भ में" आदि। इन शोध प्रबंधों से शोधार्थिनी ने यथोचित सहायता ली है। किन्तु प्रस्तुत शोध कार्य इन शोध-प्रबंधों से निश्चय ही भिन्न है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध में स्वतंत्रता पूर्व के और स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक का प्रतिनिधित्व करनेवाले जयशंकर प्रसाद और मोहन राकेश के नाटकों के साम्य एवं वैषम्य पक्ष को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से परखने की कोशिश की गई है। इस शोध कार्य का शीर्षक है - "जयशंकर प्रसाद और मोहन राकेश के नाटकों का तुलनात्मक

अनुशीलन विषय की समग्रता को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत शोध प्रबंध को पाँच अध्यायों में बाँटा गया है।

प्रथम अध्याय का शीर्षक है "नाट्य चिन्तन : भारतीय एवं पाश्चात्य"। परिदृश्य इसे दो खण्डों में विभाजित किया गया है। पहले खण्ड में भारतीय नाट्य सिद्धान्त पर विचार किया गया है। आदि नाट्याचार्य भरतमुनि एवं दशरूपककार धनंजय के नाट्य संबंधी सिद्धान्तों का अध्ययन करते हुए भारतीय दृष्टि से नाटक के मूल तत्त्वों जैसे कथानक, पात्र एवं चरित्र-चित्रण, संवाद-योजना, देशकाल एवं वातावरण, भाषा-शैली, उद्देश्य, रस, अभिनय आदि का विवरण प्रस्तुत किया गया है। दूसरे खण्ड में पाश्चात्य नाट्य चिन्तन-पद्धति पर प्रकाश डालते हुए अरस्तू और होरेस के नाटक संबन्धी विचारों को रेखांकित किया गया है। भारतीय पद्धति के अनुरूप पाश्चात्य आचार्यों द्वारा निर्धारित नाटक के मौलिक तत्त्वों का भी अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

"जयशंकर प्रसाद की नाट्य रचनाओं का स्वरूप-भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य तत्त्वों के परिप्रेक्ष्य में" शीर्षक दूसरे अध्याय में प्रसाद की संपूर्ण नाट्य कृतियों - 'राज्यश्री', 'विशाख', 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'स्कन्दगुप्त', 'कामना', 'चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' का नाटक के आधारभूत तत्त्वों के आधार पर विवेचन किया गया है। प्रसाद द्वारा स्वीकृत संस्कृत, पारसी एवं शेस्कपियरीय सृजनात्मक कौशल का प्रत्येक नाटक के संदर्भ में विश्लेषण किया गया है। उनके नाटकों के हर पहलू पर इस अध्याय में चर्चा की गई है।

तीसरा अध्याय "मोहन राकेश की नाट्य रचनाओं का स्वरूप : भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य तत्त्वों के आधार पर" है। इसमे राकेश द्वारा सृजित चार नाटकों - 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस', 'आधे-अधूरे' तथा 'पैर तले की ज़मीन' का विवेचन भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य सिद्धान्तों की कसौटी पर किया गया है। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक को एक नया मोड़ देने तथा भारतीय नाट्य साहित्य में हिन्दी नाटक की अपनी जगह कायम करने में राकेश एवं उनकी नाट्य कृतियों की सक्रिय भूमिका रही है। उनके नाटकों के कथानकों, उसके वाहक पात्र, उनके नाट्य संवाद, उसकी भाषा-शैली इन सब बातों का विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत करना इस अध्याय का लक्ष्य है।

चौथा अध्याय - "रंगमंच की दृष्टि से प्रसाद और राकेश के नाटकों का विश्लेषण" है। नाटक की पूर्णता रंगमंच पर ही संभव होती है। इसीलिए इस अध्याय में मंचन एवं अभिनय की दृष्टि से प्रसाद और राकेश के नाटकों का अध्ययन किया गया है। प्रसाद के नाटक रंगमंच की कसौटी पर असफल साबित होने के कारणों पर भी इस अध्याय में प्रकाश डाला गया है। हिन्दी नाटक को रंगमंच पर जीवन्त बनाने वाले राकेश के नाटकों के पक्षों पर भी यहाँ नज़र डाला गया है। प्रसाद ने मंच को साहित्य के स्तर तक उठाने की चेष्टा की तो राकेश ने मंच की अपेक्षाओं को सामने रखकर नाटक लिखे।

पाँचवें अध्याय में "प्रसाद और राकेश के नाटकों में अभिव्यक्त नाट्य चिन्तन का तुलनात्मक अध्ययन" किया गया है। प्रसाद नवोत्थान युग के नेता थे और राकेश सृजनशीलता के। दोनों ने अपनी परम्पराओं का दामन पकड़ते हुए

नाट्य सृजन के क्षेत्र में अपनी अलग पहचान कायम की। दोनों नाटककारों ने विभिन्न कोणों से नाट्यसृजन की तंतु को बुनाया है। इस कोण की समानताओं एवं विषमताओं की इस अध्याय में खुलकर चर्चा की है। इस प्रकार दोनों नाटककारों के नाटकों का केवल परम्परानुकूल साहित्यिक रूप में ही नहीं बल्कि वैज्ञानिक दृष्टि से भी विवेचन तथा तुलनात्मक अध्ययन किया गया है।

'उपसंहार' में अपने अध्ययन का समग्र निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

अंत में पंचसूत्री क्रमानुसार सहायक ग्रंथ सूची भी प्रस्तुत की गई है।

कृतज्ञता ज्ञापन

कोच्चिन विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग की प्रोफेसर डॉ. एन.जी. देवकी के निर्देशन में यह शोध कार्य संपन्न हुआ है। इस शोध कार्य की पूर्ति में उनके स्नेह भरे प्रोत्साहन, प्रेरणा प्रौढ़-निर्देशन और सुझाव सदैव सहायक रहे हैं। इस शोध प्रबंध के क्रम में ऐसे कई क्षण आये जब चारों ओर से घोर निराशाओं में डूबने लगी और आपने कृपापूर्वक मुझे सम्हाल लिया। आपकी इस कृपा के प्रति आजीवन आभारी बने रहने में ही मैं अपने को धन्य मानूँगी।

कोच्चिन विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के भूतपूर्व अध्यक्षा डॉ. शेमिम अलियार, संप्रति विभाग अध्यक्ष डॉ. आर. शशिधरन और अन्य गुरुजनों के प्रति भी मैं बहुत आभारी हूँ जिन्होंने अपने सत्परामर्श से मेरे इस प्रबंध का मार्ग-दर्शन किया है।

कोच्चिन विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के पुस्तकालय के कर्मचारियों के प्रति भी मैं कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ जिन्होंने पुस्तक, पत्रिका आदि उपलब्ध कराके मेरी सहायता की है। इस अवसर पर राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली के पुस्तकालय के कर्मचारियों के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित किये बिना नहीं रह सकती जिनके सहयोग से प्रस्तुत शोध-प्रबंध को मूर्तिमान करने में मुझे पर्याप्त मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है। केरल विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग, केरल हिन्दी प्रचार सभा, श्रीशंकराचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय, संगीत-नाटक अकादमी तृश्शूर आदि के पुस्तकालयों के कर्मचारियों के प्रति भी मैं अपना हार्दिक आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने समय-समय पर पुस्तकें देकर मेरी सहायता की है।

वर्षों की मेरी चिर संचित अभिलाषा यहाँ संपन्न हो रही है, इसके मूल में मेरे पूज्य माता-पिता का आशीर्वाद और स्नेह सिक्त प्रेरणा ही सक्रिय है। ऐसे सुयोग्य माता-पिता की पुत्री होने का मुझे गर्व है।

अंत में मेरे प्रिय मित्रों और अन्य शुभ चिन्तकों के प्रति भी मैं आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में इस शोधकार्य में मेरी सहायता की है।

मैं यह शोध प्रबंध सविन्य विद्वानों के सामने प्रस्तुत कर रही हूँ। इसमें आयी हुई त्रुटियों एवं खामियों के लिए क्षमा प्रार्थी हूँ।

मायालक्ष्मी आर.

विषय सूची

पहला अध्याय 1-65

नाट्य चिन्तन - भारतीय एवं पाश्चात्य परिदृश्य

खण्ड 'क' : भारतीय नाट्य चिन्तन पद्धति

1.क.1 नाटक की उत्पत्ति एवं तत्संबंधी भारतीय मान्यताएँ

1.1 भरतमुनि कृत 'नाट्यशास्त्र' में नाटक की अवधारणा

1.2 धनंजय कृत 'दशरूपक' में नाटक का स्वरूप

1.क.2 नाटक के सैद्धान्तिक पक्ष

- कथावस्तु
- पात्र एवं चरित्र-चित्रण
- संवाद
- देशकाल एवं वातावरण
- भाषा-शैली
- उद्देश्य
- रस
- अभिनय तथा उसके प्रकार

खण्ड 'ख' - पाश्चात्य नाट्य चिन्तन पद्धति

1.ख.3 नाटक की उत्पत्ति एवं तत्संबंधी पाश्चात्य मान्यताएँ

3.1 अरस्तू की नाटक संबंधी मान्यताएँ

3.2 होरेस की नाटक संबंधी मान्यताएँ

1.ख.4 नाटक के मौलिक तत्त्व

- कथानक अथवा वस्तु
- नेता अथवा पात्र

- कथोपकथन
- संकलन त्रय तथा देशकाल
- भाषा एवं शैली
- संघर्ष

निष्कर्ष

दूसरा अध्याय 66-136

जयशंकर प्रसाद के नाटकों का स्वरूप - भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य तत्त्वों के परिप्रेक्ष्य में

2.1 कथानक विवेचन
2.2 पात्र-योजना एवं चरित्र-चित्रण
2.3 संवाद-सौष्ठव
2.4 देशकाल और वातावरण
2.4.क. राजनीतिक परिस्थिति
2.4.ख. सामाजिक परिस्थिति
2.4.ग. धार्मिक परिस्थिति
1.4.घ. शिक्षा, कला एवं साहित्य
2.5 भाषा-शैली
2.6 उद्देश्य

निष्कर्ष

तीसरा अध्याय 137-203

मोहन राकेश के नाटकों का स्वरूप-भरतीय एवं पाश्चात्य नाट्य तत्त्वों के आधार पर

3.1 कथावस्तु - विवेचन
3.2 पात्र-योजना
3.3 संवाद-सौष्ठव

3.4 भाषा-शैली
3.5 देशकाल और वातावरण
3.6 उद्देश्य
निष्कर्ष

चौथा अध्याय 204-272

रंगमंच की दृष्टि से प्रसाद और राकेश के नाटकों का विश्लेषण

4.1 मंचन की दृष्टि से प्रसाद के नाटकों का विवेचन
- आधुनिक हिन्दी रंगमंच
- प्रसाद का नाटककार व्यक्तित्व-रंगमंच के विशेष संदर्भ में
- संस्कृत रंगमंच का प्रभाव
- पारसी रंगमंच का प्रभाव
- अभिनय की दृष्टि से प्रसाद के नाटक

4.2 मंचन की दृष्टि से राकेश के नाटकों का विवेचन
- स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी रंगमंच
- नाटककार मोहन राकेश-रंगमंच के विशेष संदर्भ में
- आषाढ़ का एक दिन
- लहरों के राजहंस
- आधे-अधूरे
- पैर तले की ज़मीन

निष्कर्ष

पाँचवाँ अध्याय 273-336

जयशंकर प्रसाद और मोहन राकेश के नाटकों में अभिव्यक्त नाट्य चिन्तन का तुलनात्मक अध्ययन

5.1 प्रसाद और राकेश-सृजन की पृष्ठभूमि
5.2 प्रसाद और राकेश-तुलनात्मक विवेचन

5.3 ऐतिहासिकता और काल्पनिकता
5.4 पात्र-योजना
5.5 संवाद-योजना स्वगत कथन
5.6 अन्तर्द्वन्द्व
5.7 रस-योजना
5.8 देशकाल - दृश्य योजना, मंचीय संकेत
निष्कर्ष

उपसंहार 237-344

सहायक ग्रंथ सूची 259-365

पहला अध्याय

नाट्य चिन्तन : भारतीय एवं पाश्चात्य परिदृश्य

पहला अध्याय
नाट्य चिन्तन : भारतीय एवं पाश्चात्य परिदृश्य

साराँश : इस अध्याय में भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्याचार्यों द्वारा प्रतिपादित नाटक के विभिन्न तत्वों पर विचार किया गया है। इस अध्याय को दो खण्डों में बाँटते हुए - पहले खण्ड में भारतीय नाट्य चिन्तन पद्धति का विवरण दिया गया है। भरतमुनि एवं धनंजय द्वारा प्रस्तुत नाटक के तत्वों की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट होता है कि भारतीय आचार्य वस्तु, नेता और रस को नाटक का प्राण मानते हैं। रस प्राप्ति ही उनके अनुसार नाटक का चरम लक्ष्य है। पाश्चात्य आचार्य अरस्तू एवं होरेस ने भी नाट्य तत्वों पर व्याख्या प्रस्तुत की है। उन्होंने भी वस्तु, नेता और रस की बात करते हुए संघर्ष को नाटक का प्राण बताया है। इन दोनों नाट्य पद्धतियों के अध्ययन के फलस्वरूप यह स्पष्ट होता है कि दोनों ने ही नाटक को साहित्य का ऐसा सशक्त रूप माना है जो मानव जीवन से प्रत्यक्ष संबंध रखता है। नाटक, मानव और उसके जीवन में व्याप्त संघर्ष को महत्ता देते हुए नाट्य रूप धारण करता है। यह रूप रंगमंच में अभिनेताओं के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। इस तरह नाटक जीवन से प्रत्यक्ष संबंध स्थापित करता है। वह रंगमंच पर संघर्षशील मनुष्य और उसके संघर्षमय जीवन की सहज अवधारणा प्रस्तुत कर सशक्त साहित्यिक विधा का रूप धारण करता है। इसे सशक्त बनाने में कार्यरत तत्वों का विश्लेषण ही इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

खण्ड-'क'
भारतीय नाट्य चिन्तन पद्धति

प्रस्तावना

मनुष्य और प्रकृति के बीच की घनिष्ठता ही नाटक की उत्पत्ति का पहला चरण है। आदिकाल में जब मनुष्य जंगल में निवास करते थे, वह अकेला ही गुनगुनाता, अकेला ही नाचने लगता था। यह प्रवृत्ति इस बात का सूचक है कि संगीत एवं नृत्य उसके मनोरंजन के साथी थे। इस मनोविनोद में एकमात्र प्रकृति उसकी सहायिका हुआ करती थी। पेड़-पौधों के साथ संवाद कर तथा पशु-पक्षियों की क्रियाओं की नकल करके उसने अभिनय कला सीखी होगी। कालांतर में जब मनुष्य ने अपना समाज बना लिया तब ये कलाएँ संघटित होकर मनोरंजन का एक व्यापक साधन बन गई। परिणामस्वरूप उन्हें 'नाटक' की संज्ञा मिली। वस्तुतः लोक जीवन को सर्वाधिक प्रभावित करनेवाला 'नाटक', साहित्य की सबसे सुन्दर एवं महत्त्वपूर्ण विधा के रूप में इस तरह पल्लवित हुआ।

नाटक जैसी विधा के माध्यम से मनुष्य के बाह्य एवं अंतः प्रकृति तथा उसके मानसिक भावों की चिरन्तन अभिव्यक्ति अधिक प्रभावोत्पादक रूप धारण करता है। इसी कारण प्राचीन काल से काव्य और ललित कलाएँ विशेषतः नाटक समानांतर रूप से प्रतिष्ठित हुआ। नाटक की उपयोगिता व्यक्ति और समाज के लिए है। नाटक को एक व्यक्ति भी पढकर आनन्द उठा सकता है और उसका

अभिनय करके समाज भी अपना मनोरंजन कर सकता है। इसके अतिरिक्त नाटक से वैयक्तिक एवं सामाजिक उत्थान की प्रेरणा भी मिलती है। इसी अनुरंजन और लोक मंगल की प्रवृत्ति के कारण आचार्यों ने नाटक को 'पंचमवेद' कहा है। इस पंचमवेद को आचार्यों ने अपने-अपने ढ़ंग से परिभाषित और व्याख्यायित किया है। इनमें भारतीय एवं पाश्चात्य आचार्यों का योगदान समान रूप से उल्लेखनीय है।

1.क.1 नाटक की उत्पत्ति एवं तत्संबन्धी भारतीय मान्यताएँ

1.1 भरतमुनि कृत 'नाट्यशास्त्र' में नाटक की अवधारणा

सहृदय इन्द्रियों के द्वारा काव्य का आस्वाद करता है, इसी के द्वारा उनको आनन्दोपलब्धि होती है। इसी कारण आचार्यों ने इन्द्रियों के आधार पर काव्य के दो भेद किए हैं - श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य। श्रवेणेद्रियों द्वारा जिस काव्य का आनन्द ग्रहण किया जाता है, उसे श्रव्य काव्य कहते हैं। इससे भिन्न, जो काव्य देखा एवं सुना जाता है तथा जो रंगमंच पर अभिनेताओं द्वारा प्रस्तुत होता है और सर्वोपरि जिसकी विशेषता और सार्थकता दृश्य होने में ही है, ऐसे काव्य को दृश्य काव्य की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

दृश्य काव्य की विशिष्टता मूलतः उसके दृश्यत्व में है। दृश्यत्व से तात्पर्य काव्य के प्रदर्शित रूप से है। रंगमंच पर जो प्रदर्शित होता है वही दृश्य काव्य है। दृश्य काव्य में भावाभिव्यक्ति के साधन मात्र शब्द नहीं बल्कि अभिनेता, उनकी रूप सज्जा, उनके कार्य व्यापार, उनकी भाव-भंगिमाएँ, रंगमंच के प्रकाश आदि अनेकानेक उपकरण भावाभिव्यक्ति में योग देते हैं। इस तरह रंगमंच के सभी श्रव्य एवं दृश्य

साधनों के समन्वित रूप से उद्‌भूत काव्य को दृश्य काव्य कहते हैं। इस दृष्टि से रूपक, नाटक आदि दृश्य काव्य के अंतर्गत गिने जाते हैं।

रूपक और उपरूपक अभिनेय नृत्य के दो भेद हैं। "प्राचीन काल में रंगमंच पर जो रस-भावयुक्त साहित्य रचनाएँ अभिनीत की जाती थी, उन्हें रूपक कहा जाता था और नृत्य-नृत्त आदि को उपरूपक कहा जाता था।"[1] अंकों की गणना, वृत्तियों का प्रयोग, रस का प्राधान्य, नायक की विशेषताएँ आदि के आधार पर रूपक के दस भेद और उपरूपक के अठारह भेद स्वीकार किये गये हैं।

रूपक के दस भेदों में नाटक को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रकार माना गया है। "संस्कृत के 'नाट्य' का अनुवाद हिन्दी में 'नाटक' किया गया है पर मूलतः नाटक और नाट्य एक नहीं है। ....नाटक नाट्य का, कवि द्वारा लिखित आलेख है, और नाट्य नाटक का रंगमंच पर प्रस्तुत मूर्त्त रूप।"[2] वस्तुतः नट् से जो कार्य अपेक्षित होता है, वह नाट्य है और नाटक काव्यकला का एक प्रकार है। हिन्दी में यह भेद नहीं रह गया है। हिन्दी में 'नाटक' रूपक का पर्यायवाची बन गया है और अंग्रेजी शब्द 'Drama' के स्थान पर उसका प्रयोग होता चला आ रहा है।

किसी भी कला की उत्पत्ति अव्यक्त से ही व्यक्त धरातल पर होती है। इस उत्पत्ति में जो माध्यम है, हम केवल उसी को देख पाते हैं। आचार्य भरतमुनि कृत

---

1. डॉ. सुरेशचन्द्र शुक्ल, डॉ. नीलम मसन्द - हिन्दी नाटक और नाटककार - पृ. 3
2. सिद्धनाथ कुमार - नाटकालोचना के सिद्धान्त - पृ. 24

'नाट्यशास्त्र' नाटक की उत्पत्ति एवं उसके लक्षण संबन्धी सबसे प्राचीनतम पथ प्रदर्शक ग्रंथ है। नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक की उत्पत्ति त्रेतायुग में ब्रह्मा के द्वारा की गई थी। त्रेतायुग में देवता लोग ब्रह्मा के पास गये और उनसे प्रार्थना की कि वे किसी ऐसे वेद की रचना करे जिसे देखा भी जा सके और सुना भी। वेदों का व्यवहार और श्रवण शूद्रों के द्वारा नहीं किया जाता है, अतः ऐसे पाँचवें वेद की रचना कीजिए जो सभी वर्गों के लिए हो। इस पर भगवान् ब्रह्मा ने सभी वेदों का स्मरण कर चारों वेदों के अंगों से संभव होनेवाले नाट्यवेद की रचना की। उन्होंने "पाठ ऋग्वेद से, गीत सामवेद से, अभिनय यजुर्वेद से तथा रसों को अथर्ववेद से ग्रहण किया।"[1] इस प्रकार तत्वज्ञानी ब्रह्मा ने वेद तथा उपवेदों पर आधारित नाट्यवेद की रचना की। नाट्यवेद की रचना के उपरान्त ब्रह्मा ने इसके प्रयोग का काम भरतमुनि को सौंपा। इसी के फलस्वरूप 'नाट्यशास्त्र' शीर्षक लक्षण ग्रंथ का सृजन हुआ।

नाटक, दृश्यकाव्य होने के कारण कानों और आँखों के सहारे हमारे भीतर आनन्द की उत्पत्ति करते हैं। नृत्य गायन, वादन और अभिनय ने मिलकर ही नाटक का पूरा रूप खड़ा किया। भरतमुनि का कथन है "यह नाट्य धर्म, यश, आयु को बढ़ानेवाला, बुद्धि को उद्दीप्त करनेवाला, तथा लोक को उपदेश देनेवाला होगा। न ऐसा कोई ज्ञान है, न शिल्प है, न विद्या है, न ऐसी

---

1. जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
   यदुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।।"17।।
   रघुवंश, भरत का नाट्यशास्त्र, श्लोक 17, पृ. 5

कोई कला है, न कोई योग है और न कोई कार्य ही है जो इस नाट्य में प्रदर्शित न किया जाता हो।"[1]

नाटक में सब शास्त्र, समस्त शिल्प और अनेक प्रकार के कार्य संयोजित होते हैं। इसमें लोक के वृत्त का अनुकरण है। मानव में अनुकरण करने की जो नैसर्गिक प्रवृत्ति है उसी ने नाटक को जन्म दिया। इसीलिए नाटक में अनुकरण तत्त्व की ही प्रधानता है। भरतमुनि के विचारानुसार "नाटक न केवल दानवों के लिए है और न केवल देवताओं के लिए वरन् इसमें संपूर्ण त्रैलोक्य के भावों का अनुकरण है। इसके अंतर्गत कहीं धर्म है, कहीं क्रीड़ा, कहीं अर्थ, कहीं शान्त, अथवा श्रम, कहीं हँसी, कहीं युद्ध, कहीं काम और कहीं वध का अनुकरण है।"[2] इसका तात्पर्य यह है कि तीनों लोकों के नाना प्रकार के भावों का अनुकरण ही नाटक है। इससे स्पष्ट है कि नाटक में नाना अवस्था संपन्न लोक व्यवहार का अनुकीर्तन होता है। "भरत की दृष्टि नितांत स्पष्ट है कि लोक का सुख-दुःख समन्वित स्वभाव आंगिकादि अभिनयों से संपन्न होने पर नाट्य होता है। नाना भावों से उपसंपन्न नानावस्थाओं से युक्त लोकवृत्त का अनुकरण ही नाट्य है।"[3]

---

1. "धर्म्य यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
   लोकोपदेशजननं नाट्यमेतभ्दविष्यति।।5।।
   न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
   नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन्यन्न दृश्यते।।"
   रघुवंश, भरत का नाट्यशास्त्र, श्लोक 115-116 - पृ. 20
2. "नैकान्ततोऽत्र भवतां देवानां चानुभावनम्।
   त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्व नाट्यं भावानुकीर्तनम्।।
   कचिद्धर्मः कचिक्त्क्रीड़ा कचिदर्थः करिच्छमः।
   कचिद्धास्यं कचिघुद्धं कचित्कामः क्वचिच्छद्वमः।।"
   रघुवंश, भरत का नाट्यशास्त्र, श्लोक 107-108 - पृ. 19
3. डॉ. सुरेन्द्रनाथ दीक्षित - नाटक और रंगमंच - पृ. 27

वस्तुतः भरतमुनि ने नाटक के सभी पक्षों पर विस्तार से विचार किया है, जिसका विश्लेषण आगे प्रस्तुत किया जायेगा। भरत द्वारा निर्दिष्ट नाट्यकला का रचनात्मक रूप उत्तरवर्ती नाट्यशास्त्रियों के लिए अनुकरणीय रहा जिनमें धनंजय का स्थान उल्लेखनीय है।

धनंजय कृत दशरूपक में नाटक का स्वरूप

नाटक के लक्षण ग्रंथों के अध्ययन के संदर्भ में भरतमुनि के उपरान्त धनंजय की नाट्य संबन्धी व्याख्या पर विचार किया जाता है। उन्होंने नाटक को स्पष्ट रूप से समझाने का प्रयास किया है। दशरूपक में नाटक के शास्त्रीय पक्ष से संबन्धित उपयोगी बातों को संक्षिप्त करके कारिकाओं में प्रस्तुत किया गया है। इनमें अधिकांश कारिकाएँ अनुष्टप् छन्द में लिखी गई है। इनमें दुरूहता उत्पन्न होने के कारण धनंजय के भाई धनिक ने कारिकाओं का अर्थ स्पष्ट करने के उद्देश्य से इस ग्रन्थ पर 'अवलोक' नामक वृत्ति लिखी।

धनंजय ने अपने ग्रंथ को चार प्रकाशों में विभक्त किया है। इनमें प्रथम प्रकाश में कथावस्तु तथा उसके 64 संध्याङ्गों का वर्णन किया गया है। द्वितीय प्रकाश में नायक-नायिका के भेद, उनके गुण, क्रियाएँ तथा उनके सहचरों का वर्णन किया गया है। तृतीय प्रकाश में दशरूपकों में प्रमुख नाटक का सविस्तर विश्लेषण किया गया है। चौथे प्रकाश में रस का विवेचन है।

धनंजय ने अपने ग्रंथ का नाम 'दशरूपक' भरतमुनि कृत 'नाट्यशास्त्र' के बीसवें अध्याय 'दशरूपकविधान' को आधार बनाकर रखा। धनंजय ने अपने ग्रंथ

में निम्नलिखित दस रूपों का विधान प्रस्तुत किया है - नाटक, प्रकरण, अंक, व्यायोग, भाण, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम और ईहामृग। इनमें से सर्वप्रथम नाटक की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है - "अवस्थाओं का अभिनय के साथ अनुकरण ही नाट्य है।"[1] इसका तात्पर्य यह है कि नाटक में वर्णित विभिन्न पात्रों की जो अवस्थाएँ है उनका अनुकरण के द्वारा चार प्रकार के अभिनयों से ऐसा अनुकरण उपस्थित करे जिनसे दर्शक तादात्म्य प्राप्त कर सके, उसे नाटक की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। दशरूपककार ने आगे नाटक के भेदक तत्वों पर प्रकाश डाला है। "कथावस्तु, नायक और रस ये ही नाटक के भेदक तत्त्व हैं।"[2] जिनपर हम आगे विस्तार विचार करेंगे।

नाटक के सैद्धान्तिक पक्ष

कथावस्तु

नाटक के अस्तित्व को संभव बनाने में तथा उसके प्रभाव की गुणवत्ता को निर्दिष्ट करने में उसके स्वरूप का बहुत महत्त्व है। यह स्वरूप कैसे निर्मित होता है? इसे समझने के लिए सबसे पहले उन तत्वों पर विचार कर लेना आवश्यक है जिनसे नाटक निर्मित होता है। नाटक के तत्वों पर भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्यशास्त्रियों

---

1. "अवस्थानुकृतिनाट्यं"
   हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, पृथ्वीनाथ द्विवेदी - नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक - पृ. 80
2. "वस्तुनेतारसस्तेषां भेदको...."
   हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, पृथ्वीराज द्विवेदी; भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा और दशरूपक; 1/11 पृ. 83

ने समान रूप से विचार किया है। इनमें से सर्वप्रथम भारतीय नाट्यशास्त्रियों की दृष्टि पर विचार करेंगे।

नाटक के सभी तत्वों में सर्वाधिक मुख्य भूमिका कथावस्तु की होती है। आचार्य भरतमुनि ने कथावस्तु को नाटक का शरीर मानते हुए उसे वस्तु और इतिवृत्त कहा है। नाटक की विषयवस्तु को कथानक अथवा कथावस्तु कहा जाता है। कथावस्तु उन घटनाओं का विशेष प्रकार से विशेष क्रम में किया गया संयोजन है जिससे रचना का कथ्य प्रभावशाली रूप से संप्रेषित हो सके। वस्तुतः कथावस्तु, घटनाओं का वह संगठन है जिसपर नाटक की नींव खड़ी होती है। "...अंकों और दृश्यों के अनुसार घटनाओं की ऐसी सजावट को कथावस्तु कहते हैं जिसमें नाटकीय कुतूहल आदि से अंत तक बना रहे और साथ ही घटनाओं को आकर्षक कुतूहलजनक और रसमय बनाने के लिए कल्पित घटनाओं और पात्रों का समावेश किया जा सके।"[1] इसका तात्पर्य यह है कि कथावस्तु एक प्रकार से नाट्य कृति का क्रमिक उद्घाटन है जिसमें स्थिति, प्रसंग, घटना, चरित्र और क्रिया-व्यापार की गति का मुख्य योगदान होता है। कथावस्तु का महत्व इस बात में है कि वह नाटक की गठन का संरचनात्मक पहलू और सोद्देश्य संरचना भी है। यह एक ऐसी संरचना है जो देश और काल के आयाम ग्रहण कर नाटक के अन्य तत्वों से सीधे जुड़कर अर्थों का निर्माण करती है।

कथावस्तु के मुख्यतः तीन स्रोत है : प्रख्यात, उत्पाद्य तथा मिश्र। जब इतिहास, पुराण, परम्परा आदि के किसी लोकप्रसिद्ध आख्यान को कथावस्तु का

---

1. सीताराम चतुर्वेदी - अभिनव नाट्यशास्त्र - पृ. 156

आधार बनाये जाये तब उसे प्रख्यात कथानक और जब किसी काल्पनिक प्रसंग को आधार बनाकर कथावस्तु का सृजन किया जाये तब उसे उत्पाद्य कथानक कहते हैं। इन दोनों कथानकों के घटनाक्रमों के मिले जुले रूप को मिश्र कहा जाता है।

घटनाक्रम के विस्तार एवं अविस्तार की दृष्टि से कथावस्तु के दो प्रकार माने गए हैं - आधिकारिक और प्रासंगिक। नाटक की प्रधान कथा को आधिकारिक कथा कहते हैं। अर्थात् मुख्य कथावस्तु को आधिकारिक और अंगभूत को प्रासंगिक कथावस्तु कहते हैं। प्रधान कथावस्तु की फल प्राप्ति कराने के लिए प्रसंगानुकूल जो कथा उठ खड़ी होती है, उसे प्रासंगिक कथावस्तु कहते हैं। प्रासंगिक कथाओं का उद्देश्य आधिकारिक कथावस्तु को विकसित करने में सहायता पहुँचाना है। प्रासंगिक कथा का आधिकारिक कथा के साथ ऐसा संगठन होना चाहिए जिससे कहीं वह व्यर्थ न हो।

नाटक में आये समस्त कथानक को रंगमंच पर नहीं दिखाया जा सकता। कथावस्तु के कुछ अंश को अभिनय द्वारा, दिखाया जाता है और शेष की केवल सूचना दी जाती है। इस आधार पर कथावस्तु के दो भेद किए जाते हैं - दृश्य और सूच्य। दृश्य कथावस्तु को अभिनय द्वारा रंगमंच पर दिखाया जाता है और सूच्य की केवल सूचना दी जाती है। इस सूच्य और दृश्य कथावस्तु का सामंजस्य नाटक में संरचनात्मक अनुपात, संतुलन, संगति और लय को पैदा करता है जिससे उसको समग्रता उपलब्ध होती हैं। इस समग्रता से नाटक की कथावस्तु में सत्याभास उत्पन्न होता है।

नाटक की कथावस्तु अपने में संबद्ध और पूर्ण होती है। इसे पूर्णता प्रदान करने के लिए भारतीय नाट्य शास्त्र में पाँच कार्यावस्थाओं, पाँच अर्थ प्रकृतियों और पाँच संधियों की व्यवस्था की गई है। नाटक की मूल अवधारणा फलप्राप्ति या फलागम पर केन्द्रित है। फलप्राप्ति के लिए किये जाने वाले व्यापार को कार्य कहा जाता है और इसका विस्तार नाटक के आरंभ से अंत तक रहता है। इसलिए कथावस्तु के ढाँचे को प्रारंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम शीर्षक पाँच कार्यावस्थाओं से बाँध दिया गया है।

'प्रारंभ' अवस्था में मुख्य फल का प्राप्ति के लिए औत्सुक्य जाग्रत होता है। 'प्रयत्न' अवस्था में फलप्राप्ति के लिए शीघ्रतापूर्वक उद्योग किया जाता है। जहाँ आशंका और बाधाओं के साथ किंचित फलप्राप्ति की आशा बँधती हो वह प्राप्त्याश की अवस्था है। नियताप्ति की अवस्था में फलप्राप्ति का निश्चय हो जाता है लेकिन कार्य व्यापार चलता रहता है। जिस अवस्था में उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है और सभी अभिलषित फल प्राप्त हो जाते हैं, वह फलागम है। कार्यावस्था का संबंध नायक की मानसिक दशा और कथा के विकासक्रम से है। नायक फल की प्राप्ति के लिए कार्य-व्यापार का प्रसार करता है और उसकी पाँच अवस्थाओं का विन्यास एक निश्चित फल से सम्बद्ध होकर अग्रसर होता है।

इन पाँच अवस्थाओं की भाँति नाट्यशास्त्रियों ने पाँच अर्थ प्रकृतियों को भी माना है। कथावस्तु को फल की ओर अग्रसर करने वाले तत्वों को अर्थ प्रकृति कहा गया है। ये अर्थप्रकृतियाँ कार्य की संपन्नता के प्रयत्नों तथा साधनों से अपना संबंध रखती है। इनके पाँच भेद हैं - बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य।

कथावस्तु के आरंभ अंश को क्रियाव्यापार का सामान्य स्रोत मानकर उसे बीज कहा जाता है। बिन्दु नाट्यकथा के विकास का दूसरा सोपान है। कथावस्तु के प्रसारक तत्त्व के रूप में रहकर वह बीज को विस्तार और गति देता है। मुख्य कथा के समानांतर काफी दूर तक चलने वाली कथा पताका और कुछ ही दूर चलकर समाप्त हो जाने वाली कथा प्रकरी कहलाती है। पताका और प्रकरी को नाटक के क्रियाव्यापार का मुख्य अंग माना जाता है। कार्य ऐसी अर्थ प्रकृति है जो नाटक के मूल अभिप्राय के कारण का संकेत करती है। कार्य को फल का साधक भी माना जाता है। नाटककार के लिए सभी अर्थ प्रकृतियों का प्रयोग आवश्यक नहीं है। जो अर्थ प्रकृति प्रयोजन सिद्धि में सहायक नहीं होती, वह गौण हो जाती है।

इन्हीं के समान नाट्यशरीर की पाँच संधियाँ मानी गई हैं। मुख्य क्रियाव्यापार के विभिन्न चरणों की युक्ति ही संधि है। इन्हें नाटकीय क्रिया व्यापार के विभिन्न जोड़ भी माना जा सकता है। इसके पाँच भेद हैं - 'मुखसन्धि', 'प्रतिमुख सन्धि', 'गर्भसन्धि', 'विमर्श सन्धि', तथा 'निर्वहण सन्धि'। मुख्यसन्धि में नाटक के मुख्य विषय का परिचय मिलता है और कार्य का बीजवपन होता है। प्रतिमुख सन्धि में मुख सन्धि में प्रकट हुआ बीज कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य रूप में विकसित होता हुआ जान पड़ता है। यहाँ प्रयत्न नामक अवस्था और बिन्दु नामक अर्थ प्रकृति कार्य व्यापार को अग्रसर करती है। गर्भसंधि में कुछ-कुछ प्रकाशित बीज का बार-बार आविर्भाव, तिरोभाव, तथा अन्वेषण होता रहता है। इसमें प्राप्त्याशा अवस्था और पताका अर्थ प्रकृति रहती है। विमर्श संधि में नियताप्ति अवस्था और प्रकरी अर्थ का योग होता है। इसमें बीज का अधिक विस्तार होता है। यह एक ऐसी स्थिति है जिसमें फल की नियताप्ति और संशय दोनों की संभावना मानी गई है। इसमें फल

की प्राप्ति नियत होने पर भी विघ्न बहुलता का भाव रहता है। निर्वहण संधि के अंतर्गत कार्य का पूर्ण परिपाक होता है और नायक अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। इसमें फलागम अवस्था और कार्य अर्थ प्रकृति आती है।

पाँच संधियों को 64 संध्यंगों में विभक्त किया गया है। मुखसन्धि की (12) बारह संध्यंग स्वीकार की गई हैं - उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, विलोभन, परिभावना, उद्‌भेद, भेद तथा करण। प्रतिमुख संध्यगों का संख्या तेरह मानी गई हैं - विलास, परिसर्ग, विधूत, शम, नर्म, नर्मद्युति, प्रगमन, निरोध, पर्युपासन, वज्र, पुष्प, उपन्यास तथा वर्णसंहार। गर्भ संधि के बारह संध्यंग होते हैं - अभूताहरण, मार्ग, रूप, उदाहरण, क्रम, संग्रह, अनुमान, त्रोटक, अधिबल, उद्वेग, संभ्रम, आक्षेप; विमर्श सन्धि के तेरह संध्यंग निम्नलिखित हैं - अपवाद, सम्फेट, विद्रव, द्रव, शक्ति, द्युति, प्रसंग, हनन, व्यवसाय, विरोधन, प्ररोचना, विचलन, और आदान। अंत में निर्वहण संधि के चौदह संध्यंग ये हैं - संधि, विबोध, ग्रथन, निर्णय, परिभाषण, प्रसाद, आनंद, समय, वृत्ति, भाषा, उपगहन, पूर्वभाव, उपसंहार तथा प्रशस्ति।

संध्यंगों के संबंध में यह आवश्यक नहीं कि नाटक में इन 64 संध्यंगों का प्रयोग किया जाये। फिर भी इनपर ध्यान रखकर रचना करने से "कोई आवश्यक वस्तु छूट नहीं जाती, जिस वस्तु को छिपाना आवश्यक हो वह छिपा दी जाती है, जिसका प्रकाशित करना अभीष्ट हो उसको प्रकाश में लाया जाता है, रचना सुसङ्‌गठित हो जाती है जिससे दर्शकों का मन लगा रहता है, वस्तु चमत्कारपूर्ण बन जाती है और लेखक लापरवाही दिखा कर वृतान्त का अपक्षय नहीं करता।"[1]

---

1. डॉ. रामसागर त्रिपाठी - भारतीय नाट्‌यशास्त्र और रंगमंच - पृ. 24

जैसे पूर्व सूचित किया गया है कि दृश्य और सूच्य कथावस्तु के दो प्रकार है। दृश्य कथासूत्र अभिनय द्वारा मंच पर दिखाये जाते हैं। सूच्य कथासूत्रों की पात्रों के संवाद के द्वारा सूचना मात्र दी जाती है। ये सूचना देने वाले पात्र प्रायः अप्रधान होते हैं। इन कथासूत्रों के सूचना प्रकार 'अर्थोपक्षेपक' कहलाते हैं। इसके पाँच प्रकार हैं - विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अङ्कास्य और अङ्कावतार। मध्यश्रेणी के पात्रों द्वारा सूचना विष्कंभक कहलाती है और नीचपात्र द्वारा सूचना प्रवेशक। परदे के पीछे से सूचना देना चूलिका कहलाता है। अंक के अंत में किसी पात्र द्वारा अग्रिम अंक की सूचना अङ्कास्य कहलाती है। पहले अंक के पात्र ही किसी अग्रिम वस्तु की सूचना देकर स्वयं ही अग्रिम अंक के पात्र के रूप में इस प्रकार प्रस्तुत हो कि अग्रिम अंक भी उसी श्रृंखला में अविहत गति से चलता प्रतीत हो तो वह अंकावतार कहलाता है।

नाट्य प्रयोग की दृष्टि से कथावस्तु का विभाजन होता है। संपूर्ण कथा अंकों और दृश्यों में विभाजित की जाती है। दृश्य कथावस्तु की छोटी इकाई कहे जा सकते हैं। अंक में कई दृश्यों का सामंजस्य होता है। भरतमुनि ने अंक को भावों और रसों द्वारा काव्यार्थ का उद्दीपन करनेवाला बताते हुए कहा है कि जो अनेक विधानों से युक्त हो उसे अंक कहते हैं। कथावस्तु के उतने अंश को अंक कहा जाता है जितने में एक देशता हो, और रस-भावों से उपलक्षित अर्थों का हृदय में आरोपण होता हो।

भरतमुनि ने नाटक में अंकों की संख्या पाँच से दस तक मानी हैं। दृश्यों के संदर्भ में श्राव्य और अश्राव्य का भी उल्लेख किया गया है। अंक और दृश्य के अतिरिक्त गर्भाक, अंकुमुख, विष्कंभक, प्रवेशक, तूलिका, अंकावतार आदि दृश्य संरचनाओं का उल्लेख भी मिलता है। इस सारी संरचनात्मक पद्धति का लक्ष्य कथावस्तु के सम्यक् विकास को उद्घाटित करना है।

कथावस्तु का अंक विभाजन उद्घाटन संघर्ष और चरम की दृष्टि से अनिवार्य है। यह उसके प्रवाह, देश-काल के विस्तार और आकार-प्रकार को निर्धारित करता है। साथ ही वह आरोह-अवरोह, लय और गति में भी सहायक होता है। कथावस्तु के निर्धारित अंश को निर्धारित सीमा में समेटने की युक्ति के रूप में भी अंक और दृश्य का प्रयोग किया जाता है। किन्तु सभी नाटक न इस अंक-पद्धति पर रचे होते हैं और न कार्य की गति का सबमें समान उत्कर्ष होता है। अतः अंक और दृश्य की संरचना सर्वत्र एक जैसे विभाजन पर आधारित नहीं दिखाई देती।

नाट्य साहित्य में कथावस्तु का बहुत महत्त्व है। उसे नाटक की कच्ची सामग्री की संज्ञा दी जा सकती है। नाटककार मनोरम, नाट्य कृति प्रस्तुत करने के लिए वस्तु का उपादान करता है और अनेक पद्धतियों और संरचनात्मक तत्वों के सहारे उसे संजाता संवारता है। यदि वस्तु संवेद्य और हृद्य हुई तो नाटक के इतर तत्वों को भी हृद्य बनाना आसान हो जाता है। इस प्रकार नाटककार इन सबके समन्वय से उच्चकोटि की कृति प्रस्तुत करता है।

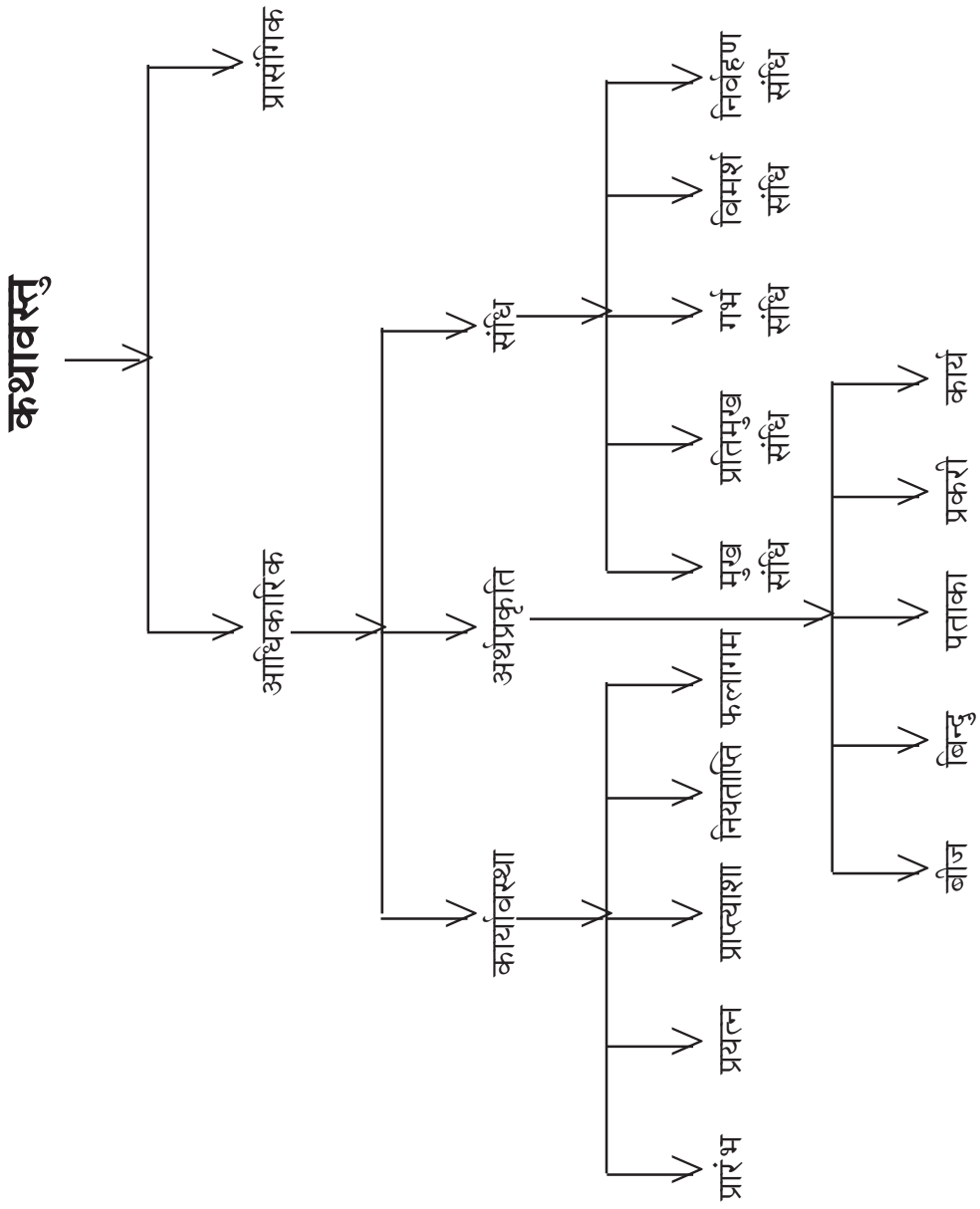
कथावस्तु
प्रासंगिक
आधिकारिक
कार्यावस्था
प्रारंभ
प्रयत्न
प्राप्त्याशा
नियताप्ति
फलागम
अर्थप्रकृति
बीज
बिन्दु
पताका
प्रकरी
कार्य
संधि
मुख संधि
प्रतिमुख संधि
गर्भ संधि
विमर्श संधि
निर्वहण संधि

पात्र एवं चरित्र चित्रण

कथावस्तु के उपरान्त नाटक का दूसरा अहम् तत्त्व पात्र अथवा नेता होता है। नाटक की नींव क्रिया-व्यापार के आधार पर निर्मित होती है और क्रिया-व्यापार पात्र का मुख्य व्यवहार कहा जा सकता है। यूँ तो क्रिया व्यापार निर्जीव होते हैं लेकिन पात्र के जीवन्त होने से क्रिया-व्यापार भी संवेदनों से परिपूर्ण बन जाते हैं। इस तरह मानव व्यवहार और क्रिया-व्यापार का कर्ता होने के कारण पात्र कथावस्तु की आधार सामग्री बनता है और कथावस्तु उसमें निहित कार्य और संवेदनों का चरित्रीकरण करती है।

पात्र का अर्थ होता है 'किसी वस्तु को पाने का अधिकारी व्यक्ति नाटक के संदर्भ में विशिष्ट व्यक्तित्व को धारण करने का अधिकारी व्यक्ति पात्र कहलाता है।' चरित्र तब बनता है जब वह बाह्य और अंतरंग रूप में दोनों स्तरों पर औरों से भिन्नता ग्रहण कर प्रकृति, आचार-व्यवहार तथा कार्य की निजता आर्जित कर लेता है। जब घटना और स्थितियों के बीच व्यक्तित्व की विशेषताओं क्रियाओं और भावों में पात्र व्याख्यायित होने लगते हैं तब वे चरित्र ग्रहण करते हैं। पात्र को चारित्रिक सार्थकता प्रदान करने के लिए आंतरिक जीवन के अहसास के साथ ही सामाजिक परिवेश और जीवन-संघर्ष में उसे रखना ज़रूरी है।

नाटक का प्रधान पात्र नायक अथवा नेता कहलाता है। नायक को नाट्यशास्त्र में प्रकृति के आधार पर चार प्रकार का माना गया है। ये चारों प्रकार के नायक 'धीर' तो होते ही हैं, इसके अतिरिक्त इनमें अपनी-अपनी प्रकृतिगत विशेषता पाई

जाती है। नायक का पहला प्रकार 'उदात्त' या 'धीरोदात्त' है। धीरोदात्त प्रकृति का नायक प्रायः राजा या राजकुलोत्पन्न होता है। वह निरभिमानी, अत्यंत गंभीर, क्षमाशील, स्वाभिमानी, आत्मप्रशंसा न करने वाला, अपनी बात का निर्वाह करने वाला, हर्ष, शोकादि से अप्रभावित रहने वाला होता है। धीरोदात्त नायक, नायक के संपूर्ण आदर्शों से युक्त होता है। नाटक का नायक इसी प्रकार का चुना जाता है।

ललित या धीरललित नायक का दूसरा प्रकार है। धीरललित नायक अधिकतर राजा होता है। परन्तु वे राजपाट की या दूसरी चिन्ताओं से मुक्त होता है। उसका राजकार्य मंत्री आदि सँभाले रहते हैं और वह अन्तःपुर की चहारदीवारी में प्रेमक्रीड़ा किया करता है। इस प्रकृति के अंतर्गत आनेवाले नायक कोमल स्वभाव, सुखान्वेषी, कलाविद् तथा निश्चिन्त प्रवृत्ति से संपन्न होते हैं।

तीसरे प्रकार के नायक है 'धीरप्रशान्त'। धीरप्रशान्त प्रकृति का नायक सामान्य गुणों से युक्त क्षत्रियेतर होता है। वह शान्त प्रकृति का होता है। चौथा और आखिरी प्रकार है 'धीरोद्धत'। धीरोद्धत नायक घमण्डी, ईर्ष्यापूर्ण, मायावी, चपल, अहंकार तथा दर्प से पूर्ण तथा आत्मश्लाघी होता है। इसे अपने बल तथा वैभव का बडा गर्व रहता है। यही कारण है कि वह उद्धत कहा जाता है।

नायक का एक दूसरे ढ़ंग का वर्गीकरण भी किया जाता है। यह वर्गीकरण उसके प्रेमव्यापार एवं तत्संबन्धी व्यवहार के अनुरूप होता है। प्रेम की अवस्था में नायक के दक्षिण, शठ, घृष्ट, तथा अनुकूल ये चार रूप देखे जा सकते हैं। ये रूप

अपनी परिणीत पत्नी के प्रति किये गए उसके व्यवहार में पाये जाते हैं। दक्षिण नायक एक से अधिक प्रियाओं को एक ही तरह से प्यार करता है। शठ नायक अपनी ज्येष्ठा नायिका के साथ बुरा बर्ताव तो नहीं करता, पर उससे छिप-छिप कर दूसरी नायिकाओं से प्रेम करता है। धृष्ट नायक धोखेबाज है, वह ज्येष्ठा नायिका की पर्वाह नहीं करता, कभी-कभी खुलेआम भी दूसरी नायिका-कनिष्ठा से प्रेम करता है। एक ही नायक में ये तीनों अवस्थाएँ मिल सकती है। अनुकूल नायक सदा एक ही नायिका के प्रति आसक्त रहता है। नाटक का प्रत्येक नेता इन प्रकारों में से किसी एक प्रकार का होता है। नायक के अंतर्गत आठ प्रकार के सात्विक गुणों की स्थिति होना आवश्यक हैं। ये गुण हैं - शोभा, विलास, माधुर्य, गांभीर्य, स्थैर्य, तेज, लालित्य और औदार्य।

नायक का शत्रु प्रतिनायक होता है। यह धीरोद्धत प्रकृति का होता है। नायक के सहायक या साथी पीठमर्द और पताकानायक कहलाता है। ये बुद्धिमान होते हैं तथा नायक से कुछ ही गुणों में न्यून रहता है। पीठमर्द सदा नायक की सहायता करता है। नायक के अन्य सहायक भी होते हैं। नायक के राजा होने पर राज्यकार्य तथा धर्मकार्य में उसके सहायक मन्त्री, सेनापति, पुरोहित आदि होते हैं। प्रेम के समय राजा या नायक के सहकारी विदूषक तथा विट् होते हैं।

विदूषक नाटक में हास्य तथा व्यंग्य की रचना कर नाटकीय मनोरंजन का साधन बनता है। लेकिन उसका कार्य इससे भी अधिक गंभीर है। वह राजा के अन्तःपुर का आलोचक भी बनकर आता है। कभी-कभी वह अपने संवाद में ऐसा संकेत करता है, जो उसकी तीक्ष्णबुद्धि का संकेत कर देता है, वैसे मोटे तौर पर

वह पटू तथा मूर्ख दिखाई पड़ता है। वह ब्राह्मण जाति का होता है, उसकी वेश-भूषा, चाल-ढाल, व्यवहार, तथा बातचीत का ढ़ंग हास्यजनक होता है। विदूषक राजा का विश्वास पात्र व्यक्ति होता है जिसे राजा अपनी गुप्त बातें भी बता देता है। विदूषक के अतिरिक्त विट भी राजा या नायक का नर्मसुहृत् होता है। विट किसी न किसी कला में प्रवीण होता है, तथा वेश्याओं के व्यवहारादि का पूरा जानकर होता है। दूत्, कुमार, प्राङ्विवाक आदि राजा के अन्य सहायक हैं जिनका प्रयोग नाटककार आवश्यकतानुसार करते हैं।

नाटक में जितना महत्त्व नायक का है, उतना ही महत्त्व नायिका का भी है। सर्वगुणसंपन्न नायक की प्रिया नायिका होती है। मौलिक रूप से, सभी आचार्यों ने नायिका के तीन भेद किये हैं - स्वकीया, परकीया और सामान्या। स्वकीया, नायक की स्वयं की परिणीता पत्नी होती है। परकीया किसी व्यक्ति की अनूढा कन्या हो सकती है या किसी की परिणीता पत्नी। सामान्या, सामान्य स्त्री या गणिका होती है। यह वर्गीकरण नायिका के नायक के साथ संबंध पर आधृत है।

दूसरे ढंग का वर्गीकरण एक ओर नायिका की उम्र और अवस्था, दूसरी ओर नायक के प्रतिकूलाचरण करने पर उसके प्रति नायिका के व्यवहार के आधार पर किया जाता है। अवस्था के अनुसार नायिका के तीन भेद हैं - मुग्धा, मध्या तथा प्रौढ़ा। मुग्धा नायिका में लज्जा का आधिक्य और उत्कण्ठा की कमी होती है। मध्या नायिका में लज्जा और उत्कण्ठा समान कोटि की होती है तथा प्रौढ़ा नायिका में लज्जा की कमी और उत्कण्ठा की अधिकता होती है।

सभी आचार्यों ने मध्या और प्रौढ़ा भेदों के तीन-तीन भेद स्वीकार किया है - धीरा, धीराधीरा और अधीर यदि नायिका प्रियतम से रुठ जाती है तो वह अपने क्रोध को कैसे अभिव्यक्त करती है और फिर किस प्रकार उसका मान दूर होता है, इन दो बातों के आधार पर ही ये भेद किए गए हैं। मध्या धीरा अपने क्रोध को वक्रोक्ति के द्वारा व्यक्त करती है, मध्याधीरा रोकर और अधीरा कठोर शब्द बोलकर प्रियतम के प्रति क्रोध का अभिव्यंजन करती है। प्रौढ़ा धीरा अपने क्रोध को छिपाकर प्रियतम के प्रति आदर प्रकट करते हुये क्रोध प्रकट करती है। प्रौढ़ धीराधीरा आक्षेप गर्भित शब्द बोल कर प्रिय को पीड़ित करती है और प्रौढ़ अधीरा प्रिय को पीटने लगती है।

नायिका की प्रेमगत दशा के वर्णन से संबद्ध उसके आठ प्रकार होते हैं - स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितप्रिया तथा अभिसारिका। स्वाधीनपतिका का नायक सर्वथा उसके अनुकूल होता है, जैसे वह उसके अधीन होता है। वासकसज्जा नायिका नायक के आने की राह में सजधज कर बैठी रहती है। विरहोत्कण्ठिता का नायक ठीक समय पर नहीं आता, अतः उसके हृदय में खलबली मची रहती है, आशा तथा निराशा का एक संघर्ष उसके दिल में रहता है। खण्डिता का नायक दूसरी स्त्री के साथ रात गुज़ार कर उसका अपराध करता है और प्रातः जब लौटता है तो परस्त्री संबंध के चिह्नों से युक्त होता है जिसे देखकर खण्डिता क्रुद्ध होती है। कलहान्तरित नायिका कलह के कारण प्रिय से वियुक्त हो जाती है, तथा गुस्से में आकर प्रिय का निरादर करती है। विप्रलब्ध नायिका संकेतस्थल पर प्रिय से मिलने जाती है पर प्रिय को नहीं पाती

वह प्रिय के द्वारा ठगी गई होती है। प्रोषिताप्रिया का प्रियतम विदेश गया होता है। अभिसारिका नायिका सजधजकर या तो स्वयं नायक से मिलने जाती है या दूती आदि के द्वारा उसे अपने पास बुला लेती है। इसके अतिरिक्त गुणों के आधार पर उत्तमा, मध्यमा और अधमा भेद किये गए हैं।

नायक के गुणों की भाँति नायिका में भी गुणों की गणना की गई है। नायिका में ये गुण अलंकार कहलाते हैं तथा उसकी संख्या बीस मानी गई है। ये हैं - भाव, हाव, हेला, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य, लीला, विलास, विच्छिति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विव्वोक, ललित तथा विह्रत। इनमें पहले तीन शारीरिक है, दूसरे सात अत्नज तथा बाकी दस स्वभावज हैं। नायिकाओं में राजा की पट्टरानी महादेवी कहलाती है। यह उच्चकुलोत्पन्न होती है। राजा के अन्तःपुर में कई सेवक होते हैं। कचुकी इनमें प्रधान होता है। यह प्रायः वृद्ध ब्राह्मण होता है। कंचुकी के अतिरिक्त यहाँ बौने, कुबड़े, नपुंसक, किरात आदि भी रहते हैं। अन्तःपुर में रानियों की कई सखियाँ, दासियाँ आदि भी वर्णित की जाती हैं।

नायक तथा नायिका के विविध व्यापारों को वृत्ति कहते हैं। वृत्तियाँ नायक-नायिका के चरित्रनिरूपण का ही एक सामान्य प्रयत्न हैं। भरत ने चार वृत्तियों की कल्पना की थी। वे चार वृत्तियाँ थीं - कौशिकी, सात्त्वती, आरभटी और भारती। भरत का अभिप्राय था कि नाटक का जन्म ही इन वृत्तियों से होता है। इनसे अलग नाटक रह ही नहीं सकता। जिस प्रकार नाटक के विभिन्न तत्वों का उद्गम वेदों से माना गया है उसी प्रकार वृत्तियों के उद्गम के विषय में भी यही मत

प्रचलित है कि ऋग्वेद से भारती वृत्ति का जन्म हुआ, यजुर्वेद से सात्त्वती वृत्ति का, सामवेद से कौशिकी का और अथर्ववेद से आरभटी का जन्म हुआ। किन्तु नाटक में इनके विनियोजन का क्रम भिन्न रहा।

वाणी के व्यापार को भारती वृत्ति की संज्ञा दी जाती है। वस्तुतः इस वृत्ति को शब्द वृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है, शेष तीन वृत्तियाँ अर्थवृत्तियाँ हैं। भारती वृत्ति का प्रयोग प्रस्तावना में विशेष रूप से होता है। प्रस्तावना का उद्देश्य नाट्यवस्तु की सूचना देकर दर्शक समाज को उन्मुख करना है। उसमें अभिनय का उतना अवसर नहीं रहता जितना वाणी द्वारा सूचना देने और कथोपकथन करने का। यह कथोपकथन अन्यत्र भी होता है, किन्तु वहाँ अभिनय की प्रधानता हो जाती है। इसीलिए भारती वृत्ति विशेष रूप से प्रस्तावना में ही स्वीकृत की जाती है। यह वृत्ति करुण तथा अद्भुत रसों में विशेष रूप से आती है - अन्य रसों में भी इसका प्रयोग हो सकता है। इसमें वाग्व्यापार की प्रधानता होती है। पुरुष इसका प्रयोग करते हैं स्त्रियों के लिए यह वर्जित होती है और इसमें संस्कृत पाठ्य रहता है प्राकृत इत्यादि नहीं।

भारतीवृत्ति के चार प्रकार माने गए हैं - प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख। प्ररोचना का अर्थ है नाटककार की प्रशंसाकर दर्शकों और पाठकों को उन्मुख करना। वीथी और प्रहसन रूपक के विशेष भेद हैं, इनका उपयोग नाटक के प्रस्तावना भाग में भी किया जाता है जिसमें कला का आस्वादन करते हुए परिशीलक नाट्यवस्तु को प्राप्त करते हैं। भारती का चौथा प्रकार है - 'आमुख'। इसे प्रस्तावना

भी कहा जाता है। इसमें सूत्रधार या तो नटी से बात करता है या विदूषक से और इस प्रकार मुख्य कथावस्तु के पात्र प्रवेश में कारण होता है।

ऐसा अभिनय सात्त्वती वृत्ति के अन्तर्गत आता है जिसमें किसी प्रकार के मनोभाव की अभिव्यक्ति हो। सात्विक, वाचिक और आंगिक अभिनय के द्वारा मनोभाव को अभिव्यक्त करने में सात्त्वती वृत्ति होती है। इसका प्रयोग उग्र रसों में अधिक होता है कोमल रसों में कम। वीर, रौद्र, अद्‌भुत रसों के यह अनुकूल पड़ती है। श्रृंगार, करुण इत्यादि में भी इसका प्रयोग किया जा सकता है। इसका मुख्य विषय न्यायोचित संग्राम है। शोक इसका विरोधी है। इसीलिये इस वृत्ति को शोकवृत्ति कहा गया है। इसमें हर्ष की प्रधानता रहती है।

कौशिकी कोमल वृत्ति है और श्रृंगरिक चेष्टाओं में इसका विशेष प्रयोग होता है। श्रृंगार रस की सभी चेष्टायें इसके अन्तर्गत आती है जिनमें संयोग और वियोग दोनों प्रकार के श्रृंगार आ जाते हैं। इसमें मानस, कायिक और वाचिक तीनों प्रकार के व्यापारों का उपादान होता है। आचार्य भरत ने कौशिकी के चार प्रकार बतलाये हैं - नर्म, नर्मस्फूर्ज, नर्मस्फोट और नर्मगर्म। नर्म का अर्थ है परिहास वचन जिससे प्रिय का अभिमुखीकरण हो। यह नर्म तीन प्रकार का होता है - केवल हास्य, सश्रृंगार हास्य और सभयहास्य। नर्मस्फूर्ज में नायक-नायिका का प्रथम मिलन सुखपूर्वक होता है किन्तु बाद में दूसरों के जान लेने का भय उत्पन्न हो जाता है।

आर अर्थात् चाकू के समान योद्धा जिसमें होते हैं उसे आरभेटी वृत्ति कहा जाता है। इसमें योद्धाओं के सभी प्रकार के छल कपट, असत्य, व्यवहार, अनेक

प्रकार के युद्ध, धोखेबाजी, इन्द्रजाल, पुतली इत्यादि का प्रयोग छेद्यमेद्य इत्यादि का ग्रहण होता है। इस वृत्ति में तीखे योद्धाओं के गुणों का प्रयोग होता है और इसमें अनेक प्रकार की वंचनायें और कपट भरे रहते हैं। इसमें खिलौने इत्यादि जाली चीज़े दिखलाई जाती है। गिरना, कूदना, नदी इत्यादि को पार करना, जादू की चीज़ों और इन्द्रजाल आदि का दिखलाया जाना और युद्ध के अनेक रूप सम्मिलित होते हैं। भरत ने इस वृत्ति के भी चार भेद किये हैं - 'संक्षिप्तक', 'अवपातक', 'वस्तूत्थान', और संफेट।

भारती वृत्ति में संवाद की प्रधानता होती है। कौशिकी में संगीत की प्रधानता होती है, सात्त्वती में चरित्र की प्रधानता होती है और आरभटी में संघर्ष की प्रधानता होती है। वृत्तियों के प्रयोग में अनुपात का ध्यान आवश्यक है। भारती वृत्ति की अधिकता से नाटक पाठ्य जैसा बन जाता है। कौशिकी की अधिकता कथानक प्रवाह में विच्छेद उत्पन्न कर सकती हैं। सात्त्वती वृत्ति का आवश्यकता से अधिक प्रयोग दर्शकों में वितृष्णा उत्पन्न कर देता है। आरभटी से त्रास का उदय होता है। इसलिए आरभटी प्रधान नाटकों में यथानुरूप नृत्यगान अपेक्षित होते हैं।

आज के नाटकों के चरित्रों के संबंध में भी यहाँ विचार करना संगत होगा। आज अनेक श्रेणियों, सामाजिक स्थितियों और मनोवैज्ञानिक विशेषताओं से युक्त चरित्र नाटकों में जीवन के परिचायक बन गए हैं। इसलिए उनकी संख्या और स्वरूप में अत्यंत विस्तार आ गया है। नायक और खलनायक की संकल्पना अब सत्-असत् से जुड़कर नहीं रह गई। अब चरित्रों को ठोस स्थिर गुण-दोषों के रूपों में देखना समाप्त हो चला है। इसका एक कारण यह है कि सत् और असत् को

पुनः परिभाषित किया जा रहा है जिसमें चरित्र को वैयक्तिक दायित्व और नियति से मुक्त किया गया है। 'यथार्थवाद' की प्रतिक्रिया में ऐसे चरित्र मान्य हुए जो यथार्थ जीवन से सीधे गृहीत माने जाते हैं। "चरित्र जितने ही यथार्थ और मनोवैज्ञानिक होंगे, उतने ही वे दर्शक को आकृष्ट करेंगे।"[1]

आज की विषम परिस्थितियों के अनुरूप नाटकीय चरित्र खंडित धूमिल और विरोधीभासी हो गए हैं और इसी कारण वे वैचित्र्य को प्रकट करते हैं, किन्तु वे अविश्वसनीय नहीं कहे जा सकते क्योंकि वे जीवन के किसी कोण विशेष से प्रस्तुत किये होते हैं और नाटक के आंतरिक सत्य के किसी अंश को उजागर करते हैं। वह युग बीत गया है जब चरित्र ठोस और सुसंगत होते थे और उनका अध्ययन सत्-असत्, जीवन-मूल्यों, विश्वसनीयता, और मनोविज्ञान के आधार पर होता था। आज चरित्र का आधार नाट्य पाठ होने के कारण वे उसी के अस्तित्व में आते हैं और उसी की अर्थवत्ता से अर्थ ग्रहण करते हैं। किन्तु इसके बावजूद भी उनका अस्तित्व तब तक सार्थकता नहीं अर्जित करता जब तक प्रेक्षक चेतना में उसे ग्रहण नहीं करता। "नाटकीय चरित्र वैयक्तिकरण के बावजूद भी वर्गीय रूप में पूर्णता का बोध कराते हैं। चरित्रों को हम संसार में व्यक्तियों के लिए निर्धारित प्रतिमानों से ही नापते और जानते हैं। किन्तु वे वास्तविक व्यक्ति नहीं प्रतीक मात्र होते हैं।"[2]

---

1. डॉ. चन्द्र - नाट्य चिन्तन : नये संदर्भ - पृ. 27
2. गोविन्द चातक - नाटक की साहित्यिक संरचना - पृ. 108

चरित्र अर्थपूर्ण और सुनिर्धारित संदर्भों और कार्यों पर अवलंबित होता है। इसीलिए वह नाटक के अन्य तत्वों की भांति व्यवस्थाबद्ध होता है। वस्तु इसी के अधीन रहकर नाट्योपयोगी होते हैं। पात्रों के चयन में जितनी कुशलता दिखलाई जाती है उतनी ही अभिनय सफल सिद्ध होता है। उचित पात्रों के माध्यम से प्रस्तुत की जाने वाली वस्तु में स्वाभाविकता भी आती है और मनोरमता भी। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि नाटकीय तत्वों में पात्र तथा चरित्र-चित्रण का अत्यंत महत्त्व है।

नायक के प्रकार

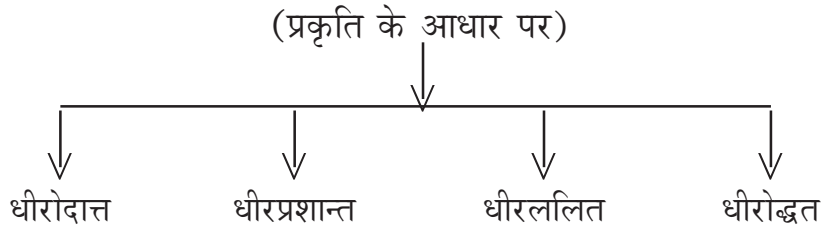

नायिका के प्रकार

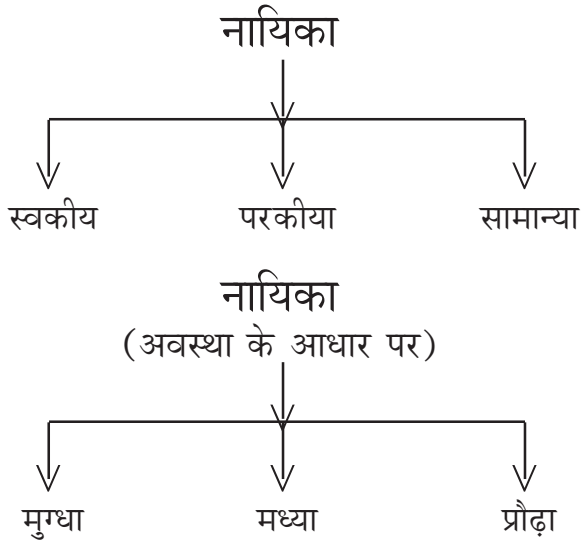

संवाद

पात्रों के पारस्परिक वार्तालाप को संवाद अथवा कथोपकथन की संज्ञा दी जाती है। नाटक में अभिव्यक्ति का माध्यम मनुष्य है। बिना उसके अभिनय के नाटक पूर्ण नहीं होता। अभिनेता के पास अभिव्यक्ति के अनेक साधन होते हैं। जिनमें से एक है वाचिक, और यह वाचिक साधन ही संवाद है जिसे नाटककार लिखित रूप में अभिनेता को देता है। नाटक का समस्त चमत्कार संवाद में ही निहित होता है। संवादों से ही नाटक में रोचकता आती है और इसी कारण इसमें स्वाभाविकता का होना अत्यंत आवश्यक है।

संवाद ही नाटक का शरीर है - इसी में नाटक की आत्मा स्थित रहती है। इसके द्वारा नाटक का कथानक गतिशील होता है। निस्संदेह इसी से नाटक मुखरित होता है। इस दृष्टि से नाटक के विभिन्न तत्वों का अध्ययन संवादों के माध्यम से उत्कृष्ट बनता है। कथानक और चरित्र का अस्तित्व संवाद पर निर्भर है। इसके द्वारा पात्रों के चरित्र, घटना, देशकाल, भाषा और पात्रों की मनःस्थितियों पर प्रकाश पड़ता है। संवाद नाटक के कथाविकास और चरित्रांकन में पूर्णतः योग देता है। वह नाटक की परिवर्तित स्थितियों एवं चरित्रों के साथ चलता है।

संवाद नाटक की शक्ति है। वह अपने में साध्य नहीं, साधन है। किसी भी स्थिति में संवाद को प्रयोजनमूलक होना चाहिए। चरित्रों से उनका जन्म होता है और चरित्रों को उन्हें प्रकाशित करना चाहिए; स्थितियों से वे उभरते हैं और उन्हें स्थितियों के अनुरूप होना चाहिए। इसीलिए प्रसंग, परिस्थिति, पात्रानुरूपता संवाद के गुण हैं। संवाद को सहज बोधगम्य एवं संप्रेषणीय होना चाहिए।

भारतीय आचार्यों ने संवाद के तीन भेद किये हैं - सर्वश्राव्य, नियतश्राव्य, और स्वगत कथन। सर्वश्राव्य, वे कथन होते हैं जिन्हें सभी सुन सकते हैं। नियतश्राव्य, वे कथन जो निश्चित पात्रों के ही सुनने के लिये होते हैं। स्वगत कथन पात्र अपने आप से कहते हैं। अन्तर्द्वन्द्व आन्तरिक प्रवृत्तियों तथा मन में छिपे हुए रहस्यों को प्रकट करने के लिए नाटक में स्वगत कथनों की योजना की जाती है।

जैसे-जैसे नाट्यपद्धतियाँ बदलती गई वैसे-वैसे संवाद के स्वरूप भी बदलते गये। इसी कारण किसी भी समय के नाटक में संवाद के अनेक रूप देखे जा सकते हैं। वास्तव में यह नाटक की समृद्धि का सूचक है। समय जो भी हो, संवाद का महत्व प्रयोजन-सिद्धि की उनकी क्षमता पर ही निर्भर है। नाटक विशेषतः

संवाद के तीन प्रकार

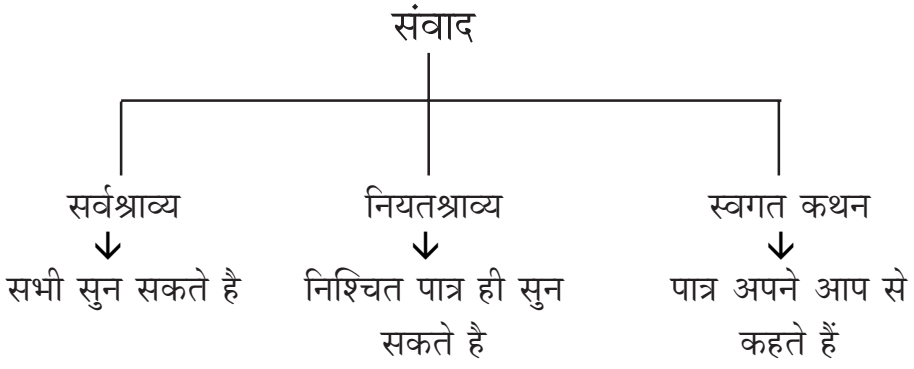

संवाद रूप होती है। नाट्य भाषा मूलतः संवादों पर आधारित होती है। एक तरह से संवाद भाषिक संरचना होते हैं। "वे ऐसे प्रकार्यों की भाषिक संरचना होते हैं जो अभिव्यक्तिपरक लक्ष्यों पर व्याकरणिक संबंधों पर निर्भर करती है।"[1]

---

1. गोविन्द चातक - नाटक की साहित्यिक संरचना - पृ. 125

संवादों के अनेक प्रकार्य होते हैं जो उनको विभिन्न चेष्टाओं और अभिप्रायों से जोड़ते हैं। संवादों के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रकार्य ये हैं - सम्प्रेषण, सूचना देना, शिष्टाचार प्रकट करना, वक्तव्य देना, आघात पहुँचाना, संघर्ष की स्थिति पैदा करना, आत्मीयता जताना, दूसरे की बात का खण्डन-मंडन करना आदि। ये सामान्य प्रकार्य हैं जिनका उपयोग अधिकांश नाटकों में किया जाता है। इस दृष्टि से नाटक में प्रयुक्त कोरस, स्वगत, आकाश भाषित, नेपथ्य, सूत्रधार तथा विदूषक आदि के संवाद को रूढ़ि के रूप में स्वीकार किया गया और वे शैली विशेष के रूप में ढल गए।

आधुनिक नाटककारों ने इन संवाद प्रयोगों को प्रकार्यों से जोड़कर उसे नए कलाबोध से संपन्न किया। इसीलिए कभी हास्यास्पद समझा जानेवाला स्वगत और कोरस की वापसी आज दृष्टव्य है। आधुनिक नाटक ऐसे संवादीय प्रयोग भी विकसित करने में लगा है जो सामान्य कोटि के संवादों को सोद्देश्य प्रकार्यों और शैलीय संरचनाओं से जोड़कर उन्हें विलक्षण अर्थवत्ता प्रदान कर रहे हैं। बहुत से मामूली, व्यर्थ लगने वाले औपचारिक संवाद आज के नाटकों में उतने व्यर्थ नहीं लगते। आज नाटककार विभिन्न प्रभावों के लिए हास्य-व्यंग्य, विडम्बना, फैंटसी, रूपक आदि कई नये प्रयोग कर रहे हैं।

आज नाटककार सीधी-सपाट संवाद का प्रयोग नहीं करते। आज संवाद विश्रृंखलित और अर्थ के स्तर पर अनजुड़े से प्रतीत होते हैं। ऐसा लगता है कि उनमें कोई क्रम नहीं है लेकिन जब पूरी नाट्य संरचना को देखा जाये तब वे परस्पर जुड़कर अर्थ की समग्रता पैदा करते हैं। आज नाटक का ढांचा बहुत हद तक संवाद

पर निर्भर हो गया है। इसी कारण आज उनको समग्र अभिकल्प के रूप में देखने की प्रवृत्ति बढ़ी है।

कथावस्तु को आगे बढ़ाते हुए, पात्रों की चारित्रिक विशिष्टताओं को रेखांकित करते हुए, देश-काल का सही अहसास प्रदान करते हुए संवाद अपनी पूरी बनावट में ही अपने को अर्थपूर्ण सिद्ध करता है। वस्तुतः संवाद नाटक के समग्र अर्थतंतु को प्रकट करते हुए नाटक के समग्र प्रभाव का द्योतक होता है।

देशकाल एवं वातावरण

नाटक की पृष्ठभूमि के निर्माण का अभिन्न अंग है 'देशकाल एवं वातावरण'। प्रत्येक देश और काल का वातावरण मनुष्य को अस्पष्ट रूप में प्रभावित करता है। प्रत्येक की तत्सामायिक एवं प्रादेशिक भावना तथा आचार-विचार परोक्ष रूप में उसे विशेषता प्रदान करते हैं। इसी को देशकाल एवं जाति जनित संस्कार कहते हैं जो मानव को जन्म लेते ही उत्तराधिकार रूप में प्राप्त होते हैं।

देश से तात्पर्य स्थान-विशेष; काल से तात्पर्य भूत, वर्तमान आदि समय विशेष और वातावरण से तात्पर्य विशेष प्रकार की सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि जीवन मूल्यों से संबंध रखने वाली परिस्थितियों और पर्यावरण से है। दो दृष्टियों से नाटक में देशकाल का बड़ा महत्त्व है, एक तो कथावस्तु को प्रामाणिक बनाने के लिए और दूसरे पात्रों के वास्तविक चरित्र चित्रण के लिए।

नाटक में स्वाभाविकता के लिए पात्रों की वेशभूषा, पारिस्थितियाँ, आचार-विचार, खान-पान, व्यवहार आदि युगानुरूप होने चाहिए। पात्रों के विविध और विशेष प्रकार की अवस्थाओं, विश्वासों आदि सभी का चित्रण करना इसी तत्त्व के अन्तर्गत आता है। नाटक का वर्ण्य-विषय अर्थात् घटनाएं आदि जिस देश और काल में घटित हुई थी उस समय का समग्र वातावरण कैसा था, इनका चित्रण ही देशकाल वातावरण का चित्रण है। सामाजिक, राजनीतिक, और धार्मिक परिस्थितियों के सजीव चित्रण से वातावरण को बल मिलता है। ऐतिहासिक नाटकों में तो इसका महत्त्व और बढ़ जाता है क्योंकि इसी के द्वारा उनमें सजीवता एवं स्वाभाविकता आती है। यह नाटक का एक अनुपेक्षणीय तत्त्व है, इसमें कोई संदेह नहीं।

नाटक लोक जीवन की अनुकृति है और इस अनुकरण में वास्तविकता का भ्रम पैदा करने के लिए देश काल और वातावरण का विधान आवश्यक है। जिस कालखण्ड एवं जिस स्थान की घटनाएँ नाटक में चित्रित की जाएँ, उसके अनुरूप वातावरण के निर्माण एवं सांस्कृतिक परम्पराओं के संयोजन से निश्चय ही नाट्य प्रभाव की सृष्टि में सहायता मिलती है। जितना सजीव, सरस एवं यथार्थ, देशकाल और वातावरण का चित्रण होगा उतना ही वह नाटक सफल सिद्ध होगा। इन सारी बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि देश-काल का तत्त्व नाटक में आद्यंय व्याप्त रहता है।

भाषा एवं शैली

नाटककार का भाव या विचार उनकी अभिव्यक्ति के द्वारा ही प्रेक्षक की अनुभूति का विषय होता है। उनके पास भाषा अपनी सजीव शक्ति के साथ

अभिव्यक्ति के उपकरण के रूप में प्रस्तुत होते हैं। नाटक की भाषा का कार्य भावों को विचारों में परिणत करना है। भाषा के माध्यम से भावों को अभिव्यक्ति का रूप देना है। विचारों में परिणत होने के कारण ही भाव प्रेषणीय होते हैं। वस्तुतः नाटक को रूपायित करने वाला तत्त्व भाषा ही है। इसके द्वारा ही नाटक का ढांचा खड़ा किया जाता है। इसके माध्यम से नाटककार एक ओर उसकी बाह्य संरचना को रूपायित करता है दूसरी ओर वह आंतरिक संरचना जो भावों, विचारों और मनःस्थितियों का भी गठन करता है।

नाटक की भाषा नाटक के विभिन्न अवयवों और उपादानों के अंतःसंबंधों पर निर्भर करती है। अपने को गढ़ने की प्रक्रिया में वह कथावस्तु, चरित्र स्थिति, वातावरण, भाव, विचार आदि को भी गढ़ती है। इसी में नाटक का स्वरूप निर्मित होता है। इस तरह नाट्य भाषा को कथावस्तु, चरित्र, स्थिति, भाव, विचार आदि कई तत्वों से एक साथ जुड़कर कई प्रकार्य पूरे करने पड़ते हैं। इसलिए कहीं वह सूचनापरक होती है तो कहीं तर्कपरक, कहीं भावात्मक तो कहीं सेकतपरक। अतः नाटक की भाषा में एक समग्र अर्थ को टुकड़ों में नहीं खोजा जा सकता।

नाटक की कथावस्तु और उसकी भाषा का संबंध चिरस्थायी है। इसमें संदेह नहीं कि कथ्य की भिन्नता नाटकों की भाषा को निर्धारित करती दिखाई देती है। पात्र का चरित्र अथवा व्यक्तित्व जैसे होता है वह उसकी भाषा द्वारा व्यक्त होता है। इस दृष्टि से भाषा का झुकाव पूर्णता की ओर होता है। नाटक अपनी प्रकृति के अनुसार ही भाषा का इस्तेमाल करता है। नाटक की भाषा सोद्देश्य भाषा होती है जो कथावस्तु और चरित्र की अपेक्षाओं को पूरा करती है।

नाटक में भाषा की मुख्य भूमिका संवाद के रूप में होती है। नाटक के संवाद विशिष्ट और प्रयोजनमूलक होते हैं। नाटक के संवाद का लक्ष्य कथावस्तु, घटना, पात्र, देश-काल आदि का सम्यक ज्ञान कराना है। इसलिए संवाद को नाटक की भाषा माना जाता है। वस्तुत संवाद श्रोता एवं वक्ता की मानसिक अवधारणा, दृष्टिकोण अथवा वैचारिक समझ को जानने का विशेष साधन है। इसलिए नाटक की भाषा के रूप में संवाद मात्र दो या दो से अधिक व्यक्तियों का वार्तालाप नहीं बल्कि वक्ता जो सम्प्रेषित करना चाहता है उसको उसमें निहित अर्थवत्ता के साथ समझने का कार्य है।

नाटक की भाषा रंगमंचीय होती है। जब पूरी नाट्य कृति रंगानुभूति के साथ रची गई हो और उसकी भाषा क्रिया, गति, पात्र, चेष्टा और जीवन छवियों से जुड़कर ऐसा रंग-रूप धारण करे जो देखा, सुना और अनुभूत किया जा सके, तभी नाटक की भाषा रंगमंचीय बनती है। इसी संदर्भ में वह ऐसी जीवन्त वाक् घटना का रूप धारण करती है जो वर्तमान में घटित और तात्कालिक होती है। इस दृष्टि से नाटक की भाषा श्रव्य, दृश्य और क्रिया तीनों होती है।

क्रिया नाटक की भाषा का महत्त्वपूर्ण अंग है। नाटक का क्रिया-व्यापार संवादों की सृष्टि करता है और उन्हें यथेष्ट आंगिक चेष्टा, भाव और यहाँ तक कि संपूर्ण नाटक को अर्थवत्ता भी प्रदान करता है। इसीलिए नाटक की प्रत्येक क्रिया का भाव से संपृक्त होना आवश्यक है। नाटक की भाषा को जीवन्त बनाने में भाव और क्रिया का योग सहायक होता है। भाषा का यही रूप मंच पर सबसे अधिक प्रभावशाली होता है।

नाटककार अपनी जीवन अनुभूतियों को अत्यंत आकर्षक, रमणीय एवं प्रभावात्मक ढ़ंग से अभिव्यक्त करना चाहता है जिससे उसकी वाणी जन-जन के हृदय में एक सुरक्षित स्थान पार सके। इसके लिए वह अपनी भावात्मक, ज्ञानात्मक एवं काल्पनिक शक्तियों के प्रयोग द्वारा अभिव्यंजना के जिन विविध स्वरूपों का निर्माण करता है वे ही 'शैली' नाम से अभिहित होते हैं। नाटककार अपनी शैली को मनोरम बनाने के लिए वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली आदि रीतियों, ओज, माधुर्य और प्रसाद नामक गुणों, अभिधा, लक्षणा, व्यंजना नामक शब्दशक्तियों, मुहावरों एवं लोकोक्तियों का यथास्थान प्रयोग करता हुआ अपनी भावाभिव्यक्ति के प्रति सजग-सचेष्ट रहता है। विषयानुसार शैली के स्वरूपों का परिवर्तित होना स्वाभाविक है। इसीलिये कहीं सरस शैली, कहीं अलंकृत शैली, कहीं उक्ति प्रधान शैली आदि का स्वरूप प्राप्त होता है।

नाटक की साहित्यिक शैली के समान उसकी रंग शैली भी महत्त्वपूर्ण है। जब नाटक के अनुरूप ही रंग-शैली अपनाई जाती है और रंग-शैली, शिल्प और विधा को एक प्रक्रिया में बांध लिया जाता है तब नाटक वास्तविक कला रूप ग्रहण करता है। इसी संदर्भ में निर्देशक की महत्ता भी प्रकट होती है। अतः भाषा शैली का नाटक की प्रस्तुति में यह प्रभाव बनाना ज़रूरी है जो प्रेक्षक को अभिभूत करे। वस्तुतः नाटक की भाषिक संरचना और शैली नाटक के पूरे ढांचे का आधारभूत अंग है। इससे नाटक की रचना प्रक्रिया का ही पता नहीं चलता बल्कि नाटक के विभिन्न अवयवों के अंतः संबंधों की पहचान भी भली भांति प्राप्त होती है।

उद्देश्य

साहित्य का सृजन क्यों होता है? साहित्यकार रचनाओं के माध्यम से क्या कहना चाहते हैं? जितना सरल यह सवाल है उतना ही जटिल इसका उत्तर है। साहित्य का सृजन समाज को परिलक्षित करके किया जाता है। समसामायिक परिस्थितियाँ साहित्यकार पर अपना प्रभाव डालती है और उन परिस्थितियों के प्रति साहित्यकार के मन में कुछ विशिष्ट प्रतिक्रिया होती है, यही प्रतिक्रिया साहित्य-सृजन को हेतु है। साहित्य, भावनात्मक स्तर पर व्यक्ति का संस्कार करता है और समसामयिक स्थिति से उसका साक्षात्कार कराकर, आगे बढने की प्रेरणा देता है। साहित्य व्यक्ति को मानवीय रूप में देखने का पक्षधर है।

नाटक साहित्य की विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण विधा है। इसका कारण यह है कि नाटक की प्रभावोत्पादक शक्ति साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक स्थायी, गहरी और व्यापक होती है क्योंकि दर्शक-समुदाय नाटक को मंच पर घटित होते देखता है और नाटक विभिन्न स्तर के व्यक्तियों को एक साथ प्रभावित करता है। नाटक मानवीय यथार्थ से गहरे रूप में संबद्ध रहता है। इसमें मानव जाति की रक्षा का भाव रहता है। अतः इसका मौलिक उद्देश्य दर्शक को आनन्द प्रदान करना और जीवन संबंधी शिक्षा देना। नाटक, लोकहित तथा लोकरंजन के उद्देश्य को लिए हुए, शिक्षित-अशिक्षित सबका समान रूप से मनोरंजन करने के साथ-साथ किसी विचार विशेष अर्थात् सामाजिक, धार्मिक अथवा राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का प्रदर्शन भी करता है।

प्राचीन भारतीय नाटकों में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में से किसी एक या सब की प्राप्ति नाटक का उद्देश्य माना जाता था। आज यह दृष्टिकोण बदल गया है। आज नाटक के उद्देश्य के रूप में जीवन से संबंध रखने वाली समस्याओं के समाधान एवं उत्तर को खोजना स्वीकार किये गए हैं। ऐसा करते हुए दर्शक का मनोरंजन भी करना चाहिए। निस्संदेह नाटक का अंतिम लक्ष्य पाठक-दर्शक है और उनकी दृष्टि से हर एक नाटक से किसी सुनिश्चित प्रभाव की अपेक्षा रहती है जिसे हम रस कह सकते हैं। इस दृष्टि से रसानन्द ही नाटक का चरम लक्ष्य है किन्तु इसके साथ नाटककार के संदेश का समाहार भी उद्देश्य के अन्तर्गत है इसे समझाना नाटककार के लिए कठिन कार्य है क्योंकि उन्हें अपने कथ्य को ध्वनित रूप से पाठकों-दर्शकों तक सम्प्रेषित करना पड़ता है।

रस

साहित्य में रस तत्त्व को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। साहित्य के पठन, श्रवण, या दर्शन से जिस आनन्द को अनुभव सामाजिकों को होता है, वही आनन्द 'रस' कहलाता है। रस-निष्पत्ति के सर्वोत्कृष्ट माध्यम के रूप में नाटक का प्रतिष्ठापन हुआ है क्योंकि इसमें सभी स्तरों के लोगों को एक साथ आनन्द प्राप्त करने का अवसर उपलब्ध होता है। इस परिपूर्णता के कारण ही अन्य विधाओं की अपेक्षा नाट्य लेखन को सामाजिकों पर प्रभाव डालने की क्षमता अधिक होता है।

नाट्य कला के तीन आयाम मान सकते हैं। इसके एक छोर पर नाटककार है तो दूसरी ओर अभिनेता अथवा सूत्रधार और तीसरी ओर दर्शक या प्रेक्षक। जब

इन तीनों आयामों का ध्यान रखा जाये तभी कला के रूप में नाटक की सफलता सुनिश्चित हो सकती है। नाटक का प्रमुख लक्ष्य दर्शक या प्रेक्षक के हृदय में रसानुभूति कराना है। नाटक में नटों का यही उद्देश्य है कि उनके अभिनय द्वारा दर्शकों में रसोद्बोध हो। वस्तुतः अभिनेताओं द्वारा रंगमंच पर स्थायी भाव का विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों से समन्वित स्वरूप और फिर उसके आस्वादन से सामाजिक के मन में उत्पन्न आनन्द को रस की 'संज्ञा' से अभिहित किया जाता है।

रस के संबंध में सर्वप्रथम अधिकारिक रूप से विचार करने का श्रेय आचार्य भरतमुनि को है। उनके अनुसार पाठ्य, गीत, अभिनय और रस नाटक के चार अहम् तत्त्व है। इनमें प्रथम तीन साधक तत्त्व हैं और रस साध्य तत्त्व। उनकी दृष्टि में रस नाटक का सर्वोपरि महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इसके महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए ही उन्होंने लिखा, "विभाव, अनुभाव, और संचारी भावों के योग से रस की निष्पत्ति होती है।"[1]

भाव सभी सामाजिकों के हृदय में रहते हैं और अनुकूल आलम्बन पाकर जाग्रत हो जाते हैं। ये अन्त तक अवस्थित रहने से इन्हें स्थायी भाव कहते है। इन्हीं में रस के अंकुरण की मूल शक्ति निहित होती है। नाट्यशास्त्रियों ने इसके आठ भेद किए हैं - रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, और विस्मय। ये क्रमशः

---

1. "तत्र रसानेव तावदादावभिव्याख्यास्यामः
न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।
तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पात्तिः।"32
रघुवंश - भरत का नाट्यशास्त्र - पृ. 274

श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स तथा अद्‌भुत रस के स्थायी भाव है। इन स्थायी भावों में से किसी एक को नाटककार मूलवर्ती भाव के रूप में चुन सकता है। इन भावों को प्रकट करने का कार्य विभाव करते हैं। दूसरे शब्दों में कहे तो, विभाव के द्वारा भाव को वाणी प्राप्त होती है।

लोक में जो-जो पदार्थ लौकिक रति, हास आदि भावों के उद्‌बोधक हुआ करते हैं वे ही नाटक में प्रस्तुत होने पर विभाव कहे जाते हैं। आलम्बन और उद्‌दीपन विभाव के दो भेद है। प्रायः नाटक में नायक और नायिका दोनों ही आलम्बन है नायक को आश्रय कहा जाता है और नायिका को आलम्बन रूप में स्वीकृत किया जाता है। इस दृष्टि से आलम्बन के दो भेद हुए - आलम्बन और आश्रय। इन्हें आलम्बन इसलिए कहते हैं क्योंकि इन्हीं के सहारे दर्शक के हृदय में रस-संचार होता है।

उद्‌दीपन विभाव उन्हें कहते हैं जो आश्रय के मन में जागृत स्थायी भाव को उद्‌दीप्त कर दें और फलस्वरूप रस को उद्‌दीप्त करने में सहायक हो। ये भी दो प्रकार के हैं - आलम्बन की चेष्टाएँ और देश, काल आदि। प्रत्येक रस के उद्‌दीपन अलग-अलग होते हैं।

आश्रय के हृदय में स्थायी भाव के जागृत हो जाने के उपरान्त कुछ अस्थिर चित्तवृत्तियाँ उत्पन्न हुआ करती है। इन चित्तवृत्तियों को व्यभिचारी भाव कहते हैं। स्थायी भाव के अन्तर्गत समुद्र में लहरों की भांति व्यभिचारी भाव उतरने और डूबते रहते हैं। अपनी अस्थायी प्रकृति के कारण ही ये व्यभिचारी या संचारी

कहलाते हैं। इनके कारण स्थायी भाव और अधिक उद्‌बुद्ध हो जाता है। इनकी संख्या 33 है। प्रत्येक रस के लिए संचारी भावों की अलग-अलग संख्या निर्धारित है।

आश्रय के हृदय में उद्‌बुद्ध स्थायी भाव को बाहर प्रकाशित करने वाले उसके अंग-व्यापार जैसे कटाक्ष आदि अनुभव कहलाते हैं। भाव के उपरान्त उत्पन्न होने के कारण ये अनुभव कहलाते हैं। इन अनुभावों में भी कुछ ऐसे हैं जिनका संबंध अंग से कम और मन से अधिक है, इसलिए ये सत्व के योग के बिना उत्पन्न ही नहीं हो सकते। इनके लिए अलग से नाम है - सात्विक भाव। इनकी संख्या आठ हैं - स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वर भंग, कम्प, विवर्णता, अश्रु और प्रलय।

स्थायी भाव के संयोग में उपर्युक्त विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव और व्यभिचारी भाव का चित्रण देखकर दर्शक का स्थायी भाव जागृत होकर रस-रूप में परिवर्तित हो जाता है। रस नाटक में नहीं होता। समस्त नाट्‌य लेखन की कसौटी इस रस की निष्पत्ति ही है। रंगमंच पर अभिनीत होकर नाटक इस कसौटी पर खरा उतरता है। वस्तुतः नाटक का चरम उद्‌देश्य रस-निष्पत्ति ही है।

नाटकों का प्रधान रस एक ही होना चाहिए। वह अंगी रस है। अंग के रूप में अन्य रस आ सकते हैं। ऐसे अनेक रसों के कुशल मिश्रण से नाटक का सौन्दर्य बढ़ता है। नाटक के सभी तत्वों के उचित सामंजस्य से रस या आनन्द की प्राप्ति होती है।

भरतमुनि का स्पष्ट मत है कि नाट्‌य रस का आस्वादन प्रेक्षक करता है। इस संबंध में भरत के परवर्ती आचार्यों ने भी अपने-अपने मत स्थापित किये हैं।

अभिनवगुप्त ने पात्र को एक साधन माना है। अतः उससे रस की आस्वाद्यता का कोई संबंध नहीं। इस मत के प्रतिपादन में उन्होंने साधन और साध्य की धारणा को व्यक्त करते हुए कहा है कि साधनों का महत्त्व साध्य की प्राप्ति में कम नहीं है, फिर भी साधन-साध्य की श्रेणी प्राप्त नहीं कर सकते। अतः नट पात्र है और प्रेक्षक उस नट की प्रस्तुति का रसास्वादन है। भट्टलोल्लट ने भरत के मत का आधार लेकर अपने मत को स्पष्ट करते हुए अनुकार्य और अनुकर्ता में भी रस का आस्वादन स्वीकार किया है। धनंजय ने भी भट्ट लोल्लट की धारणा का समर्थन करते हुए नट की रस-आस्वाद्यता में विश्वास व्यक्त किया है।

मानव भावों की जीवन्त मूर्ति है। भावों से जीवन की जैवी क्रियाएँ चलती है और इनके अभिनय से ही रस या आनन्द का अनुभव होता है। अभिनय में भावों, विभावों, संचारी भावों का एक साथ संयोग होता है और दर्शक इससे आनन्द का अनुभव करता है। अतः इस बात पर नाटकों में रस-दृष्टि की सफलता निर्भर करती है।

अभिनय तथा उसके प्रकार

दृश्यकाव्य की पूर्ण सफलता रंगमंच पर होती है। रंगमंच पर अभिनय ही उसे पूर्णता प्रदान करता है। वस्तुतः रंगमंच पर अभिनय की दृष्टि से ही नाटक की सफलता मापी जानी चाहिए। अतः अभिनय नाटक का अनिवार्य अंग है। अभिनय नाटक के प्रायोगिक पक्ष से संबंधित तत्त्व है। यह प्रवृत्तिमूलक कला है। "अभिनय

शब्द 'अभि' पूर्वक 'नी' धातु से बना है जिसका अर्थ है किसी तत्त्व को सामने लाना।"[1]

लौकिक जीवन की वास्तविक परिस्थितियों पर आधारित किसी वस्तु को विभिन्न शारीरिक चेष्टाओं, वचनों, हाव-भावों द्वारा, दर्शकों को रसास्वादन कराने के लिए, इस रूप में प्रस्तुत किया जाता है कि उसमें एक सौन्दर्य उत्पन्न हो जाता है और दर्शकों को अपनी ओर आकर्षित करते हुए उनको रसास्वादन कराने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है। इस तरह का प्रस्तुतिकरण अभिनय कहलाता है क्योंकि वह किसी वस्तु को सामने लाता है। अभिनय की सफलता दो बातों पर निर्भर है। एक तो उसका प्रस्तुतिकरण इस रूप में हो कि दर्शक उसे लौकिक जीवन का प्रतिरूप समझे और दूसरा लौकिक जीवन की अपेक्षा उसमें सुन्दरता अधिक हो। अभिनय में, इसलिए नटों को स्वाभाविकता के साथ सौन्दर्य का भी ध्यान रखना पडता है। अभिनय के कारण ही दर्शकों को नाटक वास्तविक प्रतीत होते हैं।

आचार्य भरतमुनि ने अभिनय पर विस्तार से विवेचन किया है। उन्होंने अभिनय के चार प्रकार माने हैं - आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक। आंगिक अभिनय में अंगों के भिन्न-भिन्न प्रकार के संचालन-प्रसंग विशेष में क्रियाएँ बताई गई हैं। इसमें विभिन्न अंगों द्वारा भाव प्रदर्शन किया जाता है। इसमें भाव-भंगिमाओं, विभिन्न मुद्राओं द्वारार रसोद्‌भव कराया जाता है। भरतमुनि ने इसके 3 भेद किये - शरीर, मुखज और चेष्टाकृत। इसके 6 अंग माने गये हैं - सर, हाथ, छांती, पार्श्व,

---

1. डॉ. रामसागर त्रिपाठी - भारतीय नाट्यशास्त्र और रंगमंच - पृ. 188

कमर और पैर। साथ ही 6 उपांग भी माने गये हैं - नेत्र, भौं, नासिका, अधर, कपोल और चिवुक।

वाचिक अभिनय में उच्चारण, यति. गति आदि से रसोद्रेक होता है। वाणी का अभिनय भी आशिक अभिनय को स्पष्टता देता है। अतः अभिनेता को स्वरादि का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। इसमें काव्य के सभी गुण, अलंकार इत्यादि का समावेश होता है साथी ही उसमें उच्चारण विधि और भाषा का प्रयोग भी सम्मिलित हैं। समस्त काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त वाचिक अभिनय में ही शामिल किये गए हैं।

आहार्य अभिनय में वेशभूषा तथा अन्य सज्जा संबंधी विधियाँ बताई गई हैं। इसमें वेशभूषा आदि के द्वारा पात्रों की परिस्थिति, उनके मनोभाव आदि की व्यंजना की जाती है। इसमें उपयुक्त वेश-विन्यास एवं परिधान आदि द्वारा दर्शकों को मूल-स्थिति एवं वातावरण में पहुँचाने का प्रयास किया जाता है। सात्विक अभिनय में भावाभिव्यंजना की प्रमुखता रहती है। इसका संबंध भावों से है। स्तंभ, स्वेद, रोमांच, कम्प, अश्रु आदि द्वारा भावों की अभिव्यक्ति इसके अंतर्गत आती है। शुद्ध मन को सत्व कहा जाता है और उससे उत्पन्न शारीरिक अनुभावों को सात्विक की संज्ञा प्राप्त होती हैं।

अभिनय मुख्यतः भावों पर ही अवलंबित रहता है। उत्तम और स्वाभाविक अभिनय से रंगमंच की समृद्धि बढ़ती है। मानव को जीने की कला से जोड़ने का श्रेय अभिनय को है। गंभीर अभिनय से ज़िन्दगी की समझ बढ़ती है, लोगों के व्यवहारों और मानसिकताओं की परतें खुलती है। वस्तुतः अभिनय दैनिक जीवन

के आम अनुभवों से, भावावेशों से, क्रिया-प्रतिक्रिया से और आशा-निराशा से जुड़ा है। नाटक के कथ्य को पूर्ण प्रभाववत्ता के साथ दर्शकों तक पहुँचाना ही अभिनय का मूल उद्देश्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति निर्देशक और नटों के सहयोग से पूर्णता हासिल करते हैं।

नाटक वह दृश्य काव्य है जिसमें लौकिक जीवन के खंड या समग्र बोध की रसाश्रित अभिनयात्मक अभिव्यक्ति होती है। यहाँ इसके निर्माण में सहायक बिन्दुओं पर विचार किया गया है। इसके लिए आचार्यों द्वारा प्रतिपादित तत्वों का भी विश्लेषण किया गया है। नाटक को रूप देने में शास्त्रीय एवं प्रायोगिक तत्वों का समान महत्त्व है। शास्त्रीय पक्ष में वस्तु, चरित्र-चित्रण, रस आदि तत्त्व आते हैं। प्रायोगिक पक्ष में अभिनय, गीत आदि विधियाँ आती हैं। इनमें से प्रत्येक तत्त्व अपने-अपने ढ़ंग से नाटक के सृजन और उसकी पूर्णता में योग देते हैं। सभी तत्वों का समान रूप से सामंजस्य होने पर ही एक सफल नाट्यकृति साकार होती है, फिर भी विविध तत्त्वों के सम्मेलन से नाटककार का चरम लक्ष्य रस या आनन्द की सृष्टि करना है और इस दृष्टि से रस तत्त्व की सत्ता स्वयं सिद्ध होती है।

खण्ड-'ख'
पाश्चात्य नाट्य चिन्तन पद्धति

नाटक की उत्पत्ति एवं तत्संबंधी पाश्चात्य मान्यताएँ

अरस्तू की नाटक संबंधी मान्यताएँ

पाश्चात्य नाट्य साहित्य का उद्भव सर्वप्रथम यूनान में हुआ। यहाँ की नाट्यशास्त्रीय चर्चा के संदर्भ में अरस्तू का नाम सर्वप्रथम आता है। बहुमुखी प्रतिभा के धनी अरस्तू को ही इस क्षेत्र में आद्याचार्य माना जाना चाहिए। पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में उनका वही स्थान है जो भारत में भरतमुनि का। अरस्तू ने अनुकरण की सहज वृत्ति को ही नाट्य सृजन की मौलिक प्रेरणा माना है। इसी आधार पर उन्होंने कला के मूल सूत्र के रूप में अनुकरण सिद्धान्त को स्थापित किया।

अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्र से संबंधित ग्रंथ में कहीं भी नाटक की परिभाषा नहीं दी। उन्होंने मूलतः नाटक के दो प्रकार माने हैं - त्रासदी और कॉमदी। नाटक के संदर्भ में उन्होंने इन्हीं की व्याख्या प्रस्तुत की है। इन व्याख्याओं में प्राप्त संकेतों के आधार पर स्पष्ट होता है कि उनके अनुसार नाटक में सजीव मानव के कार्य-व्यापार का प्रदर्शन रहता है और नाटक कार्य-व्यापार के रूप में एवं रंग-विधान के संदर्भ में प्रस्तुत होता है। वस्तुतः उन्होंने यह स्पष्ट बताया कि रंग-विधान नाटक को काव्य के अन्य प्रकारों से भिन्न सिद्ध करता है।

त्रासदी की परिभाषा करते हुए अरस्तू का कथन है कि "'त्रासदी' किसी गंभीर, स्वतः पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है

जिसका माध्यम नाटक के भिन्न-भिन्न भागों, भिन्न-भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भाषा होती है, जो समाख्यान के रूप में न होकर कार्य व्यापार रूप में होती है और जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।"[1] इस परिभाषा से यह व्यक्त होता है कि अरस्तू ने कार्य-विशेष की अनुकृति को त्रासदी माना है। त्रासदी में जीवन का गंभीर और महत्त्वपूर्ण पक्ष प्रस्तुत किया जाता है।

इसी संदर्भ में अरस्तू ने विरेचन सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया है। उनकी मान्यता है कि त्रासदी पहले हमारे मन में संस्कार रूप में स्थित घृणा, द्वेष, भय आदि की भावनाओं को उत्तेजित कर उद्वेलित कर देता है और फिर विरेचन की प्रक्रिया के अनुसार उसका निष्कासन कर देता है। त्रासद के पढ़ने से भय तथा करुणा का रेचन हो जाने पर मनुष्य शुद्ध स्वार्थ से ऊपर उठ जाता है। स्वार्थ की भावना के साथ ही दुःख का भाव भी तिरोहित हो जाता है और पाठक को कलात्मक आनन्द की अनुभूति होती है।

इस तरह त्रासदी करुण रस को निष्पन्न करनेवाला नाट्यरूप है। इसका चरम लक्ष्य मानव मन में आनन्दानुभूति पैदा करना है। इसका ध्येय तो जीवन को गंभीरता से परखना है। अतः इसका संपूर्ण वातावरण गांभीर्य से ओत-प्रोत होना चाहिए। गांभीर्य के साथ ही अत्यंत कलात्मकता से त्रासदीय कार्य-व्यापारों की योजना की जाती है जिसके द्वारा मानवीय मन मे करुणा उद्‌बुद्ध होती है। मनुष्य

---

1. डॉ. रामसागर त्रिपाठी - भारतीय नाट्यशास्त्र और रंगमंच - पृ. 32

के अंतःकरण में सात्विकता की ज्योति जगाने वाली यही करुणा है। यही सात्विकता मनुष्य के व्यक्तित्व को श्रद्धान्वित बनाने वाला संस्थापक तत्त्व है। इसी विशिष्टता के कारण पाश्चात्य देशों में नाट्य रूप का उच्चतम उत्कर्ष त्रासदी में देखा जाता है।

अरस्तू ने कॉमदी को कम महत्त्व दिया है और इसी कारण इसका अतिसंक्षिप्त विवरण ही प्राप्त होता है। कॉमदी में जीवन के हास्यात्मक अंगों का अनुकरण होता है कॉमदी जीवन की सामान्य घटनाओं और समस्याओं को प्रस्तुत करते हैं और हास्य-व्यंग्य द्वारा मनोरंजन की सृष्टि करते हैं। कॉमदी की व्याख्या करते हुए अरस्तू ने स्पष्ट बताया है कि कॉमदी कुरूपता तथा असंगति का ऐसा निरूपण है जिसमें पीड़ा का अंश तनिक भी नहीं रहता। कॉमदी जीवन के आमोद-प्रमोदमय हर्ष-उल्लासमय, सुख और हास्यानुभूति देने वाली कृति है। कॉमदी यथार्थ जीवन की अपेक्षा मनुष्य के किसी हीनतर जीवन को प्रस्तुत करता है। इसलिए चरित्र यहाँ व्यक्तिगत न रहकर वर्गगत हो जाते हैं। इसलिए अन्य काव्याधारों की अपेक्षा कामदी आम आदमी के अनुभूति के अधिक निकट होता है और इस अर्थ में उसके साथ जनरुचि जुड़ी होती है।

यद्यपि अरस्तू ने नाटक के संबंध में विस्तार से विचार न किया हो, रंगमंच के संबंध की अनिवार्यता को स्वीकार नहीं किया हो तदापि नाटक के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों पर उन्होंने अत्यंत सारगर्भित और मूल्यवान मत अभिव्यक्त किये हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत शाश्वत और सार्वभौम है। उनकी चिन्तन प्रणाली वैज्ञानिक और ठोस तथ्यों पर आधृत है। अनेक सीमाओं के

बावजूद भी नाटक के मूलभूत सूत्रों के प्रथम उद्‌गाता के रूप में अरस्तू का स्थान हमेशा शीर्षस्थ ही रहेगा।

अरस्तू के बाद पाश्चात्य चिंतन परम्परा में नाट्‌यशास्त्र पर विचार करने वाले शास्त्रज्ञों में होरेस का स्थान मूर्धन्य है जिनपर हम आगे विचार करेंगे।

होरेस की नाटक संबंधी मान्यताएँ

पाश्चात्य नाट्‌याचार्यों में अरस्तू के उपरान्त होरेस का नाम लिया जाता है। ये रोम के प्रसिद्ध कवि और चिन्तक थे। इन्हें मूलतः परम्परावादी आलोचक कहा जाता है। इन्होंने अपनी विवेचना में प्रायः अरस्तू का ही अनुकरण किया है। 'आर्स पोयटिका' इनकी साहित्य चिन्तन से संबंधित चर्चित ग्रंथ है। अपने समय में उपलब्ध समस्त महत्त्वपूर्ण विचारों को उन्होंने अत्यंत वैज्ञानिक और सुलझी हुई रीति से प्रस्तुत किया है।

नाट्‌यशास्त्र को होरेस का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान है 'औचित्य सिद्धान्त।' उन्होंने नाट्‌य रचना में संतुलन और औचित्य को अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। उन्होंने पात्रों के चरित्र-चित्रण पर अधिक ज़ोर दिया है। होरेस यह स्वीकार करते हैं कि नाटक के नायक में उच्च मानवीय शील गुणों का समावेश होना चाहिए। नाटक के अन्य पात्र भी कल्पना, परिस्थिति, आदि में अनुकूल होने चाहिए। इनका औचित्य सिद्धान्त पात्रों और परिस्थितियों की इसी अनुकूलता का विश्लेषण करता है।

कथानक के वर्णन के साथ होरेस प्रभाव ऐक्य को भी प्रमुखता देते हैं। इनके अनुसार प्रत्येक नाटककार को परम्परा का पालन करना चाहिए। नाटक का जो चित्र जनसाधारण के दिमाग में है, उसी का अनुसरण नाटककार को करना चाहिए, उससे भिन्न चित्र प्रस्तुत करना उचित नहीं। इन्होंने अपने ग्रंथ में रंगमंच की व्यावहारिकता पर विचार व्यक्त किया है। इन्होंने स्पष्ट कहा है कि मंच पर वर्ज्य दृश्यों को दर्शित नहीं करना चाहिए और जब तक अनिवार्य न हो देवताओं को मंच पर उपस्थित नहीं किया जाना चाहिए। इन्होंने ही पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में यह विधान बनाया कि नाटक में पाँच अंक होने चाहिए।

इनके कहने का ढंग अनूठा था। इसलिए प्रायः 18 वीं शती तक पाश्चात्य देशों में इनके नाट्य सिद्धान्तों के अनुसार ही नाटकों की रचना होती रही। उनके विचारों में मौलिकता का अभाव है और वे नये प्रयोगों के कटु विरोधी थे। इस कारण उस काल के साहित्य में वैविध्य तथा नवीनता का अवरोध हो गया और नाटककार रूढ़ियों के अंधानुकरण में संलग्न हो गये।

इन आचार्यों के नाट्य चिन्तनों पर अध्ययन करने के उपरान्त आगे नाटक के सैद्धान्तिक पक्ष पर विचार करना उचित होगा।

नाटक के मौलिक तत्त्व

कथानक अथवा वस्तु

पाश्चात्य नाट्यचिन्तन के आदि आचार्य अरस्तू माने जाते हैं, फलतः नाटक के सैद्धान्तिक पक्ष पर भी अरस्तू ने ही सर्वप्रथम विचार किया था। उनका

यह विश्लेषण मूलतः त्रासदी के संदर्भ में किया गया है। भारतीय आचार्यों की भांति अरस्तू ने नाटक में कथानक को विशेष महत्त्व दिया है। उन्होंने इसके लिए प्लाट (Plot) शब्द का प्रयोग किया है। इस संबंध में वे लिखते हैं-

"नाटक मनुष्य का नहीं, किन्तु उसके जीवन की कृति का अनुकरण है। जीवन कृतिमय है। जीवन का अंतिम ध्येय उसकी विशेष प्रकार की कृति है, न कि उसका गुण। मानव चरित्र उसके गुणों से बनता है, परन्तु मनुष्य का सुख-दुःख उसकी कृति पर निर्भर है। अतः नाटक, चरित्र का अनुकरण नहीं करता, परन्तु कृति के अनुकरण के अन्तर्गत चरित्र का अनुकरण आ जाता है। इस कारण नाटक का अंतिम ध्येय कृति एवं कथानक है और अंतिम ध्येय यहीं महत्त्व की बात है।"[1]

इस परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि अरस्तू कथानक को ही नाटक का साध्य मानते हैं। वे मानते हैं, जीवन कार्य व्यापार का नाम हैं। व्यक्ति का सुख-दुःख कार्यों पर निर्भर करता है। व्यक्ति के चरित्र से उसके गुणों का ही निर्धारण होता है और नाट्य व्यापार का उद्देश्य कभी भी चरित्र की अभिव्यंजना नहीं है। चरित्र-चित्रण के बिना नाटक संभव है लेकिन वे स्पष्ट कहते हैं कथानक के या कार्य-व्यापार के बिना नाटक नहीं हो सकती।

वस्तुतः कथावस्तु कार्यव्यापार के अभिप्राय पर निर्भर करती है। इसी से कथा की झलक मिलती है। कथानक की अपनी एक तार्किक संगति और व्याकरण होता है। जो कथा-प्रवाह और विकास में एक क्रमबद्धकारी तत्त्व का कार्य करता

---

1. डॉ. गोविन्द दास - नाट्य-कला मीमांसा - पृ. 22

है। जिससे अर्थों की व्यवस्था होती है। यही कारण है कि कथावस्तु को नाटक के अन्य तत्वों में अग्रणी माना जाता है। अरस्तू ने इसे ही सर्वोपरि माना है। वास्तव में वे अन्य तत्वों को इसके अधीन ही स्वीकार करते हैं। उनके विचारानुसार घटनाओं का विन्यास ही मुख्य है।

कथानक के चयन के आधारों का विवेचन करते हुए उन्होंने इसके मुख्यतः तीन आधार स्वीकार किये हैं - दन्त कथा मूलक, कल्पना मूलक, इतिहास मूलक। इससे यह प्रतीत होता है कि अरस्तू के समय तक इतिहास तथा पुराण को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता था। कार्य-व्यापार के आधार पर उन्होंने कथानक के दो भेद स्वीकार किए हैं - सरल तथा जटिल। सरल कथानक वह है जिसका कार्य व्यापार अविच्छिन्न हो, तथा जिसमें स्थिति विपर्यय और अभिज्ञान के बिना ही भाग्य-परिवर्तन होता हो। जटिल कथानक का विकास अनेक घटनाओं के माध्यम से होता है अतः इसमें भाग्य परिवर्तन स्थिति विपर्यय के द्वारा ही होता है।

अरस्तू में कथानक के विवेचन करते हुए उसके प्रमुख अंगों पर प्रकाश डाला है, वे इस प्रकार हैं - उद्घाटन, अन्वेषण, आक्रमण बिन्दु, पूर्वछाया, संकट, चरम सीमा, संघर्ष, निर्वहण तथा स्थल, काल और कार्य की अन्विति। उद्घाटन नाटक को प्रारंभ करने की प्रक्रिया है जिसमें मूल प्रश्न, घटना और पात्र से परिचय किया जाता है। अन्वेषण में वर्तमान और भविष्य में होने वाली घटनाओं और मानवीय क्रिया कलापों का पर्दाफाश होता है। आक्रमण बिन्दु से वस्तुस्थिति में तनाव का आरंभ होता है। यही वह बिन्दु है जहाँ संतुलन बिगड जाता है और संघर्ष का बीज वपन होता है। पूर्वछाया के माध्यम से कार्य की भविष्य योजना के संकेत

उभारे जाते हैं। संकट की स्थिति कार्य की बाधा की सूचक होती है। यह उत्तरोत्तर जटिल होकर चरम पर पहुँचती है। चरम सीमा को संकट का नाटकीय क्षण कहा जाता है जो कथानक में निर्णायक भूमिका अदा करता है। संघर्ष और निर्वहण मिलकर घटनाओं की परिणति कराने में हाथ बटाते हैं।

अरस्तू के मुताबिक एक आदर्श कथानक में पूर्णता, एकता, संभाव्यता, कौतूहल, स्वाभाविकता जैसी विशेषताएँ होनी चाहिए। इसका उद्देश्य वास्तविक घटनाओं को सामाजिकों के सामने प्रस्तुत करते हुए यह बताना कि जीवन कैसा होता है और किन-किन परिस्थितियों के अंतर्गत मनुष्य कैसा आचरण करता है। यही नाटक के अगले तत्त्व का बीज है जोकि नेता या पात्र एवं चरित्र-चित्रण है।

नेता अथवा पात्र

वस्तु के समान ही नेता के संबंध में भी प्रामाणिक विवेचन करने का श्रेय अरस्तू को ही है। पात्र अथवा चरित्र वह है जिसमें कुछ नैतिक गुण दोष हैं तथा जो वर्गगत होता हुआ भी वैयक्तिक विशिष्टताओं से युक्त होता है। वस्तुतः वस्तु को चरित्रार्थ करने वाले पात्र ही चरित्र कहलाते हैं। चरित्र को व्याख्यायित करते हुए अरस्तू स्पष्ट करते हैं कि "चरित्र वह है जिसके बल पर हम अभिकर्ताओं में कुछ गुणों का आरोप करते हैं।"[1]

---

1. By character I mean that in virtue of which we ascribe certain qualities to the agents.
   S.H. Butcher - Aristotle's Theory of Poetry and Fine Arts - P. 25

अरस्तू ने चरित्र के आधारभूत गुणों पर भी अपना मत प्रकट किया है। इनमें सर्वप्रथम गुण के रूप में 'भद्रता' की गणना की जाती है। भद्रता का मापदण्ड उद्देश्य है। उद्देश्य के भद्र होने से चरित्र भी भद्र होगा। अरस्तू ने भद्र पात्र की योजना संभवतः इसलिए बनाई है कि भद्रपात्र पर विपत्ति दर्शकों के मन में सहानुभूति पैदा कर सकती है।

चरित्र का दूसरा प्रमुख गुण है 'औचित्य'। औचित्य से अरस्तू का अभिप्राय पात्र की प्रकृति तथा सामाजिक सत्ता के अनुरूप उसके चित्रण से है। उनके मतानुसार पुरुष पात्रों में पुरुषोचित और स्त्री पात्रों में स्त्रियोचित गुणों का ही आरोप होना चाहिए। इससे यह अर्थ निकलता है कि पात्रों की प्रकृति के अनुरूप ही उनमें गुणों का समावेश भी होना चाहिए।

चरित्र का तीसरा गुण वास्तविकता है। इसका तात्पर्य यह है कि चरित्र चित्रण यथार्थ जीवन के नर-नारियों के अनुरूप होने चाहिए तथा चरित्रांकन परम्परागत धारणाओं के अनुरूप होने चाहिए। पात्र जैसे जीवन में पाये जाते हैं उन्हीं के अनुरूप चरित्र चित्रण होना चाहिए। जिससे सजीव एवं विश्वसनीय प्रतीत हो।

चौथा गुण यह है कि चरित्र में एकरूपता होना चाहिए। एकरूपता का मूल भाव यह है कि प्रत्येक पात्र में कुछ विशिष्ट वैयक्तिक गुण होते हैं, पात्रों को उन्हीं गुणों के आधार पर आद्यन्त अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करनी चाहिए। चरित्र में एकरूपता का तात्पर्य यह नहीं है कि उसमें परिवर्तन वर्जित है। पात्रों के चरित्र में

परिवर्तन हो सकता है किन्तु मूल प्रकृति की परिधि पर विवेकपूर्ण ढ़ंग अपनाया जाना चाहिए।

चरित्र-चित्रण में सदैव संभाव्य को ही अपना लक्ष्य बनाना चाहिए। पात्र की अपनी प्रकृति के विपरीत बोलने से या कार्य करने से असंभाव्यता की स्थिति पैदा हो सकती है। पात्रों का सामान्य रूप में अंकन दर्शकों को पर्याप्त रूप में प्रभावित करने में असमर्थ हो सकता है। इसलिए अरस्तू इस बात पर बल देते हैं कि चरित्र चित्रण में यथार्थता का ध्यान रखते हुए भी सामान्य स्तर से ऊँचे व्यक्तियों का चित्र उपस्थित करना चाहिए। अर्थात् कलाकार अपनी कला के माध्यम से आदर्श और यथार्थ का समन्वय करके कल्पना और भावना के रंगों में रँगकर उसे ऐसा रूप प्रदान करें, जो यथार्थ के अनुरूप होता हुआ भी एक नवीन आकर्षण उत्पन्न करें।

कथोपकथन

प्राचीन पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में विचारतत्व के अन्तर्गत ही कथोपकथन को समाविष्ट किया गया था। इस युग में सबसे अधिक महत्त्व वस्तु को ही प्राप्त था। आधुनिक पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में कथोपकथन को नाटक का महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है क्योंकि कथावस्तु का विकास, पात्रों के चरित्र का परिचय, घात-प्रतिघात आदि के लिए इसी का सहारा लेना पड़ता है। इसके अभाव में नाटक के अधिकांश कार्य संभव नहीं हो सकते। इसको चरित्र की अभिव्यक्ति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन स्वीकार करते हैं।

वस्तुतः पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का पता उनके कथ से ही लगता है। कथोपकथन कहाँ तक चरित्र को प्रकाशित करने में सफल हुए हैं, यह नाटककार ध्यान में रखता है तथा दर्शक संवादों द्वारा इसका निर्धारण करते हैं। नाटककार अपने पात्रों द्वारा अपनी बातों को कहलाकर मानव चरित्र पर प्रकाश डालता है।

कथोपकथन की कुछ विशेषताएँ हैं जिनके द्वारा यह कार्य-व्यापार को अग्रसर करने में, चरित्रों को विकसित करने में सफल होता पाया गया है। स्पष्टता इनमें प्रमुख है जिसका तात्पर्य यह है कि कथोपकथन में शब्दों को इस प्रकार क्रम से रखा जाये कि वाक्य उलझे हुए न हो तथा भाव आपस में टकराने न पाये। कथा के विकास में सहयोग कथोपकथन की बड़ी विशेषता है। प्रत्येक कथोपकथन में कथा को कुछ गति मिलनी चाहिए, तभी नाटक की कथा धीरे-धीरे विकास को प्राप्त होकर एक निश्चित सीमा पर समाप्त हो जाती है। कथोपकथन की तीसरी विशेषता चरित्रों पर प्रकाश डालना तथा उनका विकास दिखलाना है। वह संवाद जो घटना मात्र को ही बताता है, शिथिल तथा सामान्य कोटि का कहा जायेगा। वस्तुतः कथोपकथन में उपरोक्त बातें प्रभावोत्पादकता एवं आकर्षण को जन्म देती हैं।

भारत के समान ही पाश्चात्य देशों में पात्रों के अन्तर्मन की बातों को दर्शकों तक पहुँचाने के लिए स्वगत कथन का प्रयोग किया जाता रहा है। पात्रों ने प्रत्येक कार्य क्यों किया और क्या किया आदि मानसिक चिन्ताओं को दूर करने के लिए स्वगत कथन का प्रयोग किया। प्रारंभ से लेकर आधुनिक काल तक पाश्चात्य नाटकों में नाटक का आरंभ स्वगत कथन द्वारा करने की प्रणाली सर्वप्रिय रही है क्योंकि इसके द्वारा नाटककारों को सरलता का अनुमान हुआ है।

उत्तरोत्तर कथोपकथन सजीव, स्वाभाविक, लघु, पात्रानुकूलता, परिस्थिति के अनुकूल, कथा को गति देनेवाला, चरित्र पर प्रकाश डालनेवाले तथा सामाजिक अवस्था का यथार्थ रूप दिखानेवाले अधिकाधिक सौष्ठव प्राप्त करते गये हैं।

संकलन-त्रय एवं देशकाल

पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में संकलन त्रय का विशेष महत्त्व है। पाश्चात्य आचार्यों ने संकलन त्रय को देशकाल का प्रमुख आधार माना है। पाश्चात्य आचार्यों ने देशकाल के संविधान पर विस्तार से विचार किया है और कार्य के साथ स्थान और काल के संकलनों की चर्चा की है। संकलन त्रय का तात्पर्य है - काल संकलन, स्थान संकलन, एवं कार्य संकलन।

मूलतः संकलन त्रय की चर्चा नाटक के कार्यव्यापार की अन्विति के संदर्भ में होती आ रही है। इससे समय स्थान और कार्य के संकलन अन्वितियों का अर्थ लिया जाता है। अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्र में इसका संकेत मात्र दिया है। जिसके आधार पर आगे चलकर इसका सिद्धान्त प्रचारित हुआ। अरस्तू के अनुसार कार्य-व्यापार की अन्विति त्रासदी के संदर्भ में अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात है। उनका विचार था कि कार्यव्यापार प्रारंभ से अंत तक सुसंबद्ध तथा सुसंगठित होना चाहिए।

काल संकलन के संदर्भ में चर्चा करते हुए अरस्तू कहते हैं कि त्रासदी को यथासंभव सूर्य की एक परिक्रमा या इससे कुछ अधिक सीमित रखने का प्रयत्न किया जाता है.....। इससे अरस्तू का तात्पर्य यही था कि कालाधिक्य के कारण दर्शकों को कथावस्तु में उलझने का अवसर न मिले। लेकिन आधुनिक युग में

नाटककारों ने इसमें परिवर्तन किया और दर्शकों को दस-बीस वर्षों की सीमा तक बढ़ने में कुछ अस्वाभाविकता नहीं हुई।

स्थल संकलन से तात्पर्य कथावस्तु एक ही स्थान पर घटित हुई हो। कार्य-व्यापार को क्रियान्वित करने वाले स्थान के संबंध में ध्यान देना चाहिए। आजकल यह नियम महत्त्वहीन हो गये। आज के दर्शक इतने विवेकशाली है कि वे रंगमंच की सीमाओं को समझते हैं और रंगमंच पर ही नाटक के द्वारा निर्दिष्ट स्थलों पर यातायात के प्रदर्शन की अपेक्षा नहीं रखते।

कार्य संकलन के संबंध में सभी आचार्य एकमत है। सभी इस नियम का उल्लंघन मुख्य कथावस्तु को विश्रृंखलित कर देना समझते हैं। कथानक को संपूर्ण कार्य-व्यापार का अनुकरण करना चाहिए और ऐसा करते हुए उसमें अंगों का संगठन सुगठित होने चाहिए। अगर एक अंग को भी अपनी जगह से इधर-उधर करें तो सर्वांग ही अस्त-व्यस्त हो जाए। वस्तुतः इसका नियम भी इस दृष्टि से निर्धारित किया गया कि आदि से अंत तक सारा अभिनय एक ही कार्य के संबंध में होना चाहिए।

देशकाल संकलन त्रय पर ही आधारित है। देशकाल की विशेष परिस्थितियों के अध्ययन में तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक परिस्थितियों का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। देश की सीमा की योजना नाटकों को विश्वसनीय और संभाव्य बनाए रखने के लिए की गई है। जिस देश और काल की घटना होती है, उसी के अनुरूप आचार-विचार, रीति-रिवाज़, व्यवहार आदि का सच्चा और

स्वाभाविक चित्र दर्शको के सामने उपस्थित करने का प्रयत्न आधुनिक नाटककारों की विशेषता है।

प्रारंभकालीन तथा समकालीन नाटकों में उपर्युक्त परिस्थितियों के अतिरिक्त वेश-भूषा, रीति-नीति, सभ्यता-संस्कृति, भाषा, संवाद, चरित्र-चित्रण, घटनाओं आदि के द्वारा देश-काल का सम्यक चित्र उपस्थित किया गया है। समकालीन नाटकों में देशकाल का सही अंकन प्रस्तुत करने के लिए नाटककारों ने बड़े लम्बे रंग-संकेत का विधान कर दिया है, जैसे प्रातःकाल, दोपहर, संध्या आदि यहाँ दृश्य के साथ वक्त का निर्देश है। वस्तुतः युग-सत्य की यथार्थ अभिव्यक्ति के लिए देशकाल सहायक होगा।

भाषा एवं शैली

पाश्चात्य आचार्यों ने अपने नाट्य सिद्धांतों में भाषा एवं शैली पर भी विचार किया है। भाषा भावों की अभिव्यंजक है। इस अभिव्यंजना में शैली के मिश्रण से एक प्रकार की सजीवता पैदा हो जाती है। "....भाषा का मूलाधार शब्द हैं, जिन्हें उपयुक्त रीति से प्रयुक्त करने के कौशल को ही शैली का मूल तत्त्व समझना चाहिए।"[1] इसका तात्पर्य यह है कि नाटक में रचना चमत्कार पर विशेष ध्यान रखा जाता है और यही रचना-चमत्कार शैली को जन्म देता है।

अरस्तू ने भाषा की स्वाभाविकता पर विशेष बल दिया है। अरस्तू का कथन है कि ट्रैजेडी की भाषा में अलंकृत का समन्वय होना चाहिए किन्तु अत्यधिक

---

1. डॉ. श्यामसुन्दर दास - साहित्यालोचना - पृ. 250

चमत्कार और वागाडम्बर चरित्र तथा विचार को उभरने नहीं देगे अतः भाषा सहज स्वाभाविक गुणों से युक्त होनी चाहिए। नाटक देखने के लिए शिक्षित अर्धशिक्षित जैसे कई स्तर के दर्शक उपस्थित रहते हैं, इस कारण उसमें क्लिष्ट एवं जटिल भाषा का प्रयोग नहीं होना चाहिए। भाषा पात्रों की मनोदशा एवं सामाजिक अवस्था के अनुकूल होनी चाहिए। उसमें सरल एवं प्रभावशाली भाषा का प्रयोग होना चाहिए। लंबे लंबे संभाषण या संवाद से कृत्रिमता पैदा होती है। वाक्य छोटे-छोटे होने चाहिए। अतः नाटक की भाषा वागाडम्बर से मुक्त उदात्त रूप का होना चाहिए।

जिस शैली में केवल प्रचलित या उपयुक्त शब्दों का प्रयोग होता है उसमें सबसे अधिक गुण होते हैं। औपचारिक शब्दों के प्रयोग से शैली प्रहेलिका बन जायेगी। भाषा के प्रसादत्व में सबसे अधिक सहायता शब्दों के संकोच, विस्तार और परिवर्तन से मिलती है। कभी-कभी प्रचलित मुहावरे में थोड़े परिवर्तन से भाषा में चमत्कार आ जायेगा साथ ही सामान्य प्रयोग के आंशिक अनुसरण से प्रसाद गुण भी बना रहेगा। स्पष्टता और औचित्य शैली के दो मूल गुण हैं। स्पष्टता के लिए प्रसाद गुण अनिवार्य है। औचित्य का ध्यान रखने से कथन में सत्यता स्पष्ट हो जाती है। वास्तव में शैली अभिव्यक्ति की एक रीति है परन्तु इसमें भाषा के सौन्दर्य का समावेश इसे और भी महत्वपूर्ण बना देता है और ये दोनों मिलकर नाटक के सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं।

संघर्ष

जहाँ भारतीय नाट्याचारों ने रस को नाटक का प्राण तत्त्व माना वहाँ पाश्चात्य आचार्यों ने संघर्ष को नाटक के प्राणतत्व के रूप में स्वीकार किया है।

अंग्रेज़ी में संघर्ष के लिए 'Conflict' शब्द का प्रयोग किया जाता है। अरस्तू ने त्रासदी के कथानक के अंतर्गत संघर्ष को अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। पाश्चात्य आचार्य यह स्वीकार करते हैं कि सभी नाटकों का उद्‌भव संघर्ष से ही होता है। संघर्ष के अभाव में वे नाट्‌यकृति की अस्मिता को स्वीकार नहीं करते।

मनुष्य में जीने की इच्छा प्रबल होती है। यह जीने की इच्छा मनुष्य को क्रियाशील बनाती है। क्रियाशील मनुष्य अपने जीवन में उद्‌देश्य युक्त क्रिया करता रहता है। उद्‌देश्य युक्त क्रिया मनुष्य को संघर्ष में प्रवृत्त कर देती है। मनुष्य अपने अस्तित्व के लिए भी संघर्ष करता है। यह संघर्ष ही मनुष्य के जीवन को सुंदर आकार प्रदान करता है। यही संघर्ष मनुष्य को अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ बनाता है। मनुष्य का अस्तित्व बनाये रखने के लिए जीवन में बाह्‌य तथा आंतरिक संघर्ष करता रहता है। इस पर ही मनुष्य का मनुष्यत्व और समाज-जीवन का महत्त्व आश्रित है। इसी संदर्भ में मनुष्य साहित्य का सृजन करता है। वह साहित्य में पात्र और उससे संबंधित कथानक के रूप में मनुष्य और उसके जीवन को महत्त्व का स्थान देता है। परिणामस्वरूप साहित्य में मानव और जीवन से संबद्ध संघर्ष को महत्त्वपूर्ण स्थान मिल जाता है। इससे संघर्ष साहित्य का महत्त्वपूर्ण तत्त्व बन जाता है, विशेषकर नाट्‌य साहित्य का।

नाटक में कथानक और पात्र के साथ संघर्ष का भी अन्योन्य संबंध होता है। कथानक चाहे पौराणिक हो, ऐतिहासिक अथवा काल्पनिक संघर्ष के बिना नाटक का रूप धारण नहीं कर सकता। नाट्‌य-विषय से भी संघर्ष का संबंध होता है। नाटककार व्यापक संघर्ष को नाट्‌य-विषय के रूप में अपनाता है और उसका

विश्लेषण करने हेतु किन्हीं पात्रों के संघर्ष को नाट्य कथा का रूप प्रदान करता है। नाटक अभिनेताओं के माध्यम से रंगमंच पर प्रस्तुत होता है और दर्शक वर्ग को एक साथ प्रभावित करता है। वह रंगमंच पर संघर्ष शील मनुष्य और उसके संघर्षमय जीवन की सहज प्रस्तुति कर देता है। फलस्वरूप संघर्ष नाटक की प्राणतत्व बन जाता है।

पाश्चात्य नाट्याचार्य के अनुसार ललित कला मानव मन की एक स्वाधीन कृति है और नाटक ललित कला के ही अंतर्गत है। इन नाट्य कृतियों का उद्देश्य उच्चकोटि का शुद्ध बौद्धिक आनन्द प्रदान करना है। पाश्चात्य आचार्यों ने संघर्ष को नाटक का प्राण माना है। उन्होंने कथानक को नाटक के अन्य तत्वों की अपेक्षा अधिक महत्त्व प्रदान किया है। उन्होंने आदर्श नाटक की कसौटी के रूप में संकलन-त्रय को प्रतिष्ठित किया। साथ ही इसके अंत में फल प्राप्ति अनिवार्य नहीं है।

निष्कर्ष

भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य चिन्तन पद्धति के अध्ययन करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों ही परंपराएँ एक दूसरे से भिन्न संस्कृतियों तथा भौगोलिक एवं ऐतिहासिक परिस्थितियों के बीच उत्पन्न तथा विकसित हुई है। दोनों ही परंपराएँ स्वतंत्र रूप से विकसित हुई फिर भी दोनों में पर्याप्त समानताएँ हैं। दोनों ही नाट्य परम्पराओं का प्रारंभिक विकास धार्मिक उत्सवों तथा विभिन्न पर्वों से संबंधित हैं। दोनों ने लोकरंजन के महत्त्व को स्वीकार किया है। दोनों के नायक उच्चकुलोद्भव महापुरुष होते थे। कथावस्तु को सुसंगठित रखने को अनिवार्यता

दोनों ने स्वीकार की है। स्वगत भाषण का प्रयोग दोनों में वर्तमान है। विदूषकों का अस्तित्व दोनों परम्पराओं में है।

एक तरफ समानताएँ हैं, तथा दूसरी तरफ असमानताएँ भी शामिल है। भारतीय नाट्यशास्त्र में रस का जो स्थान है पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में वह स्थान संघर्ष का है। भारतीय नाट्यशास्त्र में फल की प्राप्ति अनिवार्य है और फल का भोक्ता निश्चित रूप से नायक होता है लेकिन पाश्चात्य में ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं है। भारतीय नाट्यशास्त्र में नाटक की कथावस्तु ख्यात होने के संबंध में निर्देश दिया है। युद्ध, हत्या, मृत्यु, विप्लव आदि कई दृश्य भारतीय नाट्य चिन्तन के अनुसार वर्ज्य है। पाश्चात्य नाट्य शास्त्र में वर्जनीय बातें नहीं है। इन समानताओं और असमानताओं के मध्य ही हिन्दी नाट्य का पल्लव हुआ जिसे विकसित करने में जयशंकर प्रसाद और मोहन राकेश ने अहम भूमिका निभाई। इन्हीं नाटककारों पर तथा इनकी नाट्य कृतियों पर आगे सूक्ष्म और विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया जाएगा।

दूसरा अध्याय

जयशंकर प्रसाद के नाटकों का स्वरूप : भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य तत्त्वों के परिप्रेक्ष्य में

दूसरा अध्याय

जयशंकर प्रसाद के नाटकों का स्वरूप : भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य तत्त्वों के परिप्रेक्ष्य में

साराँश : प्रस्तुत अध्याय में हिन्दी नाट्य साहित्य को समृद्ध करने वाले जयशंकर प्रसाद द्वारा रचित संपूर्ण नाट्य कृतियों का नाटक के सैद्धान्तिक पक्ष के आधार पर विवेचन किया गया है : 'राज्यश्री', 'विशाख', 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'स्कन्दगुप्त', 'कामना', 'चन्द्रगुप्त' एवं 'ध्रुवस्वामिनी' नाटकों के अध्ययन के फलस्वरूप यह स्पष्ट होता है कि प्रसाद ने किसी एक नट्य परम्परा का आश्रय न लेकर भारतीय, पारसी, एवं शेक्सपियरीय परम्पराओं से प्रेरणा ग्रहण करते हुए अपना अलग मार्ग प्रशस्त किया है। उन्होंने हिन्दी नाट्य परम्परा को वस्तु की दृष्टि से ऐतिहासिकता का परिवेश प्रदान किया। इसके साथ ही उनकी नाट्य कृतियों में दार्शनिक एवं सांस्कृतिक विषयों को लेकर मानव की देशकाल निरपेक्ष मूल वृत्तियों का विश्लेषण भी उपलब्ध होता है। परम्परागत काल की कथा के आश्रय से राष्ट्रीयता के स्वर को मुखरित करने वाले प्रसाद के नाटकों में ध्वनित सत्य के संदेश का महत्व कालातीत है। प्रसाद द्वारा प्रयुक्त नाटकीय भाषा इसकी महत्ता को और बढ़ाती है। उनकी नाट्य शैली अत्यंत उदात्त है। अपने नाटकों में रस और द्वन्द्व का प्रयोग समान रूप से करके उन्होंने भारतीय रसवादी दृष्टि, पाश्चात्य संघर्ष और पारसी रंगतत्वों का सम्मिश्रण करते हुए प्रसादान्त कला की स्थापना की।

दूसरा अध्याय
जयशंकर प्रसाद के नाटकों का स्वरूप : भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य तत्त्वों के परिप्रेक्ष्य में

प्रस्तावना

नाटक संबंधी शास्त्रीय तत्त्वों के विश्लेषण के उपरान्त अब विस्तृत रूप से जयशंकर प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय विश्लेषण करेंगे। हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु द्वारा बोये गए नाटक रूपी बीज का प्रस्फुटन और पल्लवन जयशंकर प्रसाद द्वारा संपन्न हुआ। इस बात में कोई तर्क नहीं कि भारतेन्दु काल में जन्मे नाटक साहित्य को रूप सौन्दर्य और जीवन्त शक्ति प्रदान करनेवालों में प्रसाद ही अग्रणी हैं। नाट्य सृजन की जो परम्परा भारतेन्दु ने निर्धारित की थी उसे आगे ले जाने में सबसे अधिक प्रयास जयशंकर प्रसाद ने ही किया था। भारतेन्दु युगीन नाटकों की महत्ता इस बात में है कि उसमें सामाजिक जागरूकता, राजनीतिक चेतना एवं सांस्कृतिक परम्पराओं के संरक्षण के पद प्रस्तुत किये गए। इसके बावजूद इन नाटकों की सीमाएँ भी थी। वे आदर्श और सुधारवाद पर केन्द्रित होने के कारण अधिक व्यापक होने के बदले सीमित हो गई और फलतः नाट्य सृजन की गति मंद पड़ने लगी। इस मंद गति में बढ़ रही नाट्य परम्परा को जीवन्त बनाने का श्रेय एकमात्र जयशंकर प्रसाद को है। "प्रसाद ने उत्तराधिकार में अपने पूर्ववर्तियों के सब गुण-दोष पाये थे किन्तु उनके बीच भी उन्होंने एक स्वतंत्र मार्ग को प्रशस्त

किया, यही उनकी महत्ता का आधार है।"[1] प्रसाद ने अपने नाटकों के द्वारा भारतेन्दु युग में पल्लवित राष्ट्रीय चेतना और नवोत्थान की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया।

जयशंकर प्रसाद की नाट्य संबन्धी दृष्टिकोण अनेक तत्त्वों का समन्वित रूप था जिनमें प्रमुख हैं - स्वाधीनता आंदोलन की लहर से उपजी राजनीतिक प्रेरणा, सामाजिक अपेक्षाएँ, चारित्रिक विशेषतायें और उससे ही जुड़ी भावात्मक क्रान्ति। इस दृष्टिकोण का सफल अंकन हम उनकी नाट्य कृतियों में देख सकते हैं। उन्होंने कुल नौ नाटकों (राज्यश्री 1915, विशाख 1921, अजातशत्रु 1922, कामना 1924, जनमेजय का नागयज्ञ 1927, स्कन्दगुप्त 1928, चन्द्रगुप्त 1931, ध्रुवस्वामिनी 1933, अग्निमित्र अपूर्ण।), चार एकांकियों (सज्जन 1911, कल्याणी-परिणय 1912, प्रायश्चित 1914, एक घूँट 1929), एक गीतिनाट्य करुणालय (1913) और एक चम्पू काव्य (उर्वशी चंपू) का सृजन किया है। हिन्दी नाटक साहित्य के सबसे क्षमतावान नाटककार ने अपना नाट्य सृजन सन् 1910ई. में प्रारंभ किया और यह प्रक्रिया सन् 1933ई. तक निरन्तर क्रियाशील रही। "नाट्यकला की विकास की दृष्टि से प्रसाद के समस्त नाटकों को तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम काल प्रयोग काल (1910ई.-1915ई. तक) है जिसमें सज्जन, कल्याणी परिणय, प्रायश्चित, करुणालय तथा राज्यश्री आदि रचनाएं आती हैं। दूसरा काल प्रसाद की परिपक्वास्था (1921ई. 1926ई. तक) का काल है जिसमें विशाख, अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ तथा कामना आदि रचनाएँ आती हैं। तीसरा काल प्रसाद की नाट्य शैली का प्रौढ़तम काल है जिसमें स्कंदगुप्त,

---

1. डॉ. गोविन्द चातक - प्रसाद के नाटक : स्वरूप और संरचना - पृ. 18

चन्द्रगुप्त, एक घूँट तथा ध्रुवस्वामिनी आदि रचनाएँ आती हैं। इनमें प्रसाद की नाटकीय प्रतिभा के संपूर्ण वैभव और उसकी नाट्य शैली के चरमोत्कर्ष का श्रेष्ठतम निदर्शन हुआ है।"[1] प्रसाद द्वारा सृजित नाट्य साहित्य के संक्षिप्त विवरण के उपरान्त अब इन नाटकों का शास्त्रीय विवेचन आगे प्रस्तुत किया जायेगा।

2.1 कथानक विवेचन

कथानक से तात्पर्य है - 'कथा का कलात्मक संयोजन'। जीवन के किसी भी क्षेत्र से कथानक को लेकर पात्रों और घटनाओं के माध्यम से नाट्य सृजन किया जा सकता है। शर्त सिर्फ यह है कि उसमें विश्वसनीयता होनी चाहिए। घटनाओं के कार्य-कारण संबंध निर्धारित होने पर ही नाट्य कृति का उचित प्रभाव पड़ सकता है। अतः कथा के कार्य-कारण संबंध के समन्वित रूप को ही कथानक कहते हैं। जयशंकर प्रसाद के नाटकों के संबंध में हम यह निस्संदेह कह सकते हैं कि उन्होंने नाटक के कथानक को महत्त्वपूर्ण माना है।

प्रसाद ने अपने कथानक मूलतः इतिहास एवं पुराण से ली है। उनके प्रारंभिक काल की रचनाओं से लेकर परवर्ती काल तक की रचनाएँ इसके उत्तम नमूने पेश करते हैं। 'एक घूँट' तथा 'कामना' इसके अपवाद है। उनके ऐतिहासिक, नाटकों में उनकी प्रतिभा का समुचित विकास दृष्टव्य है। इतिहास से कथानक ग्रहण करने के पीछे अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। एक सजग रचनाकार की भांति प्रसाद अपने युग से भली भांति परिचित एवं प्रभावित थे। उनका युग राष्ट्रीय

---

1. डॉ. शान्ति मालिक - हिन्दी के नाट्य शिल्पी - पृ. 76

जागरण और नवोत्थान का युग था। एक जागरणोन्मुख राष्ट्र अपनी आशा-आकांक्षा को इतिहास के माध्यम से प्रकट करता आया है। प्रसाद के कथानक इसी आकांक्षा की कलात्मक अभिव्यक्ति का प्रतीक है। वास्तव में इतिहास उस युग की अनिवार्यता थी। इतिहास के माध्यम से आदर्शवाद को स्थापित करते हुए उन्होंने समसामयिक परिस्थितियों का समाधान ढूँढ़ने का प्रयास किया है। आदर्शवाद उस युग की आवश्यकता थी और आदर्श केवल इतिहास में ही मिल सकते थे। "प्रसाद अतीत का उपयोग व्यापक काल-आयाम के जीवित भाग की तरह करते हैं, जीवन की सर्वांगीणता के एक छोर के रूप में। इसीलिए उन्होंने इतिहास का पुनर्लेखन नहीं किया, बल्कि उसमें से ऐसे युगों और चरित्रों को उठाया जो वर्तमान को भी दृष्टि और दिशा देते हैं।"[1] वस्तुतः तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और वैयक्तिक समस्याओं को प्रश्रय देने के लिए ही उन्होंने इतिहास का दामन पकड़ा था।

"उन्होंने इतिहास से इतिवृत्त ग्रहण करते हुए तथ्यों को अपनी दृष्टि से ही ग्रहण किया है। दृष्टि की इस आत्मपरकता में प्रसाद के नाटकों की वास्तविक शक्ति निहित है।"[2] प्रसाद का साहित्यकार व्यक्तित्व अत्यन्त प्रबल था और इसी कारण उन्होंने इतिहास को कथानक के रूप में स्वीकार करते समय भी अपने साहित्यकार के अधिकार को कभी नहीं छोडा। इतिहास से ग्रहित कथानक को सार्थक और सोद्देश्य बनाने के लिए उन्होंने अनुभूति एवं कल्पना का आश्रय लिया

---

1. प्रभाकर श्रोत्रय - जयशंकर प्रसाद की प्रासंगिकता - पृ. 9
2. डॉ. गोविन्द चातक - प्रसाद के नाटक : स्वरूप और संरचना - पृ. 191

है जिससे कथानक का पर्याप्त परिष्कार भी हुआ है। इतिहास के द्वारा उपलब्ध इतिवृत्त में जिन घटनाओं, स्थानों एवं पात्रों का उल्लेख हुआ है उनमें साहित्यकार प्रसाद ने अपनी कल्पना शक्ति के सहारे प्राण फूँक दिया है। साथ ही उनमें औचित्य के आधार पर संबंध स्थापित किये गए है। वस्तुतः प्रसाद की कल्पनासृष्टि इतिहास के मार्ग को स्पष्टता और प्रवाह देने में सक्षम सिद्ध हुआ है जो उनके नाटकों के कथानक को प्रभावशाली बनाने में सहायक हुआ है। उन्होंने कल्पना के सहारे इतिहास के सत्य को सजीव रूप में मुखरित करने का प्रयास किया है।

सन् 1910-1915 ई. के बीच रचित प्रसाद की नाट्यकृतियाँ उनके प्रयोगकाल के अन्तर्गत आती है। इस बीच उन्होंने ज़्यादातर एकांकियों का सृजन किया है और मात्र 'राज्यश्री' इस बीच रचित नाट्यकृति है जिसे प्रसाद ने अपना प्रथम ऐतिहासिक रूपक कहा है। "प्रसाद के इन आरंभिक रूपकों को नाटक की अपेक्षा नाट्यभ्यास कहना उचित होगा क्योंकि इनमें नाटकीय विषयवस्तु, शिल्प और रंगतत्त्व का अभाव है। ....ये एकांकी के अधिक निकट पड़ते हैं....।"[1] यद्यपि राज्यश्री के संबंध में भी यह आक्षेप सही ठहरता है तथापि सन् 1927 ई. में प्रकाशित इसके दूसरे संस्करण में प्रसाद ने कुछ परिवर्तन एवं परिवर्धन करते हुए इसे नाटकीय रूप देने का प्रयास किया है।

इस प्रयोग काल में वे एक ओर संस्कृत की प्राचीन नाट्य परम्परा और दूसरी ओर पाश्चात्य नाट्य परंपरा को लेकर प्रयोग करते हुए नज़र आते हैं।

---

1. डॉ. गोविन्द चातक - प्रसाद के नाटक : स्वरूप और संरचना - पृ. 71

'राज्यश्री' में भी उन्होंने पाश्चात्य पद्धति के अनुरूप कथानक को आदि, मध्य और अन्त के रूप में स्थितियों को विभाजित किया है। 'राज्यश्री' में पाँच अंकों का विभाजन कथा को लगभग उक्त तीन स्थितियों में बाँट देता है। राज्यश्री के प्रथम अंक में समस्त घटनाएँ बड़े प्रवाह से राज्यश्री के चरित्र का विकास करती हुई, देवगुप्त की विजय और गृहवर्मा की मृत्यु पर समाप्त होती है। दूसरे अंक में अनेक संघर्षों के पश्चात् देवगुप्त मारा जाता है। तीसरे अंक में राज्यवर्द्धन के साथ-साथ उनका हत्याश नरेन्द्रगुप्त भी समाप्त हो जाता है। यही नाटक का मध्य है, फिर सभी घटनाएँ बड़े वेग से हर्ष और राज्यश्री के महादान में समाहित हो जाती है। यही नाटक का अंत है। इसमें कथानक के यथोचित संयोजन, वातावरण के अभाव और घटित सत्यों की उपेक्षा के कारण ऐतिहासिकता का अंश कम दिखाई देता है और अनैतिहासिक प्रसंग अधिक महत्त्वपूर्ण हो गए है। इसमें नाटकीय संभावनाएँ भी कम दिखाई देता है। वस्तुतः संशोधन के उपरान्त भी अनेक विसंगतियों के कारण प्रसाद का यह प्रयत्न असफल साबित हुआ।

'विशाख' का कथानक कल्हण कृत इतिहास-मिश्रित रचना 'राजतरंगिणी' से गृहीत है। इसमें राज्य, धर्म, जाति और व्यक्ति के पारस्परिक द्वन्द्व और राज्य तथा धर्म द्वारा व्यक्तिगत स्वतंत्रता के हनन जैसी समस्यायें उठायी गई है। राजा नरदेव नाग सुश्रुवा की भूमि, बौद्ध विहार को दान दे देता है। इस विहार में भ्रष्टाचार फैला है। वहाँ नाग-कन्या चन्द्रलेखा को बन्दी बना लिया जाता है, जिसे छुड़ाने के लिए राजा विहार को जला देता है, जबकि चन्द्रलेखा विशाख नामक दरिद्र ब्राह्मण से प्यार करती है। राजा का दूत महापिंगल पहले राजा के लिए उसे

बौद्ध भिक्षु के माध्यम से धार्मिक किस्म के षड्यंत्र द्वारा उपलब्ध करना चाहता है बाद में स्वयं अपने जाल से फँसाने की कोशिश करता है, विशाख उसकी हत्या कर देता है। राजा विशाख और चन्द्रलेखा को सूली पर चढ़ाने का आदेश देता हैं तो नाग लोग राजमहल में आग लगाकर उन्हें अपने साथ लेकर भाग जाते हैं। इसमें प्रसाद ने बहुत तीखे स्वर में सत्ता और धर्म द्वारा निम्न जातियों पर किये जा रहे शोषण का विरोध किया है। वे सत्ता और धर्म की मिली भगत द्वारा निम्न जातियों के शोषण और व्यक्तिगत स्वाधीनता के अपहरण के प्रबल विरोधी थे। इसी का अंकन 'विशाख' में हुआ है। इस में कुछ सामाजिक यथार्थ और युगीन आदर्श भी इतिहास के आवरण में प्रतिबिंबित हुए हैं। भिक्षुओं का चाँदी-तांबे को सोने में बदलने का बहाना बनाकर कुल-वधुओं के आभूषण लेकर चंपत हो जाना इसका उदाहरण है। इसी तरह नरदेव के अत्याचारों के माध्यम से विदेशी सत्ता की नृशंसता की ओर संकेत किया गया है। 'राजतरंगिणी' पर आधारित इसके कथानक में काव्य-कारण संबंध और नाकीय स्थितियों के संयोजन के लिए कुछ परिवर्तन किए हैं लेकिन कथानक की नाटकीय उपयुक्तता के संबंध में अर्थ गौरव का अभाव दृष्टव्य है।

'अजातशत्रु' नाटक की कथानक विविध स्रोतों से आहत है। इसके कथानक में बिबिसार, प्रसेनजित् एवं उदयन की कथाओं का एकीकरण किया गया है। इन तीनों कथाओं के प्रमुख पात्र भारतीय-परम्परा में प्रख्यात एवं इतिहास सिद्ध हैं। इस नाटक में प्रसाद ने मगध, कौशल, काशी एवं कौशाम्बी में घटित होने वाली विभिन्न घटनाओं को संगठित करने का प्रयत्न किया है। यह बौद्ध करुणा, अहिंसा और सद्भाव का नाटक है।

प्रथम महायुद्ध के कतिपय वर्षों के बाद ही अजातशत्रु का प्रकाशन हुआ था, इस कारण इसमें युद्ध की समकालीन परिस्थितियों का प्रबल प्रभाव है। इसकी कथावस्तु का आधार राष्ट्र और परिवार की विश्रृंखल इकाइयों के बीच उत्पन्न संघर्ष है। इस संघर्ष का समाधान 'सर्व-भूतहित' की कामना ठहराई गई है। इसमें अहिंसा और बौद्ध करुणा का भाव मुख्य है। विदेशी सत्ता के विरुद्ध जूझते युग की नैतिक आवश्यकता की पूर्ति के हेतु ही प्रसाद ने इस जीवन-दर्शन को अपनाया था।

इस नाटक का संपूर्ण कथानक तीन अंकों में विभाजित है। विरोध से ही इस का आरंभ होता है, विरोध का ही विस्तार दिखाया गया है और अंत में विरोध की समाप्ति है। इस तरह पूरा नाटक विरोधमूलक है। पारिवारिक कलह से उदासीन होकर पुत्र की उद्दंडता देखकर और अपनी छोटी रानी छलना की अधिकार लोलुपता तथा कुमंत्रण से त्रस्त होकर बिंबिसार जीवन से उदासीन रहते हैं। संपूर्ण शासन-सूत्र अजात के हाथ में सौंपकर वे तटस्थ हो जाते हैं। इसी समय छलना के व्यवहार से दुःखी होकर वासवी कोसल चली जाती है। छलना और देवदत्त की प्रेरणा से अजात राज्य करने लगता है।

सुदत्त जब मगध का यह समाचार लेकर कोसल नरेश प्रसेनजित के पास पहुँचता है तो सारी सभा में इसी घटना को लेकर विवाद उठता है। युवराज विरुद्धक ने अजात के पक्ष का समर्थन और उसके कार्यों का प्रतिपादन किया। प्रसेनजित ने इसमें उसकी दुरभिसंधि की आशंका की और अत्यधिक क्रोधावेश में विरुद्धक को युवराज पद से तथा उसकी माता शक्तिमती को राजमहिषी पद से

वंचित करता है। इस घटना के बाद विरुद्धक अपनी माता की प्रेरणा से पिता के विरोध करने की ठानी और राज्य से बाहर हो गया।

कौशांबी राज्य में मागंधी के षड्यंत्र में पड़कर उदयन पद्मावती के विरुद्ध हो गए हैं। इस षड्यंत्र का भेद खुलने पर मागंधी वहाँ से भागकर काशी आई और कायापलट कर वारविलासिनी बन बैठी। संपूर्ण प्रथम अंक विरोधात्मक प्रयत्नों से पूर्ण है और द्वितीय अंक में इसी विरोध का विस्तार और चरमसीमा दिखाई पड़ती है। अजातशत्रु और विरुद्धक एक ओर संगठित हुए और प्रसेनजित तथा उदयन दूसरी ओर। इस तरह दोनों दल सुसज्जित होकर दृढ़चित्त से युद्ध के लिए तत्पर होते हैं। तृतीय अंक में इस व्यापक विरोध का शमन है। प्रत्येक विरोधी दल अहंकार तथा पापपूर्ण मनोवृत्ति पर पश्चाताप प्रकट करता है और अपनी भूल को सुधारने का प्रयत्न करता है। यद्यपि प्रसाद ने अपने पूर्ववर्ती नाटकों से भिन्न कथानक संयोजन एवं घटना-संकुल को इसमें अपनाया है फिर भी यह सफल नाट्य कृति नहीं बन पाई लेकिन परवर्ती नाटकों की सफलता के लिए यह नाटक ज़रूर एक महत्त्वपूर्ण कडी है।

सन् 1921ई. के आसपास देश में साम्प्रदायिक दंगों का उन्माद फैला हुआ था। हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे पर आक्षेप लगा रही थी, कोई झुकने को तैयार नहीं था। ऐसे समय प्रसाद ने इतिहास एवं पुराण के सत्य और कल्पना के आदर्श का सुन्दर समन्वय करते हुए 'जनमेजय का नागयज्ञ' लिखा। इसमें उन्होंने दो क्रुद्ध जातियों की हिंसा और उसके बीच सक्रिय विनाश और निर्माण की नियति का जो चित्र उभारा है वह नाटक के सारे कथ्य को व्याख्यायित करता है। प्रभाकर श्रोत्रिय

के अनुसार "दो जातियों के द्वन्द्व और वैमनस्य के लिए किसी एक को दोषी नहीं ठहराया जा सकता भले एक आर्य हो और दूसरी नाग। नाटक के अनुसार इस शत्रुता में आर्यों की भूमिका नागों से कम नहीं है।"[1]

पांडवों के वंश में जन्मे जनमेजय परीक्षित का ज्येष्ठ पुत्र और अभिमन्यु का पौत्र था। परीक्षित के अनंतर वही राजा हुआ। वह बड़ा ही शक्तिशाली और दृढ़ शासक था। उसकी शासन व्यवस्था में कुरु राज्य फिर संभाल गया। तक्षशिला-विजय के साथ ही जनमेजय ने संपूर्ण नाग जाति का उन्मूलन कर डाला और कुछ दिनों के लिए वहीं अपनी राजधानी स्थापित की। जनमेजय ने भूल से एक ब्रह्म हत्या की, जरत्कारु नामक ब्राह्मण का, जो नाग युवती रमणी का पति था। इस हत्या के प्रायश्चित में उसने एक अश्वमेध यज्ञ किया। लेकिन इस बीच क्षत्रिय-ब्राह्मण और नाग जाति में संघर्ष उत्पन्न हुआ। इस क्रान्ति का दमन करने में जनमेजय को बड़ा प्रयत्न करना पड़ा था। आर्यों के प्रति नागों के इस विरोध भाव को उतंक सहन न कर सके और निरंतर राजा को उत्साहित करते रहे कि बलपूर्वक विद्रोह का नाश करना ही श्रेयस्कर है। परिणाम रूप में क्षत्रिय और नाग जाति का पूर्ण पराभव हुआ। इस पराजय के कारण दोनों पक्षों में मित्रता हो गई और राज्य में शांति स्थापित हुई। इस नाटक की कथावस्तु संक्षिप्त, सुगठित और नाटकीय है। संघर्ष पर केन्द्रित इस नाटक में इसके समाधान रूप में करुणा और विश्वमैत्री को स्थापित किया है। नाटक के आरंभ श्रीकृष्ण के शब्दों में नाटककार ने इसी ओर संकेत किया है - "अखिल विश्व एक सम्पूर्ण सत्य है। असत्य का भ्रम

---

1. प्रभाकर श्रोत्रिय - जयशंकर प्रसाद की प्रासंगिकता - पृ. 11

दूर करना होगा, मानवता की घोषणा करनी होगी, सबको अपनी समता में ले आना होगा"[1] नाटक के प्रारंभ में कृष्ण द्वारा व्यक्त की गई यह दार्शनिक विचारधारा ही इस नाटक की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। यहाँ जीवन, जगत्, कर्म तथा नियति संबंधी दार्शनिक विचारधारा को प्रस्तुत किया गया है। नाटक के अंतिम अंक के प्रथम दृश्य में व्यास के द्वारा भी इसी विचारधारा को अभिव्यक्त किया गया है - अंध-नियति कर्तृत्त्व-मद से मत्त मनुष्यों की कर्म-शक्ति को अनुचरी बनाकर अपना कार्य करती है,....।"[2] यहाँ व्यास नियति के लिए कर्त्तव्य निभाने की बात करते हैं। इस नाटक में आदर्श और नैतिकता संबंधी विचार प्रकट करते हुए मानवता के स्वर को मुखरित किया गया है।

इन नाटकों के बाद रचित 'कामना' निश्चयतः प्रसाद के नाटकों की विकास यात्रा का महत्त्वपूर्ण पड़ाव है। इसमें जीवन और जगत के रहस्यों का अन्वेषण किया गया है। साथ ही इसमें भावनाओं का मानवीकरण किया गया है। डॉ. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा के शब्दों में, "मानव-समाज के विकास में विभिन्न मनोवृत्तियाँ का कितना और कैसा प्रभाव पडा है - इसी की कथा लेखक ने इस नाटक में कही है। ...इसे सार्वदेशिक समाज का चित्र भी कह सकते हैं और केवल भारतवर्ष का भी।"[3] डॉ. शर्मा ने इस कृति को एक व्यापक परिवेश में देखने का प्रयत्न किया है।

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी - पृ. 297
2. वही - पृ. 337
3. डॉ. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा - प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन - पृ. 172

फूलों का एक द्वीप है जिसमें अभी मानव की सामाजिक वृत्ति का सूत्रपात हो रहा है। इस द्वीप के निवासी अपने को तारा की संतान बताते हैं। इनमें महत्त्व और आकांक्षा का अभाव है। यहाँ लोग संघर्ष, डर भय आदि नामों से अनभिज्ञ है। अभी तक यहाँ नियम, राजनीति, बंधन, मद्य आदि का प्रवेश भी नहीं हुआ है। सभी सहर्ष खेतीबारी करके जीवन का निर्वाह कर रहे हैं। कामना ही पूजा-पाठ का नेतृत्व करती है और प्रकृति द्वारा ईश्वरीय संदेश प्राप्त किया जाता है।

एक दिन इस द्वीप में 'विलास' नामक विदेशी आता है। उसके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर कामना उसका स्वागत करती है। आगे चलकर वही विलास इस द्वीप के निवासियों से अधिक घनिष्ठ हो जाता है। वह मदिरा और सोने का चमत्कार दिखाकर कामना पर अधिकार जमाता है और फिर सारे द्वीप वासियों के बीच सुख के नाना प्रलोभनों का संचार करते हुए उनमें विलास, स्वार्थता, ऐहिकता और नित्य नवीन आवश्यकताओं को जन्म देता है। उनकी सारी प्राचीन संस्कृति विलुप्त हो जाती है और नवीन सभ्यता के रूप में युद्ध, दरिद्रता, कुविचार का प्रसार होने लगता है। आरंभ में कामना जिस विवेक और संतोष का निरादर करती है उन्हीं की प्रेरणा और बारंबार की चेतावनी से उसकी आँख खुलती है। परिणाम रूप में विलास और लालसा द्वीप से निकाल बाहर होते हैं। कामना एवं संतोष का संयोग होता है और कामना सभी देशवासियों को मदिरा से मुक्ति पाने का उपदेश देती है। यहीं से परिवर्तन आरंभ हो जाता है। विलासिता के चक्र में पड़कर विलुप्त होती मानवीयता का प्रदर्शन ही, इस कृति में हुआ है। गोविन्द चातक के शब्दों में "कामना.... सच्चे अर्थों में प्रतीकात्मक रूप से मानव सभ्यता का प्रागैतिहासिक

चित्र प्रस्तुत करता है।"[1] वस्तुतः इसमें प्रसाद के दार्शनिक व्यक्तित्व के साथ-साथ प्रागैतिहासिक जीवन सत्यों के आख्याता नाटककार का रूप भी प्रकट हुआ है। इसमें प्रतीकात्मक रूप में एक आदर्श व्यवस्था और उसके विघटन का चित्र कुशलता से चित्रित किया गया है जिसमें भारतीय सामाजिक आदर्श उभर कर सामने लाया गया है।

प्रसाद की नाट्यकला और ऐतिहासिक बुद्धि का पूर्ण परिचय उनकी सन् 1928ई. में रचित अद्वितीय नाट्य कृति 'स्कंदगुप्त' से प्राप्त है। निस्संदेह यह नाटक प्रसाद के श्रेष्ठतम नाट्य-प्रयासों में से एक है। इसमें उन्होंने देश की सुरक्षा के लिए आत्म बलिदान के भाव को अत्यंत तीव्रता के साथ उभारा है। गुप्तकालीन इतिहास के आधार पर रचित इस नाटक का संबंध ह्रासोन्मुखी गुप्त साम्राज्य से है। डॉ. राजेन्द्र सिंह के अनुसार "नाटककार का उद्देश्य सुपरिभाषित है यानि समकालीन परिस्थितियों का अधिकाधिक चित्रण और चहुंमुखी पतनोन्मुखी अव्यवस्था के निवारण के लिए स्कन्दगुप्त को विश्वासयोग्य बनाना।"[2] इससे स्पष्ट है कि नाटककार ने गुप्तसाम्राज्य के परिवेश में तत्कालीन भारतीय राजनीतिक स्थिति पर विचार व्यक्त किया है।

नाटक गुप्त साम्राज्य की संकटग्रस्त राजधानियों के वर्णन से शुरू होता है। कुसुमपुर में गुप्त साम्राज्य का अधिपति कुमारगुप्त अपना विलासी जीवन व्यतीत कर रहा है। युवराज स्कंदगुप्त गुप्तकुल के उत्तराधिकार नियम की अव्यवस्था

---

1. डॉ. गोविन्द चातक - प्रसाद के नाटक : स्वरूप और संरचना - पृ. 109
2. डॉ. राजेन्द्र सिंह - जयशंकर प्रसाद : नवीन मूल्यांकन - पृ. 31

के कारण अपने पद एवं दायित्व से कुछ उदासीन है, इस कारण साम्राज्य का भविष्य अंधकार पूर्ण दिखाई देता है। इसी समय मालव राज्य में विदेशियों का आक्रमण होता है और वीर स्कंदगुप्त ठीक अवसर पर पहुँचकर राज्य की रक्षा करता है। इसके बाद राजधानी में सम्राट का निधन और परिणाम रूप में पारिवारिक कलह के कारण स्कंदगुप्त मालव का सिंहासन स्वीकार करता है। इस राज्याभिषेक के उपरान्त हूणों के आक्रमण से आर्यावर्त की रक्षा करने के लिए सेना का संगठन करने लगता है। इसी बीच उसे विमाता से उत्पन्न अपने छोटे भाई पुरगुप्त के कुचक्र को रोकने का प्रयास भी करना पड़ा। युद्ध में सेनापति भटार्क की नीचता के कारण हूणों का बढ़ाव नहीं रोका जा सका और परिणामस्वरूप स्कन्दगुप्त की सेना आपत्ति के गर्त में गिर जाता है।

सत्ता के अंतहीन खेल उसे थका देते हैं और वह अपने प्रयास छोड़ने के लिए लगभग तैयार हो जाता है किन्तु फिर एक बार उसे हूणों से लोहा लेना पड़ता है। इस बार स्कंद हूणों को हरा देता है। इस प्रकार स्कन्दगुप्त अपने जीवनकाल में एक बार आर्यावर्त को हूणों से निरापद बना देता है। तीव्र अनुभूति के साथ रचित इस नाटक में प्रसाद ने इतिहास की आत्मा को सुरक्षित रखा है।

'चन्द्रगुप्त' प्रसाद की प्रौढ़ नाट्यकृति है। यह कृति उनके पूर्ववर्ती नाटकों के प्रौढ़ विकास का साक्षी भी है। इसमें प्रसाद ने अतीत-इतिहास और युगीन आवश्यकताओं का अधिक ध्यान रखकर राष्ट्रीयता, एकता, देश-प्रेम, शौर्य, बलिदान आदि आदर्शों को अत्यंत महत्त्व के साथ चित्रित किया है। "अन्य नाटकों की

अपेक्षा चन्द्रगुप्त पूर्णतः ऐतिहासिक नाटक है।"[1] गोविन्द चातक का यह कथन बिल्कुल ही सार्थक है क्योंकि इसमें बीस-तीस वर्षों का इतिहास, दीर्घकाल में व्याप्त घटनायें संचित हैं। यह उनके इतिहास बोध, अन्वेषण शक्ति और अध्ययनशीलता का उत्तम उदाहरण है।

सन् 1931ई. में प्रकाशित 'चन्द्रगुप्त' के कथानक में तीन प्रमुख घटनाएँ हैं - अलक्षेद्र का आक्रमण, नंदकुल का उन्मूलन और सिल्यूकस का पराभव। लेखक ने प्रथम दो घटनाओं को पहले लिया है। इसीलिए उनसे संबद्ध प्रमुख व्यक्तियों के परसार संबंध का परिचय आरंभ में कराया गया है। प्रथम अंक में त्रस्त मगध का चित्रण एवं चन्द्रगुप्त के बचाने की घटनाएँ सामने आती हैं। इसी अंक में चाणक्य का अपमान होता है जिससे वे नंदवंश के नाश की प्रतिज्ञा करते हैं एवं चन्द्रगुप्त द्वारा चाणक्य की मुक्ति दिखाई जाती है। इस अंक के अंत में दांड्यायन के आश्रम में सिल्यूकस और चन्द्रगुप्त दोनों विरोधी पक्षों का सम्मेलन होता है और वहीं चन्द्रगुप्त के उत्कर्ष के विषय में दांड्यायन की भविष्यवाणी के कारण सब का ध्यान उसके महत्वपूर्ण व्यक्तित्व की ओर आकृष्ट हो जाता है।

द्वितीय अंक में चन्द्रगुप्त द्वारा कार्नेलिया की फिलिप्स से रक्षा की जाती है एवं चन्द्रगुप्त को बन्दी बनाने के प्रयास में वह वीरता से लड़ता हुआ निकल जाता है। इसी अंक में पर्वतेश्वर एवं सिकन्दर का युद्ध होता है एवं उसकी वीरता से प्रभावित होकर सिकन्दर उसे मुक्त करता है। आगे अलका एवं सिंहरण बन्दी बनाये

---

1. डॉ. गोविन्द चातक - प्रसाद के नाटक : स्वरूप और संरचना - पृ. 143

जाते हैं। और स्वयं भी मुक्त होकर मालव युद्ध में भाग लेती है। युद्ध में सिकंदर के घायल होने पर सिंहरण द्वारा उसे क्षमा किया जाता है ताकि पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का प्रतिरोध लिया जा सके। युद्ध में सिकंदर की पराजय होती है। सिकंदर के स्वस्थ होने पर पुनःयुद्ध करने की बात चन्द्रगुप्त कहता है एवं भारतीय उदारता की छवि प्रस्तुत करती है।

तृतीय अंक में चाणक्य अपनी कूट बुद्धि के बल से चन्द्रगुप्त को सर्वशक्ति संपन्न बनाकर नंदकुल के उन्मूलन की ओर प्रवृत्त करने लगता है और स्वयं उसकी समस्त योजना में व्यस्त दिखाई पड़ता है। आगे पर्वतेश्वर आत्महत्या करना चाहता है किन्तु चाणक्य उसे बचाता है एवं देश के लिए कार्य करने की प्रेरणा देता है। इसी अंक में सिकंदर की विदाई होती है जिसमें वह भारतीयता से प्रभावित दिखाई देता है। राक्षस की अंगुलीय मुद्रा प्राप्त करके चाणक्य उसे मगध से दूर करना चाहता है। इसी अंक में चन्द्रगुप्त से युद्ध फिलीप्स की मृत्यु होती है एवं राक्षस नन्द के हाथों से सुवासिनी को मुक्त करता है। आगे चाणक्य कुसुमपुर में विद्रोह भड़काता है और नन्द पर अभियोग लगाये जाते हैं। अन्त में शकटार नन्द की हत्या कर देता है एवं अमात्य राक्षस चन्द्रगुप्त को सर्वसम्मति से सिंहासन पर बिठाता है।

चतुर्थ अंक में पर्वतेश्वर द्वारा कल्याणी के अपमान और तत्पश्चात् पर्वतेश्वर की हत्या कल्याणी करती है एवं कल्याणी स्वयं आत्महत्या कर लेती है। सुवासिनी द्वारा राक्षस के प्रणय प्रस्ताव को ठुकारने पर राक्षस नाराज़ हो जाता है और मगध में विप्लव करने की सोचता है। चन्द्रगुप्त के विजयोत्सव मनाने के विरोध करने पर चन्द्रगुप्त के माता-पिता रुठकर चले जाते हैं। मालविका की राक्षस द्वारा

चन्द्रगुप्त की हत्या की योजना का शिकार होना पड़ता है। अंत में ग्रीक शिविर में चन्द्रगुप्त और सिल्यूकस के बीच युद्ध छेड़ जाता है। आंभीक, सिंहरण आदि की मदद से चन्द्रगुप्त सिल्यूकस को बंधी बनाता है साथ ही वहीं पर उनकी मुलाकात कार्नेलिया से भी होता है। दांड्यायन के आश्रम में चाणक्य, चंद्रगुप्त, राक्षस इत्यादि मिलते हैं और वहीं चाणक्य राजनीति से तटस्थता ग्रहण करता है, राक्षस और सुवासिनी के विवाह का निर्णय होता है और राक्षस को अमात्य-पद दिलाता है। इस तरह नाटक का शुभांत होता है। साथ ही चाणक्य द्वारा प्रस्तावित चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया के विवाह को सभी स्वीकृति देते हैं।

'चन्द्रगुप्त' सामूहिक प्रभाव की दृष्टि से एक श्रेष्ठ कृति है। गाँधीवादी जीवन दर्शन, उनके स्वतंत्रता आंदोलन से जन्मी जनशक्ति और परिवर्तनों को, तथा युग की आवश्यकता को नज़र में रखते हुए 'चन्द्रगुप्त' में पराधीन देश की स्वाधीनता की इच्छा को ही राष्ट्रीयता की भावना के रूप में अभिव्यक्ति दी है। इसमें युगीन समस्याओं का हल प्रस्तुत करते हुए राष्ट्रीयता के साथ-साथ विश्व-प्रेम का संदेश दिया है।

स्त्री की स्वाधीनता और शोषण मुक्ति को केन्द्र में रखते हुए रचित समस्या प्रधान नाटक है, सन् 1933 ई. की 'ध्रुवस्वामिनी'। यह प्रसाद का अंतिम, परिपक्कव, पूर्ण, नवीन प्रयोग का नाटक है। इसमें नारी के अपने चुनाव और निर्णय की स्वतंत्रता को रेखांकित किया गया है।

समुद्रगुप्त के निधन के उपरान्त उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त अपना संपूर्ण अधिकार बडे भाई रामगुप्त को सौंप देता है। लेकिन वह इस शासन भार को वहन

करने में सर्वथा असमर्थ एवं अयोग्य प्रमाणित होता है। वह स्वयं मदिरा में प्रमत रहकर विलासिनियों के साथ रहता है और अपनी पत्नी ध्रुवस्वामिनी को बंदी गृह में डाल देता है। उसे कभी भी रंचमात्र के लिए पतिसुख प्राप्त नहीं हुआ है। ऐसी स्थिति में ध्रुवस्वामिनी का ध्यान एकमात्र आश्रय चन्द्रगुप्त की ओर आकृष्ट होता है।

इसी समय शक आक्रमण होता है और रामगुप्त का संपूर्ण शिविर-मंडल चारों ओर से घेर लिया जाता है। शकराज संधिप्रस्ताव में ध्रुवस्वामिनी की माँग करता है और रामगुप्त उस माँग को पूर्ण करके अपने जीवन की रक्षा का निश्चय करता है। इस अवसर पर चन्द्रगुप्त गुप्तकाल के सम्मान की रक्षा के लिए यह निश्चय करता है कि महादेवी के वेश में शकराज के सम्मुख वह स्वयं उपस्थिति होगा और सारे खेल को उलट देगा। चंद्रगुप्त की वीरता सफल होती है। शकराज की मृत्यु हो जाती है और शक सेना भाग जाती है। चन्द्रगुप्त को शासक के पद पर आसीन किया जाता है। ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त की शादी हो जाती है तथा रामगुप्त को सभी सामंत मिलकर मार डालते हैं।

इसमें प्रसाद ने सामयिक नारी समस्या को उठाया है। गिरीश रस्तोगी के अनुसार "ध्रुवस्वामिनी गुप्तकालीन इतिहास का आधार लेकर, इतिहास और लेखक की कल्पनाशक्ति को समुचित समन्वय करते हुए इतिहास और नाटकीयता की एकान्विति का नाटक है।"[1] वस्तुतः इसमें नारी चेतना तथा जन-चेतना की जागृति का ज्वलन्त स्वर है जो इतिहास से दबता नहीं। विशाखदत्त के 'देवीचन्द्रगुप्तम्' से

---

1. गिरीश रस्तोगी - हिन्दी नाटक का आत्मसंघर्ष - पृ. 64

ग्रहीत कथानक के आधार पर रचित इस नाटक में इतिहास स्वतंत्र वस्तु न रहकर जीवन के यथार्थ की अभिव्यक्ति का साधन है। इसमें इतिहास के भीतर छिपी जीवन्त समस्या को उद्‌घाटित करने का स्तुत्य प्रयास किया गया है।

आचार्यों ने नाट्यशास्त्र से संबंधित ग्रंथों में कथानक पर विचार करते हुए उसे कुछ नियमों में बाँध दिया है। सर्वप्रथम कथानक को पाँच भागों में बांटा गया है - बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य और कार्य-श्रृंखला की दृष्टि से भी उसके पाँच भेद किए गए हैं - आरंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याश, नियताप्ति और फलागम। इन पाँच अर्थ प्रकृतियों और अवस्थाओं के मिश्रण से संधियाँ बनती हैं। आगे उन्होंने चौसठ संध्यांगों और इक्कीस संध्यंतरों की भी कल्पना की है।

इन शास्त्रीय सिद्धान्तों पर घिसने से प्रसाद का कोई भी नाटक खरा नहीं उतरता। प्रसाद की किसी भी रचना में इसका प्रयोग अनिवार्य रूप से नहीं हुआ है। शास्त्रीय दृष्टि से देखें तो विशाख, अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, कामना और ध्रुवस्वामिनी में तीन अंकों वाला ढाँचा स्वीकार किया है और राज्यश्री और चन्द्रगुप्त में चार अंकों का। स्कन्दगुप्त में पाँच अंक है। नाटक की समग्र संरचना की तुलना में उन्होंने उसके दृश्य संरचना पर ज़्यादा ध्यान केन्द्रित किया है। उनके नाटकों में ऐसे दृश्य मिलते हैं जो परस्पर संबद्ध नहीं है और जिनकी अवतारणा लेखक ने अपनी आत्माभिव्यक्ति के विचार से की है। कहीं ये दृश्य दार्शनिक पक्ष को उभारने के लिए प्रकट होते हैं। केवल ध्रुवस्वामिनी ही ऐसा नाटक है जिसमें तीन अंक और तीन ही दृश्य हैं। अन्यथा विशाख में 16, राज्यश्री में 23, अजातशत्रु में 28, कामना में 22, जनमेजय का नागयज्ञ में 23, स्कन्दगुप्त में 32, और

चन्द्रगुप्त में 43, सभी नाटकों में कुछ दृश्य सूच्य हैं और कुछ दृश्य काफी विशाल हैं। इस तरह प्रसाद के अंक और दृश्य विभाजन के संबंध में ऐसी अव्यवस्था ही दृष्टव्य है।

वस्तु-संविधान की दृष्टि से उनके सभी नाटक सफल हैं, जिसमें उक्त विचारों का ध्यान रखा गया है, वे अन्य रचनाओं की अपेक्षा अधिक सफल सिद्ध हुए हैं - जैसे स्कंदगुप्त, चन्द्रगुप्त तथा ध्रुवस्वामिनी। इनमें वस्तु विन्यास ही नहीं संधियों एवं संध्यांगों तक की स्थापना उचित स्थान पर की गई हैं जैसे 'चन्द्रगुप्त' के द्वितीय अंक में प्रतिमुख संधि के अंतर्गत जहाँ युद्ध क्षेत्र में संधि के पूर्व सिकंदर और पर्वतेश्वर के बीच के संवाद है वहाँ 'उपन्यास' संध्याग; तृतीय दृश्य में कल्याणी जहाँ अपने सैनिकों से बातचीत करती हैं वहाँ 'शम' और जहाँ वह पर्वतेश्वर से बातें करती है वहाँ 'प्रगमन', चतुर्थ दृश्य के आरंभ में 'निरोध', तथा पाँचवें दृश्य में चन्द्गुप्त और मालविका के संवाद में 'पुष्प' के रूप देखे जा सकते हैं।

'स्कन्दगुप्त' के पाँच अंकों में किसी सीमा तक भारतीय नाट्य रीतियों का निर्वाह दिखाई देता है, जैसे प्रथम और द्वितीय देता है, जैसे प्रथम और द्वितीय में आरंभ और प्रयत्न का निर्वाह है। तृतीय अंक में प्राप्त्याशा है। चतुर्थ अंक में नियताप्ति अवस्था दृष्टिगोचर होती है, जब नायक के 'शान्त हो' कहने पर विजया कहती है - "शान्ति कहाँ?.... उन पर झूठा अभियोग लगाकर, नीच हृदय को नित्य उत्तेजित्त कर रही थी। अब उसका फल मिला।"[1] इस कथन में विजया के विरोध

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी, खण्ड-2 - पृ. 529

का स्वर पश्चाताप की तरलता में बदला हुआ दीख पड़ता है। इसी अंक के दूसरे दृश्य में विरोधी भटार्क के अंदर भी परिवर्तन देखा जाता है - "माँ, क्षमा करो। आज से मैंने शस्त्र त्याग किया। मैं इस संघर्ष से अलग हूँ, अब अपनी दुर्बुद्धि से तुम्हें कष्ट न पहुँचाऊँगा। (तलवार डाल देता है।)"[1] वह भी अपनी कुकर्म के बारे में सोचकर पश्चाताप से भर उठता है। इस तरह एक के बाद एक विरोधों का शमन स्कन्दगुप्त को फलागम की ओर ले जाता है। अतः पाँचवे अंक में स्कन्दगुप्त जब पुरगुप्त को राजतिलक करके युवराज घोषित करता है तो वह फलागम की अंतिम नाट्य अवस्था होती है। 'ध्रुवस्वामिनी' में भी पाँच अवस्थाओं और अर्थ प्रकृतियों को संधियों सहित देखा जा सकता है।

मूल कथानक की संवेदना को अधिक जीवन्त और सार्थक बनाने के लिए प्रसाद काल्पनिक प्रसंगों की सृष्टि करने में सिद्धहस्त दिखाई देते हैं। इसीलिए उपकथानकों अथवा पताका-प्रकरी का विस्तार उनके नाटकों में देखा जा सकता है। 'राज्यश्री' में सुरमा और शान्तिभिक्षु या विकट घोष की कथा काल्पनिक प्रसंग है। 'चन्द्रगुप्त' में शकटार संबंधी प्रसंग भी काल्पनिक है। 'स्कन्दगुप्त' में शर्वनाग, चक्रपालिता और मातृगुप्त की नाटकीय स्थिति का चित्रण कल्पना पर ही आश्रित है। तक्षशिला गुरुकुल में चाणक्य और चन्द्रगुप्त के संबंध स्थापना में भी कल्पना का योग है। प्रसाद ने अनेक स्त्री पात्रों की सृष्टि भी की है जिनके नामकरण और चरित्र कल्पित हैं जैसे - देवसेना, विजया, सुरमा, मालविका, जयमाला, मंदाकिनी, अलका, दामिनी इत्यादि जिनके नाम के अनुरूप ही चरित्र भी खड़ा किया गया है।

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी, खण्ड-2 - पृ. 531

उनके नाटकों में नान्दी पाठ, सूत्रधार, नट, नटी आदि का प्रयोग नहीं है; प्रसाद के मतानुसार शास्त्र प्रायोगिक अनुभवों का संकलन होता है न कि बंधन। उन्होंने शास्त्र की अवहेलना नहीं की है। न ही पूर्णतः शास्त्र का निर्वाह भी किया है। उनकी रचनाओं में युगीन प्रभाव के कारण पाश्चात्य नाट्यशास्त्र का भी प्रयोग किया गया है। वस्तुतः कथानक के संदर्भ में पाश्चात्य नाट्यशास्त्र अधिक स्पष्ट एवं ग्राह्य है। इसके अनुसार कथावस्तु में वैचित्र्य एवं संघर्ष की प्रधानता दी जाती है। इस दृष्टि से 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' और ध्रुवस्वामिनी को लिया जा सकता है। उनके कथानक सीधे सपाट न होकर ऐसी घटनाओं के संघटन से निर्मित हुए जिनके प्रति सामाजिक जिज्ञासा से भरा रहता है। 'अजातशत्रु' में पहले अंक में संघर्ष का बीज-वपन' होता है, दूसरे में उसका उत्कर्ष और तीसरे में शमन। 'स्कन्दगुप्त' के प्रथम अंक के प्रथम दृश्य से युवराज स्कंद एक महत्त्वपूर्ण युद्ध के लिए तत्पर है, जिसके परिणाम के साथ उसका भविष्य जुड़ा हुआ है। 'ध्रुवस्वामिनी' के प्रथम अंक में ही चन्द्रगुप्त शक दुर्ग में जाने का संकल्प करता है, यह नाटक के मूल स्वर 'संघर्ष' को प्रारंभ में ही स्पष्ट कर देता है। संघर्ष की भित्ति पर निर्मित प्रसाद के नाटकों में फल गौण और कर्म की प्रेरणा मुख्य है। उनमें फल कर्म की स्वाभाविक परिणति ही है, वह लक्ष्य नहीं है। उन्होंने विपत्तियों और बाधाओं के बीच मानव की तीव्र इच्छा शक्ति का संघर्ष दिखाने के लिए नाट्य रचना की है।

प्रसाद की वस्तु-संरचना का विधायक तत्त्व है - नाटक का अंत। हमारे देश में भगवान शिव की आराधना सृष्टि के पालक और संहारक दोनों रूपों में है।

सुख और दुःख संहारक दोनों रूपों में है। सुख और दःख का समन्वय और उससे उभरने का प्रयत्न हमारी चिन्ताधारा करा मूल स्वभाव है। शैव दर्शन, नियतिवाद, आदर्शवाद, और बौद्ध दर्शन संबंधी प्रसाद की धारणाएँ उनके नाटकों के अंत के उत्तरदायी है। इस दृष्टि से उल्लेखनीय नाटक, 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' है। 'अजातशत्रु' में बिंबिसार की मृत्यु विषाद का वातावरण प्रस्तुत करती है लेकिन दूसरी ओर असत् शक्तियों के पराभव और सत की विजय नाटक के अंत सुख की अनुभूति प्रदान करते हैं। इसी तरह 'चन्द्रगुप्त' में चाणक्य सच्चे ब्राह्मणत्व की उपलब्धि का चिन्तन कर चन्द्रगुप्त को सम्राट और कार्नेलिया को साम्राज्ञी बनाकर अपने ही खड़े किए साम्राज्य से विदा लेता है तो सुख-दुःख की एक मिश्रित अनुभूति होती है। वस्तुतः प्रसाद अपने पात्रों को सामरस्य की स्थिति में ले जाते हैं और कथावस्तु का अंत शान्त रस में होता है।

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि प्रसाद के कथा संयोजन का आधार भारतीय एवं पाश्चात्य पद्धतियों का समन्वयात्मक रूप है। उन्होंने पूर्णतः न भारतीय पद्धति का और न पाश्चात्य पद्धति का निर्वाह किया है फिर भी उनकी कथा का विकास इसी आधार पर हुआ है जिसमें संघर्ष, वैचित्र्य, प्रभावान्विति को कथानक में पूर्ण स्थान दिया है।

2.2 पात्र योजना एवं चरित्र चित्रण

नाटक के शास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुसार कथानक के बाद पात्र एवं चरित्र-चित्रण की गणनना की जाती है। यदि कथानक को नाटक का शरीर माना जाये तो

पात्र उस शरीर के प्राण है। कथानक में संयोजित घटनाओं की अवतारणा पात्रों के साथ होती है। पात्र का स्वरूप नाटककार की जीवन दृष्टि के अनुरूप निर्मित होता है और यह बहुत ही सहज और स्वाभाविक है। परम्पराओं के परिवर्तित होने के साथ-साथ मान्यताओं में भी बदलाव आ जायेगा। यह एक सहज प्रक्रिया है और यही सहजता नाटकीय सिद्धान्तों पर भी दृष्टव्य हैं।

आधुनिक हिन्दी नाटक जिन परिस्थितियों में जन्मा उनमें मानव जीवन के अनेक क्षेत्रों में परिवर्तन हुआ। अतः सामाजिक परिवर्तन के साथ-साथ नाटकों के प्रतिमानों में भी परिवर्तन स्वाभाविक था। मानवीय मूल्यों और परम्पराओं में जो परिवर्तन होता है उसके प्रतिफलन के रूप में नाटकों की पात्र-संरचना में भी बदलाव संभव हुआ है। यही परिवर्तन प्रसाद के नाटकों के पात्रों के संबंध में भी देखा जा सकता है। हिन्दी के प्रारंभिक नाटकों से भिन्न होकर पहली बार प्रसाद ने ही पात्रों को व्यक्तित्व प्रदान किया। इस संबंध में डॉ. नगेन्द्र का कथन है - "प्रसाद आधुनिक साहित्य के सबस महान स्रष्टा थे। उन्होंने अपने नाटकों में अमर पात्रं की सृष्टि की है जो सभी अपना स्वतंत्र एवं प्राणवान व्यक्तित्व रखते हैं।"[1] इससे यह बात स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद ने अपने पात्रों के माध्यम से नाटक साहित्य में प्राण फूँकने का कार्य किया। उनके पात्रों में व्यक्तित्व, सजीवता, स्वाभाविकता आदि अनेक ऐसे गुण पाये जाते हैं जिनके कारण उनके चित्र मन में अनायास ही अंकित हो जाते हैं।

---

1. डॉ. नगेन्द्र - आधुनिक हिन्दी नाटक - पृ. 9

प्रसाद ने अपने पात्रों को अधिक से अधिक सहानुभूति दी और उनके अन्तर्द्वन्द्व और बाह्य संघर्षों को अत्यंत मार्मिक ढ़ंग से चित्रित किया। उनके पात्रों की एक खासियत यह है कि वे परम्परा युक्त मान्यताओं और नाटकीय सिद्धान्तों का अतिक्रमण कर जाते हैं। उनके पात्रों एवं उनके चरित्र चित्रण की विवेचना उसकी विविध परिस्थितियों तथा उनके प्रति उनकी प्रतिक्रियाओं के आधार पर करनी होगी। इस कारण उन्हें परम्परागत नेता संबंधी सिद्धान्तों के आधार पर आंका जाना पूर्ण रूप से पराजय होगा। इसके बदले उन्हें थोड़े विस्तृत फलक पर विश्लेषण करना अधिक समीचीन होगा।

प्रसाद के नाटकीय पात्रों में सत्-असत् और हृदय तथा बुद्धि का द्वन्द्व मुख्य है। ऐसा लगता है कि वे यथार्थ जीवन के अनुभव और दार्शनिक चित्न के बीच समझौता करने में लगे रहे जिसकी छाया उनके पात्रों पर सर्वत्र दिखाई देती है। उनके पात्रों की सामान्य विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए उन्हें निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है-

- भारतीय संस्कृति के प्रतीक पात्र
- राष्ट्रीय एकता और स्वतंत्रता के प्रतीक पात्र
- आदर्श पात्र (मुख्यतः भारतीय नारीत्व के प्रतिनिधि)
- वेदना, विरह, प्रेम, बलिदान आदि विभिन्न परिस्थितियों में टूटने और निर्मित होने वाली नारियों
- महत्वाकांक्षी पात्र

सर्वप्रथम भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि पात्रों की गणनना की जाती है। यह पूर्व उद्धृत है कि प्रसाद के व्यक्तित्व पर शैव तथा बौद्ध दर्शन, वेदांत, गीता, नियतिवाद का पर्याप्त प्रभाव पडा है। इस कारण उनके द्वारा निर्मित नाटकीय पात्र शैव दर्शन के समरसतापूर्ण आनंदवाद, बौद्धों की करुणा, और गीता के कर्मवाद से अनुरंजित नज़र आते हैं। प्रसाद के मत में भारतीय संस्कृति के केंद्र में उदारता, विशालता और गहराई है जो जगत के उलझे हुए रहस्य को सुलझाकर विश्व कल्याण में सहायक होगा। भारतीय संस्कृति के प्रतीक के रूप में चित्रित पात्र उनके नाटकों के सबसे उदात्त और महान चरित्र है। 'विशाख' में 'प्रेमानन्द', 'जनमेजय का नागयज्ञ' में वेदव्यास, 'अजातशत्रु' में भगवान् बुद्ध, 'चन्द्रगुप्त' में दाण्डयायन, 'ध्रुवस्वामिनी' में मिहिरदेव आदि चरित्र विश्वकल्याण के पथ की ओर अग्रसर है। ये आध्यात्मिक महात्मा की कोटि में आते हैं। वस्तुतः नाटक की समस्त घटनाएँ इन्हीं महापुरुष के इर्द-गिर्द घटित होती है। असंतुलित स्थितियों में संतुलन लाने का दायित्व इन चरित्रों पर है। ये पात्र आध्यात्मिकता के तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करते हैं। नाटककार ने इन पात्रों की अवतारणा बड़े प्रभावात्मक ढ़ंग से किया है।

'अजातशत्रु' का गौतम बुद्ध मागंधी के पीड़ित हृदय को शान्ति का संदेश देते हुए कहता है - "विश्व के कल्याण में अग्रसर हो। असंख्य दुःखी जीवों को हमारी सेवा की आवश्यकता है। इस दुःख समुद्र में कूद पड़ो। यदि एक भी रोते हृदय को तुमने हँसा दिया तो सहस्रों स्वर्ग तुम्हारे अंदर में विकसित होंगे। ....विश्वमैत्री हो जायगी - विश्वंभर अपना कुटुम्ब दिखाई पड़ेगा। उठो, असंख्य आहें तुम्हारे

उद्योग से अट्टहास में परिणत हो सकती है।"[1] मानवता की घोषणा करने वाला यह संदेश करुणा, दया, त्याग और परोपकार जैसी उत्कृष्ट भावनाओं से संचालित है। प्रसाद ने गौतम के ज़रिये समस्त कार्य व्यापार की तीव्रता में अहिंसा और दया की शक्ति भर देने का कार्य किया है। इस श्रेणी के अंतर्गत आने वाले समस्त पात्र इसी प्रकार त्याग और विश्व-शान्ति की घोषणा करते हैं। इन सभी चरित्रों में ममता, क्षमा, प्रेम और सहिष्णुता की उदात्त भावनाओं का पूर्ण विकास देखा जा सकता है। उनके इन पात्रों का मानवतावाद आध्यात्मिक शक्ति द्वारा नियंत्रित रहता है क्योंकि मानवता ही इन पात्रं का ध्येय है। मनुष्यता की स्थापना ही इनका तप है, जिसके लिए वे सतत् कर्मनिरत है।

प्रसाद की साहित्यिक चेतना विभिन्न देश व्यापी आंदोलनों के बीच विकसित हुआ। एक तरफ विदेशी सत्ता के द्वारा त्रस्त और आक्रान्त भारत था तथा दूसरी तरफ भूख, अराजकता, शोषण और अत्याचार के भीषण दृश्य थे। राष्ट्र पुनरुत्थान के लिए पुकार रहा था। एक संवेदनशील रचनाकार की भांति प्रसाद ने यह पुकार सुन ली। इसीलिए उनके नाटकों में ऐसे पात्रों की अवधारणा हुई जो राष्ट्र के उद्धार के लिए सक्रिय है तथा जिसका व्यक्तित्व राष्ट्रीय और सुधारवादी आंदोलनों से अत्यंत प्रभावित था। इन पात्रों में हर्षवर्धन, स्कंदगुप्त, पर्णदत्त, सिंहरण, बंधुवर्मा, चाणक्य, चन्द्रगुप्त, अलका, मालविका, मन्दाकिनी आदि प्रमुख हैं। इनमें प्रत्येक

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी, खण्ड-2 - पृ. 281

पात्र अपनी वैयक्तिक विशिष्टताओं के साथ राष्ट्र की रक्षा का, राष्ट्र के संगठन का और राष्ट्र के हित का प्रश्न साथ लेकर जीता है।

'राज्यश्री' में हर्ष एक ऐसे राष्ट्र का निर्माण करना चाहता है जो दया और धर्म पर आधारित हो। हर्ष पुलकेशिन से कहता है "…..यह एक संयोग है कि कामरूप से लेकर सुराष्ट्र तक, काश्मीर से लेकर सेवा तक, एक सुव्यवस्थित राष्ट्र हो गया। मुझे और न चाहिये। यदि इतने ही मनुष्यों को सुखी कर सकूँ। राजधर्म का पालन कर सकूँ तो कृतकृत्य हो जाऊँगा।"[1] इस तरह हर्ष अपनी उदारता की अभिव्यक्ति करता है।

राष्ट्रीयता एवं देश प्रेम का विस्तृत एवं दिव्य रूप 'स्कन्दगुप्त' नाटक में प्राप्त होता है। स्कन्दगुप्त मूलतः राष्ट्र का सैनिक और रक्षक है। स्कन्द का सारा आयोजन, कार्य प्रणाली उसे एक कर्मठ तथा निर्लोभ राष्ट्रीय नेता सिद्ध करते हैं। वह मालव में अभिषिक्त होने पर अपने राष्ट्रीय दृष्टिकोण को व्यक्त करता हुआ कहता है - "आर्य! इस गुरु भार उत्तरदायित्व का सत्य से पालन कर सकूँ और आर्य राष्ट्र की रक्षा में सर्वस्व अर्पण कर सकूँ, आप लोग इसके लिए भगवान से प्रार्थना कीजिए और आशीर्वाद दीजिए कि स्कंदगुप्त अपने कर्त्तव्य से स्वदेश - सेवा से कभी विचलित न हो।"[2] इस कथन से वीर स्कंद के निःस्वार्थी, सत्यनिष्ठ तथा पराक्रमी सेवक का स्पष्ट परिचय मिल जाता है। स्कंदगुप्त का उल्लेखनीय

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी, खण्ड-2 - पृ. 137
2. वही - पृ. 508

गुण यह है कि उनका आत्म बल तथा स्वावलम्बन समस्त आपत्तियों के विरुद्ध उसे अकेला खड़ा करता है।

इस लड़ाई में स्कंदगुप्त का हाथ बंटाने वाले अन्य देश प्रेमी हैं - पर्णदत्त, बंधुवर्मा, तथा कवि मातृगुप्त। पर्णदत्त गुप्त साम्राज्य का एक अनुभवी सेनापति। कु भा की दुर्घटना के बाद विपर्यस्त देश को संगठित करना उसके चरित्र की सबसे बडी विशेषता है। जनबल में उसका अटूट विश्वास है। देशभक्ति की बलिवेदी पर आत्माहुति देने वाला बंधुवर्मा राष्ट्र का बिना दाम का कलंक-रहित, तेजस्वी सेवक है। कवि मातृगुप्त अपनी कविता से समस्त देश में प्राण फूँक देने का कार्य करता है। इन सभी देशभक्तों के सहयोग से स्कंदगुप्त हूणों को पराजित करने में समर्थ हो सका।

'स्कन्दगुप्त' से एक कदम ऊपर बढ़े है 'चन्द्रगुप्त' के पात्र। इसमें प्रसाद ने चाणक्य, चन्द्रगुप्त, सिंहरण, अलका जैसे उत्कृष्ट वीर चरित्रों का सृजन करके देशभक्ति के आग को अधिक भड़काया है। प्रसाद की सर्वोत्तम, सशक्त सृष्टि है 'चाणक्य'। चाणक्य आर्य साम्राज्य का निर्माण कर्ता है। देश के कल्याण के लिए अनके खण्ड राज्यों को मिटाकर वह एक शक्तिशाली केन्द्रीय राज्य सत्ता की स्थापना करना चाहता था। उनके समस्त आयोजनों के मूल में दो ही कार्य है। पहला, विदेशियों को देश से बाहर खदेडना और दुसरा, एक केन्द्रीय व्यवस्था की स्थापना करना। इस लक्ष्य की पूर्ति को मद्धे नज़र रखते हुए उन्होंने सिंहरण को मालव और मगध का भेद मिटाकर आर्यवर्त का नाम देने का उपदेश दिया, तक्षशिला के गुरुकुल में ही वे यवनों की गतिविधि के प्रति जागरूक हुये, मालवों

और क्षुद्रकों की बिखरी सैन्य शक्तियों को चन्द्रगुप्त के अधीन लाने का निश्चय आदि उनकी विशाल आयोजना के प्रमाण है। उनकी बुद्धि अत्यंत तीक्षण और परिपक्व है। कर्त्तव्य के पालन में भावावेग को वह कोई स्थान नहीं देता - चन्द्रगुप्त तक के संवेगों को वह बार-बार चोट पहुँचाता है। वे कर्मवाद में विश्वास करनेवाले आत्मविश्वासी और सतर्क है। समकालीन राजनीति में ऐसे प्रतिष्ठित, सच्चा देश-प्रेमी, जन-हितैषी व्यक्ति ढूँढ पाना असंभव है, राष्ट्र की अवनति के लिए यह भी एक कारण है। राष्ट्र की एकता को अपना जीवन ध्येय मानकर उन्होंने जीवन के सुख, वैभव और प्रेम को सहज भाव से त्याग दिया।

तक्षशिला के गुरुकुल से पाँच वर्षा अध्ययन की पूर्ति करके लौटा चन्द्रगुप्त कुलीन, त्यागी, रूप-यौवन और उत्साह से युक्त, चतुर एवं सुशील पुरुष है। जिस समय आर्यावर्त विदेशियों से आक्रान्त तथा अव्यवस्थाओं से जर्जर हो रहा था, उस समय चाणक्य की देखरेख में चन्द्रगुप्त ने जो साहस और पराक्रम दिखाया उससे वह अत्यंत उच्चकोटि का देश-सेवक सिद्ध होता है। विनय-शीलता, क्षमा आदि गुणों से वह संपन्न है। वह आत्मसम्मान के लिए मर मिटना ही दिव्य जीवन मानता है। उसकी एक ओर विशिष्टता है मैत्री में उदारता तथा आत्मविश्वासपूर्ण दृढ़ संकल्प लेना। विदेशियों की रणनीति से परिचित होने के कारण वह भारतीय युद्ध प्रणाली में भी परिवर्तन करता है। उसके जीवन का ध्येय ही यवनों को देश की सीमा से हटाना है। वह सिंहरण से कहता है - "....हमें आक्रमणकारी यवनों को यहाँ से हटाना है, और उन्हें जिस प्रकार हो भारतीय सीमा के बाहर करना है।

इसलिये शत्रु की ही नीति से युद्ध करना होगा।"[1] एक चतुर वीर योद्धा के समान स्वदेश की रक्षा के लिए कूद पड़ने की ललक इस कथन में व्यक्त है। वस्तुतः चन्द्रगुप्त गंभीर स्वभाववाला, आत्मप्रशंसा के भाव से हीन, दृढ़ चरित्र रखनेवाला है।

चन्द्रगुप्त का मित्र सिंहरण अनन्य देशभक्त, वीर और कुशल सैनिक है। "जन्मभूमि के लिए ही यह जीवन है।"[2] सिंहरण का यह कथन उसके राष्ट्र प्रेम को स्वयं प्रकाशित करता है। सिंहरण पर्वत की तरह अचल और धारा की तरह प्रवाहित है। वह वीरता और शौर्य का आदर्श प्रतीक है। इन पुरुष वीरों के साथ अलका जैसे सशक्त नारी, जो राष्ट्रीयता के प्रतीक है, का चित्रण करके प्रसाद ने उसे प्राचीन इतिहास से हटाकर आधुनिक इतिहास से जोड दिया है। वह अपने पिता गांधार नरेश से कहती है, "महाराज मुझे दण्ड दीजिए, कारगार में भेजिए, नहीं तो मैं मुक्त होने पर भी यही करूँगी। कुल पुत्रों के रक्त से आर्यावर्त की भूमि सिंचेगी...। वे इसकी मान-प्रतिष्ठा और रक्षा के लिए तिल-तिल कट जायेंगे।"[3] विदेशी आक्रमणकारियों को निकालने तथा देश को एकसूत्र में बाँधने के लिए सदा सक्रिय रूप से लड़ाई में योग देने वाली अलका की देशभक्ति का उत्तम नमूना है, यह वक्तव्य। उसके चरित्र का एक और वैशिष्ट्य यह है कि वह ज़रूरत के वक्त तलवार उठाती है और घायलों की सेवा-शुश्रूषा भी करती है। सेवा भाव से भूषित, देशानुराग से मिश्रित स्वाभिमान ही उसके चरित्र को सुशोभित करने वाला तत्त्व है।

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी, खण्ड-2 - पृ. 677
2. वही - पृ. 640
3. वही - पृ. 645

इन ऐतिहासिक चरित्रों के माध्यम से पराधीन भारत को स्वाधीन बनाने की प्रेरणा जगाना और उसके लिए जन-समूह को कर्मनिरत करना ही प्रसाद का ध्येय था।

भारतीय संस्कृति के अनन्य भक्त प्रसाद ने अपने नाटकों में सबकुछ समर्पित करके सुख का अनुभव करनेवाले आदर्श नारी पात्र का अंकन किया है। उनके नाटकों में आत्मसमर्पण की भावना से ओत-प्रोत, आदर्श, भावुक नारी का अंकन किया गया है जिनमें प्रमुख हैं - कोमा, मल्लिका, चन्द्रलेखा, देवसेना, वासवी आदि। "प्रसाद ने अपने नाटकों में जिन काल्पनिक पात्रों की सृष्टि की है उनमें उनके अंतर की उदात्त आदर्श कल्पना का रूप है।"[1] डॉ. मित्तल का यह कथन सार्थक है क्योंकि प्रसाद ने भारतीय नारीत्व को प्रकट करने के लिए आदर्श का ही सहारा लिया है।

भारतीय नारीत्व के तमाम श्रेष्ठ गुणों से सिंचित ये नारी पात्र जीवन के कटु यथार्थ से टकराते वक्त भी अपनी सात्विक वृत्ति का परित्याग नहीं करती। 'अजातशत्रु' की मल्लिका प्रसादजी की नारी गरिमा से प्रसूत एक आदर्श प्रतिमा है। उसका वीर प्रियतम बंधुल युद्धभूमि में जाता है और वह महामाया से कहती है - "वह मेरे अनुराग सुहाग की वस्तु है, फिर भी उनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व है, जो हमारी श्रृंगार मजूंषा में बन्द करके नहीं रखा जा सकता। महान हृदय को केवल विलास की मदिरा पिलाकर मोह लेना ही कर्तव्य नहीं है।"[2] कुसुम से कोमल

---

1. डॉ. ब्रजकुमार मित्तल - नाटककार प्रसाद और द्विजेन्द्रलाल राय - पृ. 154
2. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी, खण्ड-2 - पृ. 242

व्यक्तित्व की धनी मल्लिका कर्त्तव्य की भूमिका में वज्र से भी कठोर है। पति परायण मल्लिका अपने पति के उत्तरदायित्व से भली भांति परिचित है और इसी कारण वह अपने पति के स्वतंत्र व्यक्तित्व को केवल अपने प्रेम पाश में बाँधकर रखना नहीं चाहती है। पूरे नाटक में कई स्थलों पर वह शान्ति, ममता, दया, करुणा आदि की प्रतिमूर्ति बनकर उभरी है।

'स्कन्दगुप्त' की देवसेना मालव नरेश बंधुवर्मा की बहन है। वह देशभक्ति प्रधान, त्यागमयी, भावुक करुण रस प्रधान आदर्श नारी है। वह संगीतप्रिया है। वह सृष्टि के प्रत्येक परमाणु में एक सम देखती है और प्रत्येक हरी पत्ती के हिलने में एक लय। वह निःस्वार्थ रूप से स्कन्दगुप्त के प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए अपने प्रेम की महानता को बढ़ाती है। वह अपने आप से कहती है "हृदय की कोमल कल्पना! सो जा! जीवन में जिसकी संभावना नहीं, जिसे द्वार पर आये हुए लौटा दिया था, उसके लिए पुकार मचाना क्या तेरे लिए कोई अच्छी बात है? आज जीवन के भावी दुःख, आशा और आकांक्षा - सबसे विदा लेती हूँ।"[1] जब भी उसके हृदय में एक इच्छा जन्म लेने लगती है तभी वह उसे मुरझाती हुई आगे बढ़ने का प्रयास करती है तथा जीवन की आशा, आकांक्षा तथा सुख से विदा लेकर अपने आदर्श रूप को ज्वलंत रखती है।

चन्द्रलेखा, सुश्रवा नागसरदार की सुन्दरी कन्या है। 'विशाख' नाटक की आधार शिला है। वह विशाख की निर्भीक एवं सौम्य मूर्ति से प्रभावित है। कानीर

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी, खण्ड-2 - पृ. 556

विहार का बौद्ध महन्त चन्द्रलेखा की सुन्दरता पर मुग्ध होकर उसे अपने विहार के प्रकोष्ठ में बंदिनी बनाकर रखता है। ऐसी स्थिति में वह स्वयं से कहती है - "....इस कुत्सित कोठरी में आँख बंद कर उसी स्वर्ग का आनन्द लेती हूँ।..."[1] ऐसी विकट परिस्थिति में भी उसे विशाख के प्रेम में स्वर्ग के समान आनन्द मिलता है। यह इस बात को प्रकट करता है उसका प्रेम बहुत दृढ़ है और वह आदर्श पवित्रता नारी के समान आद्यन्त अपने कर्त्तव्य का पालन करती है। कोई भी प्रलोभन उसे अपने पद से विचलित करने में सक्षम नहीं होता। महापिंगल के प्रस्ताव को ठुकराते हुए वह कहती है - "....मेरी इस झोपड़ी में राजमंदिर से कहीं बढ़कर आनन्द है। हमारे नरपति के सुराज्य में हम लोगों को कानन में भी सुख है।"[2] विश्व के सभी वैभव उसके स्वाभिमानी व्यक्तित्व के आगे तुच्छ एवं निस्सार सिद्ध होते हैं।

'अजातशत्रु' की वासवी, 'चन्द्रगुप्त' की मालविका, 'ध्रुवस्वामिनी' की कोमा आदि पात्रों की गणनना भी आदर्श नारी की पंक्ति में की जाती है। निःस्वार्थ होकर आत्मसमर्पण करने की भावना इस सभी पात्रों में समान रूप से प्रबल है जो इन्हें आदर्श भारतीय नारीत्व की प्रतिष्ठित मूर्ति सिद्ध करती है। इन पात्रों के आदर्श को भारतीय चिन्तन ही निजत्व प्रधान करता है। इन आदर्श चरित्रों के चित्रांकन में प्रसाद ने नारी के समस्त उदार रूपों और भावों का अत्यंत प्रभावी रूप में अंकन किया है।

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी, खण्ड-2 - पृ. 167
2. वही - पृ. 177

जीवन का रुख निर्णय करने में परिस्थिति का बहुत बड़ा हाथ है। इसलिए प्रतिकूल परिस्थिति में जीवन का मोड भी मुड़कर बिखर सकता है। इस बिखराव का शेष पत्र वेदना और पीड़ा है। इस वेदना का ज्वार तब और भी गहरा हो जाता है जब चरित्र भौतिक रूप से समर्थ होते हुए भी उसके बाहर की परिस्थिति उसके प्रतिकूल हो जाती है। इस ढ़ंग के पात्रों का चरित्रांकन भी प्रसाद ने अपने नाटकों में किया है। कल्याणी, देवसेना, ध्रुवस्वामिनी, सुवासिनी आदि इसी कोटि के अंतर्गत आनेवाले पात्र हैं। इनके जीवन में अनेक प्रकार की आपत्तियाँ आती हैं। जनके थपेड़ों को सहते हुए वह आगे बढ़ते हैं। आन्तरिक मन की इच्छा और बाह्य सामाजिक मर्यादाओं के बीच जो असामंजस्य है, ये सभी पात्र इसी से उबरी प्रश्नों का शिकार है। इन सबको आरंभ से ही अपने प्रेम से हाथ धो बैठना पड़ता है। अपने खोये हुए प्रेम और टूटे हुए सपनों को लेकर ये चरित्र मौन है, शान्त है। इसके प्रति इन्हें न तो शिकायत है, न ही विद्रोह। विषम परिस्थितियों का सामना करते वक्त भी ये चरित्र अपने कर्त्तव्यों से मुँह नहीं मोडते, यह इनकी सबसे बड़ी विशिष्टता है। इनकी जिन्दगियाँ आदि से अंत तक अभावमय ही रहता है।

प्रसाद ने अपने नाटकों में विरोधी कारकों का अंकन भी किया है। ईर्ष्या-द्वेष, लालसा, हिंसा, देशद्रोह, विलासिता आदि हीनताओं से भरे पात्र के दर्शन भी, प्रसाद के नाटकों में, होता है। महत्त्वाकांक्षा ही इन चरित्रों के जीवन का आधार है। 'राज्यश्री' में विकटघोष, सुरमा, 'अजातशत्रु' का अजात, विरुद्धक, 'स्कंदगुप्त' का भटार्क, पुरगुप्त, प्रपंचबुद्धि, अनन्तदेवी, विजया आदि, 'चन्द्रगुप्त' का पर्वतेश्वर, नन्द, आम्भीक आदि। 'ध्रुवस्वामिनी' का रामगुप्त, शकराज आदि। ये सभी जीवन

में वैभव, शक्ति और प्रतिष्ठा चाहते हैं। इसके लिए वे समस्त नैतिक मूल्यों को ठोकर मारते हैं।

इन चरित्रों की निष्ठुरता इनके पारिवारिक संबंधों तक में अनोखी स्थितियाँ पैदा करती हैं। सुरमा के कारण राज्यश्री के जीवन में दर्द के बादल मंडराने लगते हैं। छलना और शक्तिमती की महत्वाकांक्षा यथाक्रम उनके पुत्रों अजातशत्रु और विरुद्धक को असत् के रास्ते पर लाकर खड़ा कर देती है। अनन्तदेवी के कारण स्कन्दगुप्त के परिवार पर दुःख के पहाड टूट पड़ते हैं। अनन्तदेवी की लालसा पुरगुप्त, भटार्क, विजया आदि को महत्त्वाकांक्षी बना डालते हैं। नन्द, आंभीक तथा पर्वतेश्वर चन्द्रगुप्त को गुमराह करके अधिकार हासिल करने के कई षड्यंत्र रचते हैं लेकिन अंत हमेशा सत्य की होती है। चाणक्य के मार्गदर्शन में चंद्रगुप्त समस्त आर्यावर्त की रक्षा करने में सफल ठहरता है। शकराज की महत्वाकांक्षाओं को 'ध्रुवस्वामिनी' में चन्द्रगुप्त असफल बना डाला देता है।

इन पात्रों के अंत के संबंध में प्रसाद ने व्यक्त चित्र उपस्थित किया है। इनमें पहला कदम हृदय परिवर्तन का है। सुरमा, विकटघोष, अजात, छलना, शक्तिमती, अनन्तदेवी, पुरगुप्त, आदि चरित्र अपनी भूलों को स्वीकार करते हुए नयी जिन्दगी की ओर कदम बढ़ाते हैं। भटार्क, विजया, पर्वतेश्वर, शकराज आदि अपने प्राण त्याग देते हैं। इस ढ़ंग के अंत को स्वीकार करते हुए प्रसाद ने आदर्शवाद और सामरस्य की स्थापना का प्रयास किया है जो पूर्णतः सफल नहीं कह सकते हैं।

वस्तुतः प्रसाद के पात्रों को शास्त्रीय पद्धति के कठघरे में खड़ा करके नायक को धीरोदात्त और प्रतिनायक को धीरोद्धत कहना अपूर्ण होगा क्योंकि शास्त्रीय बंधनों को तोड़ते हुए प्रसाद ने इन चरित्रों के निर्माण में मौलिकता का सहारा लिया है। आरंभकाल के नाटकों में चरित्रों की मानसिकता का स्थूल वर्णन करने के पश्चात् प्रसाद ने अपना प्रौढ़तम कृतियों में चरित्रों के मनोवैज्ञानिक आयामों को सशक्त ढंग से अभिव्यक्त किया है। साथ ही ये पात्र आज के संदर्भ में अपने ऐतिहासिक अस्तित्व को व्याख्यायित करते हैं और युग की राष्ट्रीय, सुधारवादी तथा मानवतावादी चेतना को मुखर करते हैं।

इन चरित्रों के अतिरिक्त प्रसाद ने कई विदेशी पात्रों का अंकन भी किया है। सुएन्च्वांग, सिकंदर, सिल्यूकस, लंका राजकुमार आदि पात्र इसके उदाहरण है। इन चरित्रों की सृष्टि में सार्थकता का अभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे मात्र कुछ पंक्तियाँ कहने के लिए नाटक में उपस्थित होते हैं, न कि कथानक के अनुरूप। कुछ एक विदूषक पात्रों का सृजन भी प्रसाद ने किया है। यूँ तो विदूषकों का अंकन परिहास को दृष्टि में रखकर किया जाता है लेकिन प्रसाद के नाटकों में विषय की गंभीरता को कारण, इसका अवसर कम ही प्राप्त हुआ है। विदूषक, महापिंगल, कश्यप आदि की अवधारणा इसी नज़र से हुई है। इनकी मुख्य विशेषताएँ हैं - अपने विनोदपूर्ण व्यंग्यों से लोगों को प्रसन्न करना, राजाओं की आलोचना करना, उनकी अभीष्ट सिद्धि में योग देना। कुछ अपवादों को छोड़ा जाए तो प्रसाद ने कथानक की गति के अनुरूप चरित्रों के निर्माण करने की सफल कोशिश की है।

2.3 संवाद सौष्ठव

साहित्य में अभिव्यक्ति के लिए भाषा की आवश्यकता होती है और नाटक में भाषा की इस अभिव्यक्ति की पूर्ति संवादों के द्वारा होती है। इसलिए संवाद नाटक के नींवाधार तत्त्व है। संवाद नाटक का अभिन्न तत्व हैं क्योंकि नाटक संवादों में ही लिखा जाता है। इस संदर्भ में गिरिजा सिंह के कथन का उल्लेख करना सर्वदा सार्थक होगा। वे लिखती है - "आजकल कथोपकथन को नाटक का महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है क्योंकि कथावस्तु का विकास, पात्रों के चरित्र का परिचय, घात-प्रतिघात आदि के लिए इसी का सहारा लेना पड़ता है। कथोपकथन के अभाव में नाटक के अधिकांश कार्य संभव नहीं हो सकते।"[1] यहाँ उन्होंने न केवल संवाद के महत्त्व को प्रतिपादित किया है बल्कि नाटक के अन्य तत्त्वों के साथ उसकी पारस्परिकता की ओर भी ध्यान दिया है।

संवाद नाटक का अविभाज्य अंग है। दूसरे शब्दों में कहे तो, मूलतः नाटक संवाद रूप होती है। कथावस्तु को गतिशील अथवा अगतिशील सुश्रृंखल अथवा विश्रृंखल बनाने का श्रेय संवाद को है। वस्तुतः नाट्यवस्तु को रूपायित करके उसे फलागम की ओर अग्रसर करने वाले तत्त्व संवाद ही है। अन्य साहित्यिक विधाओं से भिन्न होकर नाटककार नाटक में प्रत्यक्ष नहीं होता वरन् वह माध्यम से अपने हृदयगत भावों को वाणी देता है। इस वाणी के ज़रिये नाटककार अपना दृष्टिकोण, जीवन और जगत से संबंधित दार्शनिक विचारों को व्यक्त करता

---

1. गिरिजा सिंह - हिन्दी नाटकों की शिल्प विधि - पृ. 330

है साथ ही नाटक के उद्देश्य को स्वाभाविकता के साथ, संवाद पाठक के सामने प्रकाशित करता है।

संवाद संबंधी धारणा हर युग में प्रचलित थी। भारतेन्दु युगीन नाटकों ने नाट्यशास्त्र का ध्यान रखते हुए संवादों की सृष्टि की थी। इस परम्परा को परिवर्तित करते हुए नाट्य जगत में प्रसाद का आगमन हुआ। न ही प्रसाद ने नाट्य शास्त्र का निषेध किया और न ही उसका पूर्णतः अनुसरण। प्रसाद ने अपने संवादों की संरचना में कथा को गति देने, क्रिया-व्यापार और चरित्र की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विशेषताओं को उद्‌घाटित करने के, तथ्य का पूरी तरह से निर्वाह किया है। अपने पूर्ववर्ती परम्परा से भिन्न होकर प्रसाद ने गद्य संवादों की नवीन परम्परा की शुरुआत की। उनके व्यक्तित्व की दार्शनिकता का पुट उनके संवादों में भी लक्षित किया जा सकता है। बुद्ध, चाणक्य, च्यवन, कश्यप आदि आचार्यों के कथन इसके उत्तम नमूने हैं। इस कारण संवाद कई जगह अस्पष्ट भी हो गए हैं।

प्रसाद के संवादों की खासियत यह है कि वे कथा के विकास के आधार हैं। विशाख और चन्द्रलेखा, भिक्षु और सुश्रवानाग के संवाद 'विशाख' की कथा को आरंभ में ही गति देते हैं। समान रूप से अजातशत्रु के आरंभ का लुब्धक का कथन "....आज मैंने जब एक मृगशावक को पकडा, तब उसकी माता ने ऐसी करुणा भरी दृष्टि से मेरी ओर देखा कि उसे छोड ही देते बना।"[1] प्रतीकात्मक ढ़ंग से कहे गये इस कथन से ही अजातशत्रु, छलना और वासवी के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है और कथानक गतिशील भी बनता है।

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी, खण्ड-2 - पृ. 211

स्वगत कथनों के प्रयोग से भी कथानक को गति प्राप्त हुई है जैसे 'स्कन्दगुप्त' के प्रथम अंक के प्रथम दृश्य का स्वगत है -

"स्कन्दगुप्त : (टहलते हुए) अधिकार सुख कितना मादक और सारहीन है। ....(ठहरकर) उँह ! जो कुछ हो, हम तो साम्राज्य के एक सैनिक हैं।"[1]

इस स्वगत में एक सजीव तथा कर्त्तव्यनिष्ठ सैनिक की नियति है जो उसके कर्म-क्षेत्र में कूद पड़ने का संकेत करती है और यही कर्मनिरता के बल पर स्कन्द हूणों को पराजित कर आर्यावर्त में शान्ति पुनःस्थापित करता है। 'चन्द्रगुप्त' में चाणक्य का कथन भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है-

"चाणक्य : (व्यासपीठ से) उत्तरापथ के प्रमुख गणतंत्र मालव राष्ट्र की परिषद् का मैं अनुगृहीत हूँ कि ऐसे गंभीर अवसर पर मुझे कुछ कहने के लिये उसने आमंत्रित किया। गणतंत्र और एक राज्य का प्रश्न यहाँ नहीं, क्योंकि लिच्छवि और वृजियों का अपकार करनेवाला मगध का एक राज्य, शीघ्र ही गणतंत्र में परिवर्तित होनेवाला है। युद्ध काल में एक नायक की आज्ञा माननी पड़ती है। वहाँ श्लाका ग्रहण करके, शास्त्र प्रहार करना असंभव है। अतएव सेना का एक नायक तो होना ही चाहिये। और यहाँ का परिस्थिति में चन्द्रगुप्त से बढ़कर इस कार्य के लिये दूसरा व्यक्ति न होगा। वितस्ता - प्रदेश के अधीश्वर पर्वतेश्वर के यवनों से संधि करने पर भी चन्द्रगुप्त ही के उद्योग का यह फल है कि पूर्वतेश्वर की सेना यवन-सहायता को न आयेगी। उसी के प्रयत्न से यवन-सेना में विद्रोह भी हो गया है, जिससे उसका आगे

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी, खण्ड-2 - पृ. 461

बढ़ना असंभव हो गया है। परन्तु सिकंदर की कूटनीति प्रत्यावर्तन में भी विजय चाहती है। वह अपनी विद्रोही सेना को स्थल मार्ग से लौटने की आज्ञा देकर नौबल के द्वारा स्वयं सिन्ध संगम तक के प्रदेश विजय करना चाहता है। उसमें मालवों का नाश निश्चित हैं। अतएव, सेनापतित्व के लिए आप लोग चन्द्रगुप्त की ही वरण करें तो, क्षुद्रकों का सहयोग भी आप लोगों को मिलेगा। चन्द्रगुप्त को ही उन लोगों ने भी सेनापति बनाया है।"[1]

इस दीर्घ कथन के द्वारा चाणक्य ने चन्द्रगुप्त के महत्त्व को प्रतिपादित करने के साथ ही भविष्य में होने वाले युद्ध की तैयारी का संकेत किया है। इसे कथानक के उद्‌घाटन का मर्म भी कह सकते हैं।

वस्तु परिचय के समान ही उनके संवादों से पात्रों के चरित्र का परिचय भी भली भांति प्राप्त होता है। इसके लिए उन्होंने पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग किया है। 'अजातशत्रु' में छलना का कथन है-

"छलना : पद्‌मा, तू क्या इसकी मंगल कामना करती है? इसे अहिंसा सिखाती है, जो भिक्षुओं की भद्‌दी सीख है? जो राजा होगा, जिसे शासना करना होगा, उसे भिखमंगों का पाठ नहीं पढ़ाया जाता। राजा का परम धर्म न्याय है, वह दण्ड के आधार पर है। क्या तुझे नहीं मालूम कि वह भी हिंसा मूलक है?

पद्‌मा : मेरी समझ में तो मनुष्य होना राजा होने से अच्छा है।"[2]

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी, खण्ड-2 - पृ. 673-674
2. वही - पृ. 212

इस संवाद के ज़रिये छलना और पद्मा की मनःस्थितियों और सोच का सही चित्रण पाठकों के सामने उपस्थित होता है। उनके हर नाटक के असत् पात्रों का कथन जैसे विकटघोष, सरमा, छलना, शक्तिमती, विरुद्धक, भटार्क, विजया, अनन्तदेवी, पुरगुप्त आदि के संवाद उनके भीतर के दानवों को प्रकट करने में अत्यंत सक्षम है।

इससे भिन्न होकर पात्रों के मनोबल का भी चित्र संवाद के ज़रिये उपस्थित किया गया है जैसे 'ध्रुवस्वामिनी' में ध्रुवस्वामिनी कहती है-

"ध्रुवस्वामिनी : .....ओह, तो मेरा कोई रक्षक नहीं?.... नहीं, मैं अपनी रक्षा स्वयं करूँगी। मैं उपहार में देने की वस्तु, शीतल-मणि नहीं हूँ। मुझमें रक्त की तरल लालिमा है। मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्म सम्मान की ज्योति है। उसकी रक्षा मैं ही करूँगा।"[1] अपने अभिमान की रक्षा के लिए दृढ़ निश्चय करते हुए अपने पति से विद्रोह करने के लिए वह मानसिक तौर से शक्ति समाहार करती है।

देवसेना, मालविका, कल्याणी आदि के संवादों से उनके मूक बलिदान का मर्मभेदी चित्र प्रसाद ने प्रस्तुत किया है। इन वेदना से भरे संवादों में प्रतीकों एवं बिम्बों का प्रयोग करते हुए स्वच्छंदताकालीन भाषा की विशिष्टताओं को भी नाटककार ने उभारा है। उदाहरण स्वरूप 'स्कन्दगुप्त' में देवसेना का कथन -

"देवसेना : तुमने एकान्त तीले पर, सबसे अलग, शरद के सुन्दर प्रभात में फूला, हुआ, फलों से लदा हुआ, पारिजात-वृक्ष देखा है। ....उसका स्वर अन्य वृक्षों से

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी, खण्ड-2 - पृ. 757

नहीं मिलता। वह अकेले अपने सौरभ की तान से दक्षिण पवन में कंपन उत्पन्न करता है, कालियों को चटकाकर ताली बजाकर, झूम-झूमकर नाचता है।"[1] इस कथन के ज़रिये देवसेना ने प्रतीकात्मक ढ़ंग से अपनी ही स्थिति को प्रकट किया है। ऐसा करने के लिए काव्यात्मक भाषा का आश्रय लिया है। देवसेना, कोमा, मालविका, कल्याणी आदि के संवादों में एक प्रकार की गीतिमय तरलता के दर्शन होते हैं।

प्रसाद के कवि व्यक्तित्व की छाप उनके लगभग सभी नाटकों में दृष्टव्य है। सभी नाटकों में परिवेश के अनुरूप गीतों का समावेश किया गया है। ये गीत पात्रों के तीव्र हृदयगत भावों को अभिव्यक्त करने में बहुत ही सक्षम है। 'कामना', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' आदि नाटकों के गीत संपूर्ण नाटक के कथानक को प्रश्रय देने के साथ ही पाठकों में एक नवीन स्फुर्ति भरने में सहायक है।

प्रसाद के नाटकों के संवादों के संबंध में यह आपत्ति उठाई जाती है कि उनके संवाद गहन दार्शनिकता से भरे हैं और ऐसे संवादों को नाटक से असंबद्ध माना जाता है। किन्तु अत्यंत गौरव के साथ इन नाटकों के अध्ययन करने से यह सच्चाई व्यक्त होगी कि नाटककार ने अपने युग से प्रेरणा ग्रहण करके ही ऐसे संवादों का रूपायन किया है। उनके युग की अनिवार्यता जैसे पौरुष, शौर्य, देश-प्रेम, कर्तव्यनिष्ठा, सात्विक प्रेम आदि तत्वों को उभारने के उद्देश्य से ही इनकी सृष्टि की गई। गोविन्द चातक के शब्दों में "....पुनरुत्थान के उस युग में प्राचीन

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी, खण्ड-2 - पृ. 490

भारतीय संस्कृति, दर्शन और जीवन मूल्यों की व्याख्या युग की चेतना से जुड़ी थी। ऐसे संवाद प्रसाद के नाटकों को प्रासंगिक गरिमा प्रदान करते हैं और युगीन मंच के भावों की गूँज प्रस्तुत करते हैं।"[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि मात्र दार्शनिकता के नाम पर इन संवादों के विभिन्न अर्थ स्तरों को नकारा नहीं जा सकता। निस्संदेह उनके संवाद पात्रानुकूलता तथा देशकालानुसारिता की कसौटी पर खर्रा उतरती है। यत्रतत्र दिखाई देनेवाले दोषों का परिहार कुशल निर्देशक तथा अभिनेताओं के संपादन से किया जा सकता है जिससे इसका सफल मंचन संभव हो सकता है। यह नज़रंदाज़ नहीं किया जा सकता कि अनुभूति तत्त्व, पात्रों के अंतर्द्वन्द्व एवं बहिरद्वन्द्व को समान कौशल के साथ उद्‌घाटित करने की क्षमता के साथ ही ये संवाद अनेक संरचनात्मक एवं शैलीय तत्वों से परिपूर्ण हैं जो पूर्णतः प्रसाद की भाषिक क्षमता का परिचायक है।

2.4 देशकाल और वातावरण

देशकाल नाटक का आवश्यक तत्त्व है, क्योंकि जिस काल-खण्ड से संबंधित कथा का चयन नाटककार ने किया है उसका स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत करने के लिए उनको इस तत्त्व का सहारा लेना ही पड़ेगा। देशकाल से तात्पर्य राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों की तत्कालीन अवस्था के चित्रण से है। अतीत की राजनीतिक-सामाजिक अवस्थाएं, रीति-नीति, वेश-भूषा, सभ्यता-संस्कृति आदि के सही चित्रण द्वारा नाटककार पाठकों को उस युग

---

1. डॉ. गोविन्द चातक - प्रसाद के नाटक : स्वरूप और संरचना - पृ. 257

में पहुँचाता है। पात्रों के चरित्र में वास्तविकता का आभास देने के लिए भी उनके चारों ओर की परिस्थिति तथा वातावरण की योजना की विशेष आवश्यकता है। इन तत्त्वों का पालन एक सीमा तक प्रसाद के नाटकों में सफल ढंग से हुआ है।

प्रसाद के संपूर्ण ऐतिहासिक नाटकों की सीमा जनमेजय से लेकर हर्षवर्धन तक है। इसे, उत्तर महाभारत युग, बौद्ध युग, मौर्य युग, गुप्तयुग तथा हर्षयुग भी मान सकते हैं। इन्हीं युगों में भारत का सांस्कृतिक गौरव सुरक्षित रहा है। राजा जनमेजय से लेकर हर्षवर्धन तक का काल भारतीयों के राजनीतिक धार्मिक तथा साहित्यिक उत्कर्ष की परम सीमा का है और इसी कारण इन नाटकों में इसका पर्याप्त चित्रण मिलता है। इसके लिए उन्होंने उन कालों की जनता के शासन प्रबंध, सामाजिक जीवन, धार्मिक विश्वासों, शिक्षा व्यवस्था, संगीत कला और साहित्य का यथातथ्य रूप चित्रित किया है।

इन नाटकों में तत्कालीन युगों की भारतीय संस्कृति के प्रौढ़तम स्वरूप की अभिव्यक्ति हुई है। साथ ही इनमें तत्कालीन राजनीतिक संगठनों, सामाजिक संघर्षों का राष्ट्रीय इतिहास भी हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। इन नाटकों में वातावरण की सृष्टि करने वाले घटना व्यापारों के साथ ही आर्यावर्त्त, उत्तरापथ, दक्षिणापथ, जंबूद्वीप आदि खंडों, हिमालय, बिंध्यापद आदि पर्वतमाला; अनेक नदियों जैसे सिंधु, गंगा, वितस्ता, विपाशा, रावी, सरयू, आदि; मगध, कौशल, काशी, गांधार, मालव, सौराष्ट्र आदि राज्यों; कौशांबी, कपिलवस्तु, तक्षशिला, उज्जयिनी, अयोध्या, स्थाण्वीश्वर आदि नगरों का उल्लेख हुआ है। इससे तत्कालीन भौगोलिक रूपरेखा भी स्पष्ट हो जाती है। रचनाकाल से परे इन नाटकों का ऐतिहासिक कालक्रमानुसार

गणना इस तरह होगी 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'अजातशत्रु', 'चन्द्रगुप्त', 'विशाख', 'ध्रुवस्वामिनी', 'स्कंदगुप्त तथा 'राज्यश्री'। इसमें प्रतिबिंबित विभिन्न परिस्थितियों का विश्लेषण आगे प्रस्तुत हैं।

2.4.1 राजनीतिक परिस्थिति

प्रसाद ने प्रत्येक नाटक में तत्कालीन समय की राजनीतिक उथल-पुथल का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' में जनमेजय के शासनकाल में हुए नागजाति के और ब्राह्मण दल के विद्रोह तथा उनके दमन का विस्तार से चित्रण किया गया है। 'अजातशत्रु' में बौद्ध धर्म के आविर्भाव काल के तीन प्रमुख राज्यों मगध, कौशल और वत्स के पारस्परिक संबंधों, कौटुंबिक कलहों एवं राजाओं के विरुद्ध राजकुमारों के विद्रोहों का स्पष्ट चित्रण किया गया है। 'चन्द्रगुप्त' में मौर्य शासनकाल के प्रारंभ की अवस्था एवं राजाओं के पारस्परिक विद्वेषों, जैसे पर्वतेश्वर का विरोध गांधार नरेश भी करता है और मगध का शासक भी, का सजीव परिचय प्रस्तुत किया गया है। मौर्य काल में ही विदेशियों का आक्रमण होने लगा था। पहले सिकंदर का दावा होता है, बाद में उसके सेनापति सिल्यूकस का अभियान दिखाई पड़ता है। ऐसी विकट परिस्थितियों में भी चाणक्य के बुद्धिबल और चन्द्रगुप्त तथा सिंहरण के पौरुष बल ने आश्चर्यजनक रूप में विदेशियों को पराजित करके भंगा दिया।

'स्कंदगुप्त' में तत्कालीन भयानक वस्तुस्थिति का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया गया है। शकों का विरोध चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल से ही प्रारंभ हो जाता है।

स्कन्दगुप्त के राज्यकाल में आकर स्थिति और भी भयावह हो जाती है। एक ओर पुष्यमित्रों का आक्रमण, दूसरी ओर हूणों का आक्रमण होता है। इस तरह एक के उपरांत दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा आक्रमण होता ही चलता है और इन सबके बीच आशा के केन्द्र में अकेला स्कन्द ही है। 'ध्रुवस्वामिनी' में गुप्त सम्राट पुरगुप्त की कायरता उसके कारण उत्पन्न कौटुम्बिक कलह, शासन अयोग्यता से उत्पन्न अव्यवस्था, चन्द्रगुप्त के शकों को पराजित करने और शासन संभालने का वर्णन हुआ है।

गुप्तों के उपरान्त विदेशियों का प्राधान्य बढ़ गया लेकिन हर्ष के समय में आकर फिर एक बार साम्राज्य स्थापना की चेष्टा की गई। मालव शासक ने कनौज के गृहवर्मा को मार डाला। हर्ष इसका प्रतिकार लेता है और मालव पर विजय हासिल करता है। हर्ष ने स्थान-स्थान पर पनप रहे नये राज्यांशों को एकसूत्र में बांधने का प्रयास किया था। इन ऐतिहासिक नाटकों में तत्कालीन राजनीतिक स्थिति के स्पष्ट चित्रण के लिए प्रसाद ने उस समय की शासन पद्धतियों, न्यायविधान, युद्धविधान तथा सेना आदि का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

2.4.2 सामाजिक परिस्थिति

प्रसाद ने अपने नाटकों में देश की सामाजिक स्थिति का भव्य चित्र उपस्थित किया है। इन नाटकों में तत्कालीन सामाजिक जीवन, सामाजिक ढाँचा, रहन-सहन, आमोद-प्रमोद तथा रीति-नीति आदि का विशद परिचय प्राप्त हो जाता है। तत्कालीन समाज का रूप वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित था। समाज विभिन्न

वर्गों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र में विभाजित था। जैन एवं बौद्ध धर्म ने भी इस भिन्नता का अंगीकार करते हुए मानवमात्र की समानता एवं विकास के लिए प्रयत्न किया।

संस्कृति के प्रधान निर्माता ब्राह्मण थे। जनमेजय काल में इनका बड़ा सम्मान था क्योंकि उस समय भी यज्ञ आदि वैदिक कृत्यों की प्रधानता थी। इन कृत्यों के आचार्य एवं मंत्रदाता ये ब्राह्मण ही थे। राजा और प्रजा के कल्याण को लक्षित करके ही वैदिक कर्मकांड चलता था और ब्राह्मण ही उसका नियामक था। इस कारण ये ब्राह्मण शिर स्थानीय माने जाते थे। वेद, प्रेमानन्द, विशाख उत्तंक, चाणक्य एवं दाण्डायन इसी कोटि में आनेवाले हैं जो जनहित, त्याग, साधना, क्षमा, आस्तिकता आदि सद्‌गुणों से ओत-प्रोत हैं। इन सात्विक वृत्ति के ब्राह्मणों का चित्र एक तरफ और दूसरी तरफ क्रोधी प्रकृति के दुरभिसंधि और कुचक्र पालन के दाषों से पूर्ण ब्राह्मण चरित्रों का चित्र भी प्रसाद ने अंकित किया है। काश्यप, वशिष्ठ, शिखरस्वामी (विकटघोष) आदि उक्त कथन के उत्तम नमूने हैं। इस तरह प्रसाद के नाटकों में एक तो ब्राह्मण का शुद्ध वैदिक रूप मिलता है जो राष्ट्रहित को अपना परम कर्त्तव्य मानते हैं तो दूसरी ओर ब्राह्मणत्व के पतन को सूचित करनेवाले पात्रों का भी चित्र है जो क्रूर कर्म करने और कराने को ठान बैठे हैं।

इन नाटकों में प्रसाद ने स्त्री-पुरुष की समान स्वतंत्रता प्रदर्शित की है। उन्हें समाज में विशेष स्थान एवं सम्मान प्राप्त थे। राजसभाओं में राजाओं के साथ रानियाँ भी आदरपूर्वक बैठती थीं। युद्ध क्षेत्र में भी स्त्रियाँ सहयोगी बनती थी। क्षत्राणियों की खड्‌गा उनकी चिरसंगिनी थी। युद्ध के समय आहतों की सेवा का

दायित्व स्त्रियों को दिया जाता था। आवश्यकतानुसार वे पुरुष वेष धारण कर लेती थीं - 'जनमेजय का नागयज्ञ' में मणिमाला, 'चन्द्रगुप्त' की कल्याणी, 'ध्रुवस्वामिनी' में ध्रुवस्वामिनी के ऐसा किया था। राजनीतिक व्यवहारों में भी उनके विचार मान्य होते थे। वपुष्टमा, कल्याणी, अलका, ध्रुवस्वामिनी, जयमाला और राज्यश्री उस काल का आदर्श सम्मुख रखने के लिए पर्याप्त है।

प्रसाद ने उस नाटकों के माध्यम से तत्कालीन राजवर्ग के आमोद-प्रमोद के रूपों का भी वर्णन किया है। उस युग में मदिरापान अत्यंत प्रचलित था। कई राजा जैसे नन्द, कुमारगुप्त, रामगुप्त आदि बड़े मद्यप थे। राजकर्मचारी साधारण व्यक्ति, एवं स्त्रियाँ भी मद्यपान करती थी। नर्तकियों तथा गायिकाओं का प्रचार जनमेजय के समय से ही था। राजाओं में आखेट का भी प्रचलन था। जनमेजय से लेकर ग्रहवर्मा तक इसका उल्लेख प्राप्त है। उस समय महोत्सवों का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान था। वसंतोत्सव, मदनोत्सव तथा वैवाहिक महोत्सव बड़े उल्लास से मनाये जाते थे।

2.4.3 धार्मिक परिस्थिति

प्रसाद के नाटकों में तत्कालीन धार्मिक स्थिति का भी यथार्थ चित्र अंकित किया गया है। उस काल में वैदिक एवं बौद्ध धर्म के बीच संघर्ष चल रहा था। इसी कारण प्रसाद के नाटकों की घटना-श्रृंखला का अनिवार्य अंग है - बौद्ध - ब्राह्मण संघर्ष। इन दोनों धर्मों के उत्थान एवं पतन की रेखाएं इन रचनाओं में स्पष्टता से खींची गई है। जनमेजय के समय में ब्राह्मणों और पुरोहितों का एकाधिपत्य था। ये

ही जनजीवन का संचालन करते थे। यही लोग यज्ञ आदि कार्यों के आचार्य हुआ करते थे। लेकिन इस समय काश्यप जैसे चरित्रहीन, ब्राह्मणोचित गुणों से हीन राजपुरोहित भी थे। जिन्होंने अनेक कुचक्रों को जन्म दिया।

अजातशत्रु का शासन काल बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव का समय था। तत्कालीन नरेशों पर महात्मा बुद्ध का अत्यधिक प्रभाव था मौर्य काल में आकर स्थिति बदल गई। पुनः ब्राह्मण धर्म अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गया था, यूँ तो बौद्ध धर्म भी शक्ति संपन्न था, दोनों धर्मानुयायियों में संघर्ष हो जाया करता था। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में ब्राह्मण धर्म बौद्ध धर्म पर अपना श्रेष्ठत्व स्थापित कर लेता है। चाणक्य के शब्दों में "....बौद्ध धर्म की शिक्षा मानव-व्यवहार के लिये पूर्ण नहीं हो सकती भले ही वह संघ व्यवहार में रहने वालों के लिये उपयुक्त हो। .....एक जीवन की हत्या से डरनेवाले तपस्वी बौद्ध सिर पर मँडराने वाली विपत्तियों से रक्त-समुद्र की आँधियों से, आर्यावर्त की रक्षा करने में असमर्थ प्रमाणित होंगे।"[1] चाणक्य के इन शब्दों में बौद्ध धर्म की लघुता और ब्राह्मण धर्म की महत्ता का प्रतिपादन है।

स्कन्दगुप्त के शासनकाल में भी बौद्ध-ब्राह्मण संघर्ष प्रबल रूप से व्याप्त था। इस समय ब्राह्मणों का कर्म-कांडीय और बौद्धों का तांत्रिक रूप ही प्रधान था। राजा हर्ष के शासनकाल में राजाश्रय के परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म की प्रबलता हुई। इन नाटकों में धार्मिक स्थिति व संघर्षों की झलक के साथ लोकविश्वासों जैसे धूमकेतु तथा देवी देवताओं संबंधी संकेत भी प्राप्त होते हैं।

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी, खण्ड-2 - पृ. 635

2.4.4 शिक्षा, कला एवं साहित्य

उस युग में शिक्षा एवं अध्यापन की अच्छी परम्परा विद्यमान थी। राजवर्ग की उदारता के फलस्वरूप अनेक स्थानीय संस्थाएं विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करता था। इसके अतिरिक्त गुरुकुल भी प्रचालित थे। तक्षशिला उच्चशिक्षा, कला और संस्कृति का केन्द्र माना जाता था। यहाँ दूर-दूर स्थित प्रदेशों से राजपुत्रों से लेकर साधारण विद्यार्थी तक शिक्षा प्राप्त करते थे। इन गुरुकुलों में आचार्य की आज्ञा ही सर्वोपरि होती थी। यहाँ भिन्न-भिन्न विषयों जैसे अर्थशास्त्र, राजनीति, युद्धनीति, धर्मशास्त्र आदि की शिक्षा प्रदान की जाती थी। विद्यार्थी अपनी रुचि के अनुसार अध्ययन पूर्ण कर स्नातक बन कर लौटते थे। स्त्रियाँ भी शिक्षा के अधिकारी थी। वे विभिन्न कलाओं जैसे गीत, नृत्य, वाद्य एवं अभिनय में शिक्षित होती थी। 'चन्द्रगुप्त' में कार्नेलिया दांड्यायन के यहाँ भारतीय दर्शन पढ़ने जाती है साथ ही भारतीय संगीत भी सीखती है। सुवासिनी अभिनय कला में दक्षा थी। 'स्कन्दगुप्त' में देवसेना को गाने का शौक है। उसे वीणा के स्वरों में स्वर मिलाकर गाने का अभ्यास है। 'अजातशत्रु' की पद्मावती भी वीणा वादन में पारंगत है। पुरुष भी इन कलाओं पर अधिकार रखते थे। उदयन का वीणा वादन और 'चन्द्रगुप्त' के राक्षस का अभिनयपूर्ण गान इसी की ओर संकेत करता है।

अध्ययन - अध्यापन की कुशल व्यवस्था के कारण उस काल में साहित्य की भी श्रीवृद्धि हुई थी। 'अजातशत्रु' का जीवक, वैद्य धन्वंतरि और महर्षि अग्निवेश का उपासक था। चाणक्य अर्थशास्त्र का प्रणेता था, वररुचि वार्तिककार और पाणिनी व्याकरण का पूर्ण जानकर था। कार्नेलिया सुकरात के ग्रंथों का अध्ययन

करने के साथ राक्षस से उशना और कुणिक की राजनीति पढ़ा करती थी तथा वररुचि से रामायण पढ़ा करती थी। स्कन्दगुप्त काल में कवि मातृगुप्त अपने भावपूर्ण संगीत में लीन रहता था।

वस्तुतः प्रसाद ने अपने ऐतिहासिक एवं पौराणिक नाटकों में जनमेजय से लेकर हर्षवर्धन के काल तक की विभिन्न परिस्थितियों का विशद एवं सुन्दर चित्र उपस्थित किया है। उन्होंने यथासंभव देशकाल एवं वातावरण का चित्रण प्रामाणिकता के साथ किया है। उनके नाट्य साहित्य में भारतवर्ष की राज्य-व्यवस्था, समाज-व्यवस्था एवं संस्कृति का मांसल एवं प्राणवान चित्रण हुआ है और यह चित्रण इतिहास तथा पुराण के रस का संचार करने में पूर्णतः समर्थ है।

2.5 भाषा शैली

लेखक के विचारों की अभिव्यंजना का माध्यम भाषा है। भाषा में मानव-समुदाय की पूरी परम्परा तथा उसके अनुभव संचित होते हैं। इस संबंध में प्रसाद कहते हैं, "व्यंजना वस्तुतः अनुभूतिमयी प्रतिभा का ही स्वयं परिणाम है।"[1] प्रसाद ने भी अनुभूति की तीव्रता के साथ जोड़कर भाषा के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। वस्तुतः प्रसाद ने अपना नाट्य लेखन द्विवेदी युग से प्रारंभ की जब भाषा को गढ़ने का कार्य उत्साह से आगे बढ़ रहा था। इस कार्य से भाषा में साहित्यिकता का पुट अधिक उभरा। इसी के दर्शन प्रसाद के प्रारंभिक कालीन रचनाओं में प्राप्त होते हैं। 'अजातशत्रु' से लेकर आगे की संपूर्ण रचनाओं में भाषा का एक नया स्वरूप

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी, खण्ड-2 - पृ. 29

मिलता है। द्विवेदी युग के पुनरुत्थान ने भाषा को जो निष्ठा प्रदान की, वही निष्ठा छायावाद में शब्द और अर्थ बोध के रूप में परिणत हुई। यही अर्थबोध प्रसाद के प्रौढ़ नाटकों में परिलक्षित होते हैं।

प्रसाद के नाटक छायावाद काल की उपलब्धि है और उसकी भाषा भी छायावाद की भाषा है जो मूलतः काव्य की भाषा है अर्थात् काव्य की भांति रोमानी भावानुभूति से संबद्ध है। इसका मूलाधार इसका सार्थक शब्द चयन है। प्रसाद के नाटक भी मुख्यतः शब्द के नाटक हैं। प्रसाद का कथानक अतीत से संबन्धित है, इसलिए उनका शब्द चयन भी काल के अनुरूप है। उन्होंने तत्सम् प्रधान शब्दावली को अपनाते हुए प्राचीन भारत की संस्कृति और परम्परा को सुरक्षित रखा। उनकी भाषा के संबंध में यह आपत्ति उठाई जाती है कि वह अभिजात्य या किसी वर्ग विशेष मात्र की भाषा है। इस संबंध में उन्हीं के शब्दों पर ध्यान देना समीचीन होगा : "सरलता और क्लिष्टता पात्रों के भावों और विचारों के अनुसार भाषा में होगी ही और पात्रों के भावों और विचारों के ही आधार पर भाषा का प्रयोग नाटकों में होना चाहिए।"[1] प्रसाद ने भी अपने नाटकों में इसी तथ्य का पालन किया। चाणक्य, गौतम बुद्ध, वररुचि आदि विद्वानों की बातचीत में बोलचाल के शब्दों को ढूँढना अनौचित्य है। इसलिए यह आपत्ति निरर्थक सिद्ध होती है।

प्रसाद नाटककार होने के साथ-साथ भावुक, कल्पना-शील एवं रस सिद्ध कवि है। उनके कवि व्यक्तित्व की अमिट छाप उनकी भाषा-शैली में दृष्टव्य होना

---

1. जयशंकर प्रसाद - काव्य और कला तथा अन्य निबंध - पृ. 69

स्वाभाविक है। प्रसाद का समर्थन करते हुए डॉ. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा लिखते हैं- "हिन्दुस्तानी की फुसलाहट और आजकल के राजनीतिक कुचक्रों में पड़कर भाषा का जो रूप विकृत हो रहा है उसका प्रयोग यदि इन नाटकों में हो तो संस्कृति और भारतीय आत्मा की हत्या निश्चित है। अतएव 'प्रसाद' की भाषा-शैली अपने स्थल पर सर्वथा उपयुक्त है।"[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि उनके चिन्तन और मनन का परिणाम ही उनकी भाषा है, जिसमें भारतीयता की अनुपम नाद गूँजती रहती है।

प्रसाद के नाटकों में भावुकता का प्राधान्य तथा कवित्व का साम्राज्य है। उनकी शैली काव्यात्मक है। इस कारण उनकी भाषा रसानुरूपता का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करती है। उनके नाटकों के अंगी रस प्रायः वीर एवं श्रृंगार है। वीर रस को उद्दीप्त करने वाले अनेक उदाहरण उनके नाटकों में प्राप्त होते हैं। 'राज्यश्री' में राज्यवर्धन कहते हैं - "होगा नहीं, हुआ समझो। राज्यवर्धन वह राख का ढ़ेर नहीं, जो शत्रु मुख के पवन से धधक ने उठे। यह ज्वाला है, उत्तरापथ को जलाकर शान्त होगी।"[2] यहाँ युद्ध की भड़कती ज्वाला में कूदने के लिए उत्सुक राज्यवर्धन का चित्र जो मृत्यु को भी नगण्य समझ रहा है। 'अजातशत्रु' में विरुद्धक को प्रोत्साहित करती हुई शक्तिमती के ये शब्द उत्साहाग्नि से प्रज्वालित हैं - "महत्वाकांक्षा के प्रदीप्त अग्निकुण्ड में कूदने को प्रस्तुत हो जाओ, विरोधी शक्तियों का दमन करने के लिए कालस्वरूप बनो, साहस के साथ उनका सामना करो, फिर

---

1. डॉ. गगन्नाथ प्रसाद शर्मा - प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन - पृ. 217
2. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी, खण्ड-2 - पृ. 125

या तो तुम गिरोगे या वे ही भाग जायँगी।"[1] माँ के ये शब्द पुत्र में वीरता का प्रवाह करते हुए युद्ध के लिए सन्नद्ध बनाता है।

'स्कन्दगुप्त' में मालव दूत से स्कन्दगुप्त की उक्ति - "दूत! केवल संधि-नियम ही से हम लोग बाध्य नहीं है किन्तु शरणगत - रक्षा भी क्षत्रिय का धर्म है। तुम विश्वास करो, सेनापति पर्णदत्त समस्त सेना लेकर पुष्यमित्रों की गति रोकेंगे। अकेला स्कन्दगुप्त मालव की रक्षा करने के लिए सन्नद्ध है। जाओ निर्भय निद्रा का सुख लो। स्कन्दगुप्त के जीते जी मालव का कुछ न बिगड़ सकेगा।"[2] कितनी वीरत्व व्यंजक है। एक भिन्न तरह का स्वर भी इस नाटक में दृष्टव्य है। जयमाला की यह उक्ति - "युद्ध क्या गान नहीं है? रुद्र का श्रृंगीनाद, भैरवी का ताण्डव नृत्य और शस्त्रों का वाद्य मिलकर भैरव संगीत की सृष्टि होती है।"[3] युद्ध को अत्यधिक रम्य बना देती है। पुरुषों के समान ही प्रसाद के नारी पात्र भी युद्ध को अनिवार्य मानने वाली है साथ ही पति के वीरगति प्राप्त होने पर अभिमान महसूस करनेवाली है। राज्यश्री, जयमाला, रामा, अलका, आदि चरित्र वीरता से ओत प्रोत है। इस तरह प्रसाद के लगभग सभी नाटकों की भाषा में वीरता का साक्षात्कार हो सकता है। प्रसाद ने वीर रस के अनुकूल ओजपूर्ण भाषा का प्रयोग सर्वत्र किया है, यह उनकी नाटकीय क्षमता को भली भांति परिचित कराती है।

प्रसाद ने वीर रस के समान श्रृंगार रस के प्रसंगों में माधुर्य गुण से पूरित भाषा का प्रयोग करके स्वयं को हिन्दी नाट्य साहित्य में बेजोड सिद्ध किया है। इस

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी, खण्ड-2 - पृ. 231
2. वही - पृ. 464
3. वही - पृ. 485

कथन की पुष्टि निम्नलिखित उद्धरणों से स्वयं सिद्ध हो जायेंगे। 'अजातशत्रु' में बाजिरा के प्रति अजात के प्रणयोद्‌गार अत्यंत मधुर भाषा में व्यक्त हुई हैं - "अजात : इस श्यामा रजनी में चन्द्रमा की सुकुमार किरण - सी तुम कौन हो? सुन्दरी, कई दिन मैंने देखा, मुझे भ्रम हुआ कि यह स्वप्न है। किन्तु नहीं, अब मुझे विश्वास हुआ है कि भगवान ने करुणामूर्ति मेरे लिए भेजी है और इस बन्दीगृह में भी कोई उसकी अप्रकट इच्छा कौशल कर रही है। बाजिरा : राजकुमार! मेरा परिचय पाने पर तुम घृणा करोगे और फिर मेरे आने पर मुँह फेर लोगे - तब मैं बड़ी व्यथित हूँगी। हम लोग इसी तरह अपरिचित रहे। अभिलाषाएं नये रूप बदलें, किन्तु वे नीरव रहें, उन्हें बोलने का अधिकार न हो। बस तुम हमें एक करुण दृष्टि से देखो और मैं कृतज्ञता के फूल तुम्हारे चरणों पर चढ़ा कर चली आया करूँ।"[1] इस प्रेम-निवेदन के आगे घृणा और द्वेष जैसे भाव अक्षुण्ण हो जाते हैं।

'जनमेजय का नागयज्ञ' में मणिमाला के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर जनमेजय कहते हैं - "नहीं भद्रे! तुम्हारे सरल मुख, पर तो शत्रुता का कोई चिह्न ही नहीं है। ऐसा पवित्र सौन्दर्य-पूर्ण मुख मण्डल तो मैंने कहीं नहीं देखा।

मणिमाला : ऐसी उदारता व्यंजक-मूर्ति, ऐसा तेजोमय मुख मण्डल। यह तो शत्रुता करने की वस्तु नहीं है।"[2] यहाँ जनमेजय और मणिमाला के मन में एक दूसरे के प्रति प्रेम पनपने लगा है, और यह भाव द्वेष एवं वैर की शिला को भी पिघलकर

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी, खण्ड-2 - पृ. 266
2. वही - पृ. 320-21

प्रस्फुटित होता है। 'स्कन्दगुप्त' में देवसेना के निःस्वार्थ प्रेम का चित्रण हुआ है। वह कहती है -

"देवसेना : ....इस हृदय में.... आह ! कहना ही पड़ा, स्कन्दगुप्त को छोड़कर न तो कोई दूसरा आया और न वह जायेगा। अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर मुझे उसी की उपासना करने दीजिए। उसे कामना के भँवर में फँसाकर कलुषित न कीजिये। नाथ मैं आपकी हूँ, मैंने अपने को दे दिया है, अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती।"[1] प्रसाद ने देवसेना के माध्यम से प्रेम में आत्मसमर्पण का निर्मल उदाहरण पेश किया है। 'चन्द्रगुप्त' की मालविका की स्थिति भी देवसेना से मिलती-जुलती है। उसका कथन है -

मालविका : ...."यह चन्द्रगुप्त की शय्या है। ओह, आज प्राणों में कितनी मादकता है। मैं.... कहाँ हूँ? कहाँ? स्मृति, तू मेरी तरह सो जा ! अनुराग, तू रक्त से भी रंगीन बन जा !"[2] अपने प्रेमी चन्द्रगुप्त के लिए जीवन का उपहार देती हुई मालविका के इन शब्दों की व्यंजना प्रसादपूर्ण शैली में हुई है।

इन वीर रस एवं श्रृंगार रस के उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद रसानुकूल भाषा का प्रयोग करने में सिद्धहस्त हैं। इनके नाटकों में प्रायः ये ही दो रस प्रमुख स्थान के अधिकारी है। अन्य रसों जैसे करुणा, भय आदि रसों का भी शब्द चित्र प्रसाद ने प्रस्तुत किया है। रसानुकूलता के साथ ही प्रसाद ने अपनी भाषा

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी, खण्ड-2 - पृ. 548
2. वही - पृ. 714

में भावकुता एवं कल्पना का मिश्रण कर अनेक गीतों का प्रयोग किया है। उनके कवि-व्यक्तित्व का परिचय देने वाले ये गीत हिन्दी नाट्य साहित्य को उनकी अनूठी देन है। इस प्रयोग के पीछे प्राचीन भारतीय नाट्य परम्परा एवं पारसी नाटकों का ही प्रभाव है। प्रसाद ने अपने नाटकों में ऐसे पात्रों का अंकन किया है जिनमें संगीत की सहज प्रवृत्ति और अभिरुचि है जैसे 'स्कन्दगुप्त' की देवसेना। नाट्य प्रसंग में ऐसे पात्र भी आये हैं जिनकी जीविका संगीत है जैसे - मागंधी, सुवासिनी आदि। इनके अतिरिक्त कई पात्र अपनी भावुकता से प्रेरित होकर गीत गाते हुए नज़र आते हैं जैसे 'राज्यश्री' में सुरमा, अजातशत्रु में पद्मावती, 'जनमेजय का नागयज्ञ' में 'सुरमा, 'स्कन्दगुप्त' में विजया, 'चन्द्रगुप्त' में कार्नेलिया, कल्याणी, 'ध्रुवस्वामिनी' में मन्दाकिनी। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके सभी नाटकों में गीत का समावेश है। ये गीत विषयवस्तु के पूर्णतः अनुरूप है और इनमें से अधिकांश कथा के मेल में हैं। रंगमंच के संबंध में विचार करने पर ये गीत व्यवहार दृष्टि से अनुपयुक्त प्रतीत होते हैं।

जहाँ प्रसाद ने भावों के अनुरूप भाषा में परिवर्तन किया है, वहाँ विचारों के अनुरूप भी उन्होंने भाषा में परिवर्तन किया है। श्रीकृष्ण, चाणक्य, दाण्डयायन, मातृगुप्त, मिहिरदेव, विवेक, प्रख्यात-कीर्ति आदि की भाषा में यह परिवर्तन देखा जा सकता है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' में श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हुए कहते हैं - "श्रीकृष्ण : सखे! सृष्टि एक व्यापार है, कार्य है। उसका कुछ न कुछ उद्देश्य अवश्य है। फिर ऐसी निराशा क्यों? द्वन्द्व तो कल्पित है, भ्रम है। उसी का निवारण होना आवश्यक है। देखो, दिन का अप्रत्यक्ष होना ही रात्रि है, आलोक का अदर्शन

ही अंधकार है। ये विपक्षी द्वन्द्व अभाव हैं। क्या तुम कह सकते हो कि अभाव की भी कोई सत्ता है? कदापि नहीं।"[1] प्रसाद ने श्रीकृष्ण के माध्यम से दार्शनिकता की मनोभूमि में खड़े होकर समता का उपदेश दिया है। यहाँ भाषा अत्यंत क्लिष्ट प्रतीत होती है। यह क्लिष्टता अर्थ-गांभीर्य के कारण है। तथा प्रसाद ने व्याख्यात्मक शैली का सहारे लेते हुए इस क्लिष्टता को सरलता में परिवर्तित करने का प्रयास किया है। इस संबंध में स्वयं प्रसाद लिखते हैं "सरलता और क्लिष्टता पात्रों के भावों और विचारों के अनुसार भाषा में होगी...."[2] अतः नाटककार स्वयं इस बात की पुष्टि करते हैं कि गंभीर विचारों की व्यंजना करते समय भाषा भी विषयानुरूप गंभीर ही होगी।

प्रसाद की मान्यता है "...पात्रों के भावों और विचारों के ही आधार पर भाषा का प्रयोग नाटकों में होना चाहिए, किन्तु इसके लिए भाषा की एकतंत्रता नष्ट करके कई तरह की खिचडी भाषाओं का प्रयोग हिन्दी नाटकों के लिए ठीक नहीं। पात्रों की संस्कृति के अनुसार उनके भावों और विचारों में तारतम्य होना भाषाओं के परिवर्तन से अधिक उपयुक्त होगा। देश और काल के अनुसार भी सांस्कृतिक दृष्टि से भाषा में पूर्ण अभिव्यक्ति होनी चाहिए।"[3] उन्होंने इस सिद्धान्त का पूर्णतः निर्वाह किया है। उन्होंने अपने नाटकों के माध्यम से महाभारत काल से लेकर हर्ष के राज्यकाल तक के भारतवर्ष के इतिहास को रूपायित किया है। यह युग इतिहास

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी, खण्ड-2 - पृ. 296
2. जयशंकर प्रसाद - काव्य और कला तथा अन्य निबंध - पृ. 69
3. वही - पृ. 69

में संस्कृत भाषा के प्रभुत्व काल है। अतः इस युग के पात्रों की भाषा में संस्कृत निष्ठ - तत्सम प्रधान भाषा का होना देश-काल की दृष्टि से सर्वथा समीचीन है। इसलिए यह स्पष्ट है कि प्रसाद धर्मगुरु, विचारक, प्रेमी वीर एवं वीरांगनाओं से उनके चरित्र, संस्कृति तथा दार्शनिक विचारधारा के अनुकूल ही भाषा का व्यवहार कराया है।

प्रसाद की भाषा में ध्वनि की प्रधानता भी दृष्टिगत होती है। ध्वन्यात्मकता के सहारे प्रसाद ने इतिहास के माध्यम से आधुनिक प्रसंग पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। उदाहरण के लिए चाणक्य की यह उक्ति : "चाणक्य : तुम मालव हो और यह मगध, यही तुम्हारे मान का अवसान है न? परन्तु आत्मसम्मान इतने ही से सन्तुष्ट नहीं होगा। मालव और मगध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे, तभी वह मिलेगा।"[1] यहाँ प्रसाद ने प्रान्तीयता के विष का तिरस्कार करते हुए राष्ट्रीयता की भावना को स्थापित करने का प्रयत्न किया है। अन्यत्र चाणक्य कहते हैं - "चाणक्य : ...यवन आक्रमणकारी बौद्ध और ब्राह्मण का भेद न रखेंगे?"[2] यहाँ सहजता के साथ प्रसाद ने विदेशियों के सम्मुख अपने जाति - धर्म आदि छोटे मोटे विभेदों को दूर कर संगठित होने की ओर संकेत किया है। वस्तुतः उनकी भाषा इतिहास का चित्रण करती हुई भी सादृश्यता के आधार पर तत्कालीन भारत की समस्याओं की सफल ध्वनि सुनाने में समर्थ हुई है, जो उनकी प्रतिभा का परिचय देती है। उनके नाटकों में गद्य, पद्य एवं गीतों तीनों का उचित प्रयोग हुआ है। उनकी

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी, खण्ड-2 - पृ. 624
2. वही - पृ. 636

भाषा का संस्कृत निष्ठ रूप भारतीयता के आदर्श के सर्वथा अनुकूल है। उनकी भाषा रसानुरूपता, पात्रानुकूलता तथा देशकालानुसारिता की कसौटी पर खरी उतरती है। उनकी शैली में भावुकता के साथ अर्थ गौरव सहजता से समन्वित हो गया है।

2.6 उद्देश्य

भारतीय नाट्य परम्परा के अनुसार नाटक का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति है। इनमें से मोक्ष की प्राप्ति सुगम न होने से उसे इसमें शामिल नहीं किया गया है। शेष तीन का अन्वेषण प्रसाद के नाट्य साहित्य में किया जा सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि धर्म, अर्थ और काम से किसी एक या दो या तीनों की प्राप्ति ही उनके नाटकों का लक्ष्य है।

'राज्यश्री' के नायक हर्षवर्धन का प्रयास राज्यवर्धन के साथ छल करने वाले नरेन्द्रगुप्त का विनाश एवं राज्यश्री के प्राणों की रक्षा करना है। अंत में राज्यवर्धन की हत्या करने वाले विकटघोष को क्षमा करके तथा हर्षवर्धन द्वारा लोकसेवा के मार्ग को स्वीकार करते हुए धर्म की प्राप्ति पर ज़ोर दिया है 'विशाख' में विशाख और चन्द्रलेखा को काम की उपलब्धि होती है। दोनों जीवन-मार्ग के व्यवधानों को पार कर अंत में गृहस्थ जीवन का आनन्द प्राप्त करते हैं।

'अजातशत्रु' में अजात को बाजिरा की प्राप्ति काम-फल का लाभ है साथ ही अजात को दहेज रूप में काशी राज्य भी मिल जाता है, यह अर्थ की उपलब्धि है। आद्योपांत इस नाटक में अधर्म और कर्म के मध्य चलने वाले संघर्ष में धर्म की विजय होती दिखायी गयी है। इसमें तीनों पुरुषार्थ की प्राप्ति दिखायी गयी है।

'जनमेजय का नागयज्ञ' का नायक जनमेजय अपने पूज्य पिता परीक्षित के हत्यारे तक्षक एवं नाग जाति से वैर मिटाने का अर्थ सम्मुख रखकर कार्य करता है, वह अपने अर्थ में सफल होने वाला था कि धर्म एवं काम के योग से नाटक के घटना व्यापार बदल जाता है। धर्मात्मा व्यास की आज्ञा से आर्य और नाग प्रेम बंधन में बंध जाते हैं और उस बंधन का सूत्र बनती है, मणिमाला। इस तरह इस नाटक का भी फल धर्म, अर्थ और काम के समन्वय से युक्त है।

'कामना' का उद्देश्य काम व धर्म है। इन दोनों के बीच अर्थ क्रान्ति खड़ा करता है लेकिन अंत में कामना का विवाह संतोष के साथ होता है और स्वर्ण को लोग विलास की नौका में फेंकने लगते हैं। यह धर्मानुप्राणित काम की विजय है तथा अर्थ लोलुप काम की पराजय। 'स्कन्दगुप्त' अर्थ एवं धर्म प्रधान रचना है, क्योंकि आर्य साम्राज्य की रक्षा नायक के घोर प्रयास से उपलब्ध होता है। स्कन्द के चरित्र में निष्कम कर्म की धर्म भावना अनुस्यूत है जिससे वह सम्राट पद तथा देवसेना को पाकर भी भोग विमुख रहता है।

'चन्द्रगुप्त' में चारों पुरुषार्थ की उपलब्धि होती है। चन्द्रगुप्त को अर्थ एवं काम उपलब्ध होता है तथा चाणक्य धर्म की पूर्ति के उपरान्त मोक्ष की भावनाओं से ओत-प्रोत हो जाता है। चाणक्य के ये शब्द : "....मेरा कर्म-कुलाल चक्र अपना निर्मित भाण्ड उतार कर धर चुका था? ठीक तो, प्रभात पवन के साथ सब की सुख कामना शान्ति का आलिंगन कर रही है। देव! आज मैं धन्य हूँ।"[1] यहाँ चाणक्य के

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी, खण्ड-2 - पृ. 736

माध्यम से राजनीति विरक्त ब्राह्मण की भावनाओं को परिलक्षित किया है जो मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर है। इस तरह प्रसाद ने इस नाटक में सभी पुरुषार्थों की प्रतिष्ठा की है। 'ध्रुवस्वामिनी' में अर्थ एवं काम की प्राप्ति दिखाई गई है। इसमें नायिका को अपने मनोनीत प्रियतम चन्द्रगुप्त की उपलब्धि होती है तथा रामगुप्त के वध के उपरान्त चन्द्रगुप्त को राज्याधिकार प्राप्त होता है। इस प्रकार अर्थ एवं काम की प्राप्ति धर्म से संघर्ष करने पर संभव हुई है।

इनके अलावा प्रसाद के नाटकों के दार्शनिक - सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय उद्देश्य है जो प्रसाद की वैयक्तिकता का सही परिचायक है। प्रसाद में बौद्ध-शैव दर्शन का पर्याप्त प्रभाव है जिसका प्रतिफलन उनके चरित्रों में हुआ है। 'राज्यश्री' का नायक हर्षवर्धन अंत में जब भिक्षु होकर आत्म-कल्याण का मार्ग अपनाना चाहता है तब महाश्रमण तथा राज्यश्री उसे लोक-सेवा के लिए राजमुकुट और दण्ड स्वीकार करने का आग्रह करते हैं। इस प्रसंग में बौद्ध धर्म की महायान दर्शन का परिचय दिया गया है। 'विशाख' का प्रेमानन्द ब्राह्मण धर्म का अनुयायी होने पर भी वह अपने शिष्य विशाख को विरक्त होने से रोकता है और उसे कर्म-पक्ष में परोपकार भावना से प्रवृत्त होने की सीख देता है।

'अजातशत्रु' के गौतम बुद्ध एक संसार त्यागी व्यक्ति है फिर भी न्याय की रक्षा के लिये वे भी राज-दर्शन करते हैं। गौतम का यह कथन - "गौतम : राजन, शुद्ध बुद्धि तो सदैव निर्लिप्त रहती है। .....इन सांसारिक झगड़ों में उसका उद्देश्य होता है कि न्याय का पक्ष विजयी हो.... तटस्थ की यही शुभेच्छा सत्त्व से प्रेरित

होकर समस्त सदाचारों की नींव विश्व में स्थापित करती है।"[1] इस कथन में न्याय का समर्थन करते हुए विश्व शान्ति का पथ प्रशस्त किया है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' में व्यास कहते हैं : "वत्स, सत्य महान धर्म है। ...वह तप से भी उच्च है, क्योंकि वह दंभ विहीन है। वह शुद्ध बुद्धि की आकाशवाणी है। वह अंतरात्मा की सत्ता है।"[2] गौतम के समान व्यास भी न्याय एवं सत्य की पक्षधरता करते हुए शान्ति की स्थापना में संलग्न पात्र है।

'स्कन्दगुप्त' के बौद्ध विहार के आचार्य प्रख्यातकीर्ति का कथन है "धर्म के अंधभक्तों मनुष्य अपूर्ण हैं। इसलिए सत्य का विकास जो उसके द्वारा होता है, अपूर्ण होता है। यही विकास का रहस्य है। ....हम लोगों को हठधर्मी से उन आगतुंक क्रमिक पूर्णता प्राप्त करने वाले ज्ञानों से मुँह न फेरना चाहिए। हम लोग एक ही मूल धर्म की दो शाखायें हैं।"[3] यहाँ ज्ञान के महत्त्व पर ज़ोर देते हुए नाटककार ने आपस में संघर्षरत बौद्धों एवं ब्राह्मणों को एकता की सीख दी है। 'चन्द्रगुप्त' का दाण्डयायन भी समान विचार का प्रतिपादन करते हुए नज़र आते हैं।

वस्तुतः यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद ने ब्राह्मण एवं बौद्ध दर्शन के गहन अध्ययन के उपरान्त इनके व्यावहारिक पक्ष को ग्रहण किया है जिसमें लोक हित, विश्व-मानवता तथा विश्वमैत्री के भाव निहित हैं। इन उद्देश्यों का समर्थन करते हुए भी इनकी रक्षा के लिए कठोर कर्म करने का मार्ग वे उचित समझते हैं। प्रसाद

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी, खण्ड-2 - पृ. 215
2. वही - पृ. 352
3. वही - पृ. 537

जी के हर्षवर्धन, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त आदि वीर पात्र युद्ध व्यवसायी नहीं है और न अधिकार के उन्माद से विक्षिप्त होते हैं। वे सब कर्त्तव्य की पूर्ति के लिये, उसकी अनिवार्यता को लक्षित करते हुए मात्र शस्त्र ग्रहण करते हैं। इन वीरों का यह कठोर कर्म धर्म एवं सदाचार की स्थापना तथा लोक-कल्याण की प्रतिष्ठा में सहायक सिद्ध होता है। स्पष्टतः प्रसाद का जीवन-दर्शन युगानुरूप है। जिसमें व्यक्ति और समाज का हित ही सर्वोपरि है और यही उनके नाटकों में प्रतिबिंबित होती है।

प्रसाद ने अपने नाटकों के माध्यम से भारतीय संस्कृति की महिमा का पुनर्पाठ किया है। वे भारतीय संस्कृति के उस पक्ष के हिमायती है जिसका निर्माण प्रकृति के वातावरण में ऋषि-मुनियों के द्वारा सम्पन्न हुआ था, जिसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता समाज के लिए बाधक न होकर साधक थी। प्रत्येक व्यक्ति जहाँ धर्म या आत्मानुशासन से प्रेरित होकर कर्मरत था उस जीवन में प्रेम की व्यापकता थी तथा परम सहिष्णुता का वातावरण था। 'राज्यश्री' के राज्यश्री, हर्षवर्धन आदि में, 'विशाख' के प्रेमानन्द में, 'अजातशत्रु' के गौतम में 'जनमेजय का नागयज्ञ' के वेदव्यास में, 'स्कंदगुप्त' के स्कन्दगुप्त, देवसेना, प्रख्याकीर्ति में इसी सहिष्णुता एवं कर्म निरत व्यक्तित्व का दर्शन होता है। ये सभी पात्र क्षमा की प्रतिमूर्ति हैं।

जहाँ एक ओर प्रसाद ने ऐसे उदात्त चरित्रों की सृष्टि की है, वहाँ दूसरी ओर वशिष्ट जैसे चाटुकार, शान्तिदेव जैसे हिंसक बौद्ध भिक्षु सत्यशील जैसे व्यभिचारी महत्त, देवदत्त जैसे कुचक्री संघ निर्माता और कश्यप जैसे धन-लोलुप ब्राह्मण तथा भटार्क, पुरुगुप्त, आंभीक, रामगुप्त आदि देश-द्रोही क्षत्रियों का भी

चित्रण किया है। प्रसाद ने इस तरह भारतीय संस्कृति का आधुनिक व्याख्यान करते हुए उसकी गरिमा को प्रस्तुत करना अपना ध्येय समझा है।

प्रसाद ने जब अपना नाट्य लेखन प्रारंभ किया था तब बड़ी राष्ट्रीय घटनायें घटीं, देश ने पूर्ण स्वराज्य पाने का संकल्प लिया, उधर देश अन्तर्विग्रह के कगार पर पहुँच चुका था, जवाहरलाल नेहरु और सुभाष चन्द्र बोस जैसे प्रखर तेजस्वी व्यक्तित्व उभरे, क्रान्तिकारियों के आत्म-बलिदान से इतिहास के पृष्ठ लाल हो गये, गाँधी जैसा कर्मयोगी धुरी पुरुष अवसन्न भाव से संघर्षरत था, इन तमाम स्थितियों का प्रभाव उनके नाटकों में लक्षित किये जा सकते हैं। वस्तुतः यह स्पष्ट है कि इतिहास के दायरे में खड़े होकर उन्होंने वर्तमान की ज्वलंत समस्याओं पर नज़र डाला है। किसी राष्ट्र के स्वाधीन और आत्मवान होने के लिए कितनी मुश्किलों का सामना करना होगा, उन तमाम परीक्षाओं का संकेत उनके नाटक में प्राप्त होता है। ऐसे माहौल में राष्ट्रीयता की अहमियत का प्रतिपादन भी उनका प्रधान ध्येय था।

निष्कर्ष

प्रसाद के नाट्य साहित्य का भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य पद्धति के आधार पर विवेचन करने पर यह सिद्ध होता है कि उन्होंने दोनों विधियों का अपनी रचना के हेतु सदुपयोग किया है। उन्होंने भारतीय पद्धति के रूढिग्रस्त अंशों का धीरे-धीरे परित्याग करते हुए, उसकी ह्रासोन्मुख परम्पराओं को परिष्कृत कर विकसित करने का गतिशील प्रयास किया है। ऐतिहासिक तथ्यों को स्वीकारते हुए

उन्होंने वस्तु के क्षेत्र में परिष्कार किया। चरित्र-चित्रण के संदर्भ में उन्होंने सुदृढ़ मनोवैज्ञानिक आधार ग्रहण किया है जिसके सहारे वे सत् एवं असत् पात्रों की सृष्टि करने में सफल हुए।

संवाद-योजना में सबसे अधिक महत्त्व की बात यह है कि उनकी भाषा उनके विचार-गांभीर्य को उदात्त शैली में प्रस्तुत करने में सर्वदा अनुकूल है। देशकाल का उन्होंने सटीक प्रयोग किया है जो काल का अतिक्रमण करता हुआ सार्वकालिक बनता है। नाटक के सार रूप में रस को निष्पन्न करने के साथ ही भारत के दर्शन और संस्कृति की गरिमा का आख्यान करने में वे दक्ष सिद्ध हुए हैं। इतिहास के कथानकों और चिरपरिचित पात्रों के सृजन करते हुए प्रसाद ने राष्ट्र की जीवन्त समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया है। इस प्रस्तुतिकरण के ज़रिये राष्ट्र को दिशा देने का गतिशील कार्य किया है।

तीसरा अध्याय

मोहन राकेश के नाटकों का स्वरूप : भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य तत्त्वों के आधार पर

तीसरा अध्याय

मोहन राकेश की नाट्य रचनाओं का स्वरूप : भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य तत्त्वों के आधार पर

साराँश : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाट्य साहित्य को जीवन्त बनाने वाले नाटककारों में मोहन राकेश का अग्रणी स्थान है। अपने चार नाटकों - 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस', 'आधे-अधूरे', और 'पैर तले की जमीन' के माध्यम से राकेश ने हिन्दी नाट्य जगत में अपने लिए अलग स्थान कायम कर लिया था। इनमें से प्रथम दो ऐतिहासिक कथानक को आधार बनाकर लिखा गया नाटक है परंतु ये कृतियाँ पूर्ण रूप से ऐतिहासिक नहीं है। इसका आधार ऐतिहासिक है लेकिन इतने ही अर्थ में जितना इसकी व्याख्या में आता है। वस्तुतः ये स्वतंत्र कल्पना के कारण काल्पनिक है। अंतिम दो नाटकों में वर्तमान जीवन का यथार्थ चित्रण नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया गया है। उनके नाटकों के केन्द्र में नर-नारी के आपसी तनाव से उद्‌भूत समस्याओं, घुटन एवं कलह ही है। उन्होंने समाज और परिवार की ढ़हती हुई मान्यताओं एवं परम्पराओं को बड़ी बारीकी के साथ हमारे सामने प्रस्तुत किया है। इस प्रस्तुतीकरण के लिए रचना-शिल्प के स्तर पर उन्होंने कई नूतन प्रयोग किए हैं। उनके नाटकों की सबसे बड़ी शक्ति ही उनका सुगठित शिल्प पक्ष है। कथानक का संगठन, स्थितियों का सहज-स्वाभाविक व आकस्मिक विकास, भाषा की कसावट और संवादों की चुस्ती राकेश के नाट्य शिल्प की विशिष्ट मुद्राएँ हैं।

तीसरा अध्याय
मोहन राकेश के नाटकों का स्वरूप : भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य तत्त्वों के आधार पर

प्रस्तावना

हिन्दी में स्वस्थ नाट्यलेखन की प्रवृत्ति का उन्मेष पहली बार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया। उन्होने ही भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के सम्मिलित बिन्दु पर संपूर्ण रंग संभावनाओं का संकेत दिया है। हिन्दी नाट्य लेखन की दिशा में स्वच्छ तथा सपाट भूमि तैयार करने का श्रेय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को ही है। अतः हिन्दी नाटकों का वास्तविक आरंभ भारतेन्दु युग से ही स्वीकार किया जाता है। इसके उपरान्त हिन्दी साहित्य के इतिहास में द्विवेदी युग का स्थान आता है। किन्तु इस युग में मौलिक नाटकों के सृजन स्तर पर प्रयास नाम मात्र का रहा।

वस्तुतः अगले चरण में इस अभाव की पूर्ति की गई। इस अभाव को पूरा करने का श्रेय सुविख्यात ऐतिहासिक नाटककार जयशंकर प्रसाद को है। हिन्दी नाट्य साहित्य को एक सुदृढ़ नींव देने में जयशंकर प्रसाद का नाम अग्रगण्य है। अपने नाटकों का कथानक प्राचीन भारत के सभी प्रमुख युगों से लेकर, उन्होंने प्राचीन सांस्कृतिक गौरवगाथा, आधुनिक उदात्त राष्ट्रीय चेतना और मानवीय संवेदना की सफल अभिव्यक्ति अपनी नाट्य कृतियों में की है। उन्होंने संस्कृति के उदात्त मूल्यों को वर्तमान जीवन-परिवेश से जोड़ने का प्रयास किया और ऐसा करते हुए

उन्होंने रचनात्मक स्तर पर भावी नाटककारों को दिशा संकेत भी दिया। "प्रसाद के व्यक्तित्व का मूल धरातल समन्वय है। कल्पना-वृत्ति ही प्रसाद के समस्त काव्यरूपों का मूल स्रोत है, जहाँ भाव-पक्ष और शैली पक्ष का संगम है। कल्पना की आधार भूमि पर जब आदर्श तत्त्व के साथ संगीत का संयोग होता है, तब प्रसाद नाटक की सृष्टि होती है। ....एक तरह से प्रायः प्रसाद का नाटककार उनके कवि व्यक्तित्व का ही एक पूरक आयाम है। पर इसका एक व्यापक और गहन स्वरूप है प्रसाद के नाटककार व्यक्तित्व में। मैथिलीशरण गुप्त के काल से लेकर आगे तक जो राष्ट्रीय, सामाजिक, नैतिक, सौन्दर्यमूलक चेतना कार्यरत थी और जिसकी अभिव्यक्ति काव्य के माध्यम से उसकाल के कवि कर रहे थे, वहीं, उन्हीं आदर्शों की अभिव्यक्ति प्रसाद अपने नाटकों के माध्यम से कर रहे थे। पर यह तो एक सुदृढ़ आधार था प्रसाद के नाटकों की कथावस्तु के लिये। इसमें जो सृष्टि हुई है - वह है चाणक्य, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, मालविका, देवसेना, ध्रुवस्वामिनी, कोमा आदि चरित्रों के माध्यम से नये मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा। उस समय जिस राष्ट्रीय, राजनीतिक धरातल पर तिलक, गोखले, रानाडे और गाँधी तथा बाद में नेहरु अपने भारत में नये भारत को तलाश रहे थे और उसे नया राजनीतिक अर्थ देना चाह रहे थे, ठीक उसी तरह प्रसाद विशुद्ध सांस्कृतिक धरातल से उसे नये भारत के मर्म और अर्थ को टटोल रहे थे, और उसे अपने ही ढ़ंग से प्रतिष्ठित कर रहे थे। अपनी रुमानी प्रवृत्ति, तथा अपने राष्ट्रीय विश्वासों के कारण अपने समसामयिक संदर्भों और घटनाओं, कार्य चक्रों को अतीत और इतिहास के माध्यम से, उसी स्वर्णिम अतीत, उन्हीं महत विश्वासों के स्तर से देखने की कोशिश कर रहे थे।"[1] प्रसाद के

---

1. डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल - आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच - पृ. 85-86

नाटकों के संबंध में डॉ. लाल का निरीक्षण पूर्णतः सार्थक है। इन्हीं तत्त्वों, प्रेरणाओं के कारण प्रसाद के नाटकों में शुद्ध इतिहास, यथार्थ बोध, दर्शन, स्वच्छंदतावाद, तथा रूमानियत की झलक मिलती है। अपने पूर्वकालीन नाटकों के चिन्तन और शिल्प के विचारों का विरोध करते हुए उन्होंने हिन्दी नाट्य साहित्य को एक स्वस्थ परम्परा प्रदान की जिससे उसका अपना अस्तित्व कायम हुआ।

स्वतंत्रता प्राप्ति की ऐतिहासिक घटना भारत में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना रही है। इसने संपूर्ण देश के परिवेश को प्रभावित किया और संपूर्ण देश के जीवन मूल्य एवं सामाजिक ढांचे में अभूतपूर्व परिवर्तन ला दिया। आज़ादी के बाद के भारत में जागृति के नवोन्मेष का संचार हुआ, ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, कला, संगीत, जीवन-स्तर आदि विभिन्न परिवेशगत तत्त्वों को अपने ढंग से विकसित होने का अवसर मिला लेकिन परिवर्तन तुरन्त संभव नहीं होता। इसमें समय लगता है। यह नाटककारों के लिए एक अजीब स्थिति थी। एक ओर तो एक ही रात में पूरे देश का जीवन मूल्य बदल गया दूसरी ओर जीवन एवं जगत् में कोई परिवर्तन उन्हें दृष्टिगत नहीं हुआ जिसके प्रति उनकी प्रतिक्रिया किसी रचना में ढल पाती। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की यह संक्रान्तिकालीन जड़ता, अस्पष्टता और दिशाहीनता की द्विधाग्रस्त मनःस्थिति में हिन्दी के नाटककार नए-नए विषयों की खोज में भटकने लगे। आज़ादी की घटना के कारण भारत-भूमि पर जो भारी उथल-पुथल मची थी उसने जीवन और साहित्य में एक धुंध-सी फैला दी थी। एक दशक बीतने के बाद ही दिशा और दृष्टि का वह धुंधलापन साफ हो सका और शैली, शिल्प एवं कथ्य सभी दृष्टि से महत्वपूर्ण नाटकों की रचना होने लगी।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाट्य साधना में कथ्य-शैली, शिल्प एवं रंगदृष्टि के स्तर पर नवीनतम प्रवृत्तियों का विकास हुआ है। सर्वप्रथम इस युग के नाटकों में युगीन जीवन संदर्भ को विभिन्न दृष्टियों से उलट-पुलट कर देखने की कोशिशें शुरू हुई और समकालीन जीवन की सीमाओं एवं उपलब्धियों को चित्रित करने की कोशिशें की जाने लगी। "स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक में कथ्य के स्तर पर जो महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियाँ अपनायी गई उनमें मानव के प्रत्यक्ष जीवन को नाटकीय कथ्य के निकट लाने की प्रवृत्ति सर्वप्रमुख रही है। इस काल के प्रायः सभी नये नाटककारों ने विभिन्न सामाजिक - राजनीतिक विसंगतियों, औद्योगिक सभ्यता के अभिशापों, आर्थिक वैषम्य के दुष्परिणामों युवा पीढ़ी की दिग्भ्रान्ति और जीवन-दृष्टिहीनता आदि को अपना कथ्य बनाया है।"[1] इस कथन से स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक में हुए बदलाव को समझा जा सकता है। इस काल में कथ्य, शैली और शिल्प के आकर्षक, अनूठे और अद्भुत प्रयोग संभव हुए। इस काल के नाटकों का कथ्य या विषय समाज और व्यक्ति-जीवन की विषमताएँ, विभिन्न नाटकीय स्थितियाँ, समस्याएं और विचित्रता रहीं, न कि समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करना। उन्होंने व्यक्ति जीवन की विसंगतियों को यथासाध्य उसकी सारी विकृतियों के साथ शब्दबद्ध करने का प्रयास किया।

स्वातंत्र्योत्तर काल में नाटककारों ने नाट्यमूल्यों की स्थापना के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन नाटककारों ने नाट्य सृजन इस दृष्टि से की कि रचना का आन्तरिक सौन्दर्य रंगमंच पर विस्तरित हो और उसकी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति

---

1. डॉ. विजयकान्तधर दुबे - हिन्दी नाटक : प्राक्कथन और दिशाएँ - पृ. 66

संभव हो। इस काल में दर्शकों को रंगमंचीयता की ओर अभिमुख करने के लिए नये नाटकों में शैली, शिल्प और कथ्य के असंख्य नवीन प्रयोग कर हर रचना में नवीनता की सृष्टि करने और इस प्रकार दर्शकों को रंगमंच की ओर अभिमुख करने का प्रयास किया गया। इस प्रयास में वैज्ञानिक तकनीकों, पश्चिमी प्रयोगों और नवीन मौलिक उद्‌भावनाओं का आश्रय लिया गया। इस तरह के प्रयासों के फलस्वरूप स्वातंत्र्योत्तर काल में नाटक को नयी अर्थवत्ता प्राप्त हुई और ऐसा महसूस होने लगा कि वास्तव में नाटक और रंगमंच का संबंध अविच्छेद्य है।

इस ढ़ंग के प्रयास करनेवालों में मोहन राकेश का नाम अग्रगण्य है। हिन्दी नाट्य जगत में प्रसाद द्वारा स्थापित नींव पर इमारत खड़ा करने का श्रेय मोहन राकेश को ही है। स्वातंत्र्योत्तर युग में, हिन्दी नाट्य जगत में कदम रखने वाले मोहन राकेश ने प्रसाद के पश्चात् हिन्दी नाट्य जगत में व्याप्त निष्क्रियता का अतिक्रमण करने का स्तुत्य प्रयास किया। उन्होंने पहली बार हिन्दी नाटक को सही तरह से रंगमंच अभिनेयता, निर्देशक और दर्शक से जोड़ने का नूतन प्रयास किया। इस संदर्भ में गोविन्द चातक का कथन पूर्णतः सार्थक लगता है कि - "हिन्दी नाट्य साहित्य में भारतेन्दु और प्रसाद के बाद यदि लीक से हटकर कोई नाम उभरता है तो मोहन राकेश का। ...इसलिए ही नहीं कि उन्होंने अच्छे नाटक लिखे बल्कि इसलिए भी कि उन्होंने हिन्दी नाटक को अँधेरे बन्द कमरों से बाहर निकाला और उसे युगों के रोमानी ऐन्द्रजालिक सम्मोहन से उबारकर एक नये दौर के साथ जोड़कर दिखाया।"[1] इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी नाट्य साहित्य

---

1. गोविन्द चातक - आधुनिक हिन्दी नाटक का अग्रदूत - पृ. 13

को नवीनता से जोड़कर उसमें जान फूंकने का कार्य मोहन राकेश ने ही किया है। उन्होंने प्राचीन भारतीय साहित्य एवं दर्शन तथा आधुनिक पाश्चात्य साहित्य एवं चिन्तन का गहन अध्ययन करते हुए इन दोनों को अपनी मनोभूमि में डालकर नयी कृतियों की सर्जना की।

मोहन राकेश बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने हिन्दी साहित्य की लगभग सभी विधाओं में लेखनी चलाई है। "राकेश ने हिन्दी-साहित्य की जिस किसी विधा को पकड़ा, चाहे वो नाटक, एकांकी, उपन्यास, कहानी, ललित-निबंध या यात्रा-वृत्तान्त हो, सभी में संजीवनीशक्ति भर दी। सभी को नये धरातल पर रूपायित किया। उनके अंदर का सर्जक अपनी निजता के साथ उनकी प्रत्येक विधा की रचना में व्याप्त है।"[1] उनके नाटक एवं एकांकी संग्रह के विवरण निम्नलिखित हैं–

(क) नाटक

1. आषाढ़ का एक दिन - 1958 ई., प्रथम संस्करण
2. लहरों के राजहंस - 1963 ई., प्रथम संस्करण
3. आधे - अधूरे - 1969 ई., प्रथम संस्करण
4. पैर तले की ज़मीन - 1975 ई., प्रथम संस्करण

---

1. डॉ. राजेश्वर प्रसाद सिंह - मोहन राकेश का नाट्य शिल्प : प्रेरणा एवं स्रोत - पृ. 23

(ख) एकांकी-संग्रह

1. अण्डे के छिलके अन्य एकांकी तथा बीज नाटक - 1973 ई., प्रथम संस्करण
2. रात बीतने तक तथा अन्य ध्वनि नाटक - 1974 ई. प्रथम संस्करण

राकेश ने 'छतरियाँ' नाम से एक पार्श्व नाटक की रचना भी की है। इस नाट्य प्रयोग को राकेश ने पहले अंग्रेज़ी में 'मैड डिलाइट' नाम से लिखा। उसी का हिन्दी रूपान्तर 'छतरियाँ' है जिसका अनुवाद स्वयं राकेश ने किया था। राकेश का आखिरी नाटक 'पैर तले की ज़मीन' उनकी मृत्यु के उपरान्त उनके मित्र कमलेश्वर की सहकारिता से प्रकाशित हुआ। जीवन के अंतिम दिनों में वे 'नाटक में सही शब्द की खोज' शीर्षक विषय पर 'नेहरु फेलोशिप' के रूप में शोध कार्य संपन्न कर रहे थे। उनकी अकाल मृत्यु के कारण यह कार्य अधूरा रह गया।

राकेश के नाटकों में दृष्यव्य नूतनता के परिचायक तत्त्व थे, स्वातंत्र्योत्तर भारत में उत्तरोत्तर बदलते हुए आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिवेश और नयी जीवन शैली, इनको माध्यम बनाने के कारण उनके नाटकों का शिल्प पूर्ववर्ती नाटककारों से भिन्न दिखाई पड़ता है। उन्होंने अतीत को पृष्ठभूमि के रूप में स्वीकार करते हुए वर्तमान जीवन की जटिलताओं, अवसाद की सघनता, पीड़ा की गहराई और सर्वोपरि उनके चारों ओर जूझते हुए व्यापक परिवेश की अभिव्यक्ति की है। उन्होंने नाटक को सामाजिक ज़िन्दगी से जोड़ते हुए कथ्य के क्षेत्र में भारी

बदलाव उपस्थित किये तथा विषय के नये क्षेत्रों को ग्रहण करते हुए मानव-संवेदना को उभारने का प्रयास किया, मानव की सोच तथा शक्ति को विश्लेषित किया। राकेश प्राचीन एवं अधुनातन भारतीय चिन्तन तथा नाट्य परम्परा और पाश्चात्य नाट्य चिन्तन पद्धति से समान रूप से प्रभावित थे। इस प्रभाव के साथ अपने व्यक्तित्व की निजता को संवलित करते हुए उन्होंने अपने नाट्य शिल्प की अवधारणा प्रस्तुत की है जिसकी विस्तृत चर्चा आगे प्रस्तुत है।

कथानक विवेचन

मोहन राकेश द्वारा रचित प्रथम दो नाटक - 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' का कथानक इतिहासाश्रित है। इनमें सन् 1958ई. में प्रकाशित 'आषाढ़ का एक दिन' उनकी प्रथम ऐतिहासिक नाट्य कृति है। इस कृति ने एक सशक्त नाटककार के रूप में मोहन राकेश की प्रतिष्ठा की। राकेश की इतिहास के प्रति दृष्टि और उसे साहित्य में अंकित करने का दृष्टिकोण प्रसाद से पर्याप्त भिन्न है। मोहन राकेश के लिए वर्तमान यथार्थ की प्रस्तुति का माध्यम है - 'इतिहास'। इस कथन के स्पष्टीकरण के रूप में राकेश के शब्द ही दृष्टव्य है - "इतिहास या ऐतिहासिक व्यक्तित्व का आश्रय साहित्य को इतिहास नहीं बना देता। इतिहास तथ्यों का संकलन करता है, उन्हें एक समय तालिका में प्रस्तुत करता है। साहित्य का ऐसा उद्देश्य कभी नहीं रहा। इतिहास के रिक्त कोष्ठों की पूर्ति करना भी साहित्य का उपलब्धि क्षेत्र नहीं है। साहित्य इतिहास के समय से बँधता नहीं, समय में इतिहास का विस्तार करता है, युग-से युग को अलग नहीं करता, कई-कई युगों को एक साथ जोड़ देता है। इस तरह इतिहास के 'आज' और 'कल' उसके लिए 'आज'

और 'कल' नहीं रह जाते, समय की असीमता में कुछ ऐसे जुड़े हुए क्षण बन जाते हैं जो जीवन को दिशा-संकेत देने की दृष्टि से अविभाज्य हैं। इस तरह साहित्य में इतिहास अपनी यथातथ्य घटनाओं में व्यक्त नहीं होता, घटनाओं को जोड़नेवाली ऐसी कल्पनाओं में व्यक्त होता है जो अपने ही एक नये और अलग रूप में इतिहास का निर्माण करती है।"[1] इसी तरह का इतिहास निर्माण 'आषाढ़ का एक दिन' के कथानक में दृष्टव्य है। इसमें नाटककार का प्रधान उद्देश्य आज के लेखक की व्यथा को चित्रित करना है, कालिदास लेखकों का प्रतीक मात्र हैं।

नाटक का केन्द्रीय कथासूत्र कालिदास और मल्लिका के प्रेम की कथा, प्रेम और आत्म-बलिदान की कथा, एक कलाकार की आत्मयातना की कथा है। नाटक की कथा का विकास तीन अंकों में होता है। कथ्य के अन्तर्गत आने वाली सारी घटनाएँ एक ही स्थल पर, मल्लिका के निवास पर, घटित होती हैं। समय के लम्बे-लम्बे अन्तराल का आभास और घटनाओं के प्रभाव का आभास मल्लिका के उसी निवास से प्रकट होता है।

कालिदास और मल्लिका का प्रेम जिन दिनों में परवान चढ़ता है उन दिनों के मल्लिका के निवास में दीवारें चिकनी मिट्टी से पुती हैं। गेरु के स्वस्तिक बने हैं, किवाड़ भी मिट्टी से पुते हैं। जिनपर हल्दी और गेरु से कमल और शंख के चित्र अंकित है। पूरे वातावरण में एक ताजगी है। 'मल्लिका' कालिदास की मात्र प्रणयिनी नहीं है, वह उसके कवि व्यक्तित्व की प्रेरणा भी है। मल्लिका की माँ

---

1. मोहन राकेश - लहरों के राजहंस की भूमिका से

अम्बिका को यह संबंध स्वीकार नहीं, उसकी दृष्टि में, "वह व्यक्ति आत्म-सीमित है। संसार में अपने सिवा उसे और किसी से मोह नहीं है।"[1] अम्बिका कालिदास के संबंध में यह दृष्टि इसलिए अभिव्यक्त करती है क्योंकि कालिदास मल्लिका के साथ अपने संबंध को स्वीकार नहीं करता, वह ज़िम्मेदारियों से दूर भागता है। अम्बिका यकीन के साथ कहती है कि कालिदास मल्लिका को लोकापवाद के सिवा कुछ नहीं दे सकता।

कुछ वर्षों के बाद, जब मल्लिका अकेली और बुझी हुई है, क्योंकि कालिदास सम्मानित होने उज्जयिनी के राज-दरबार में गया हुआ है तो पाते हैं कि मल्लिका के प्रकोष्ठ में भी अंतर आ गया है। लिपाई कई स्थानों से उखड़ गयी है। गेरु और हल्दी से बने स्वस्तिक, शंख और कमल मुरझा गये हैं। आसन पर भोजपत्र भिखरे हैं, आसन के पास का पीढ़ा टूटा हुआ है। इन सबों के बीच में मल्लिका की ज़िन्दगी का उखड़ापन झाँकता है। कुछ साल और बीत जाने के बाद मल्लिका की ज़िन्दगी में आकाश-पाताल का अंतर आ चुका है। जीवन के इस मोड़ में वह वारांगना बन चुकी होती है। उसके निवास में सब कुछ जर्जर और अस्त-व्यस्त दिखायी देता है, मल्लिका की तरह ही उसकी भी शोभा समाप्त हो चुकी है। दीवारों पर अंकित शंख, स्वस्तिक और कमल के चिह्न लगभग विलीन हो चुके हैं, कोने में फटे जीर्ण-शीर्ण मैले वस्त्र एकत्र हैं। कुल मिलाकर घर कूड़ाघर हो चुका है। मल्लिका के घर का प्रकोष्ठ उसकी प्रतिकृति बन जाता है। जैसे-जैसे

---

1. मोहन राकेश - मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक (सं) - पृ. 40

उसकी जिन्दगी में परिवर्तन आते हैं वैसे-वैसे ही परिवर्तन मल्लिका के उस प्रकोष्ठ में भी गोचर होते हैं।

उज्जियिनी जाने के बाद कालिदास सत्ता और वैभव के मोह में राजसत्ता के साथ जुड़ता चला जाता है, गुप्तवंश की राजदुहिता प्रियंगुमंजरी से परिणय सूत्र में बंध जाता है, और मातृगुप्त नाम स्वीकार करते हुए कश्मीर के शासक के रूप में राजसत्ता प्राप्त करता है। कश्मीर जाते समय अपनी पत्नी के साथ अपने ग्राम हो आता है। प्रियंगुमंजरी मल्लिका से मिलती है और उसकी प्रशंसा करती हुई उसके अभाव पर खेद प्रकट करते हुए उसके घर का परिसंस्कार करना चाहती है। वह यह भी चाहती है मल्लिका किसी अधिकारी से विवाह करे और उसके साथ कश्मीर चले, लेकिन मल्लिका उसका विनम्रता से तिरस्कार करती है।

कश्मीर पहुँचकर कालिदास राजनीति से जुड़ जाता है और इसके साथ उसके अंतरंग में कवि और राजनेता के व्यक्तित्व का अंतः संघर्ष जारी हो जाता है। संभवतः इसी कारण वह एक सफल राजनेता साबित नहीं होता। कश्मीर में विद्रोह हो जाता है और टूटा हारा कालिदास कश्मीर छोड़ उज्जयिनी वापस आता है - यह सोचकर कि राजसत्ता से अलग होकर मल्लिका के साथ एक नया जीवन आरंभ किया जाये। लेकिन समय के आघात ने मल्लिका के जीवन को तोड़-फोड़ दिया था। अब वह विलोम की पत्नी और एक बच्चे की माँ बन गई है। राजसत्ता से हारा कालिदास, दूसरी तरफ अपनी प्रिया के साथ से भी वंछित रह जाता है। इस तरह चारों ओर से थका - हारा कालिदास वहाँ से भी चला जाता है। "कथा आषाढ़ का

एक दिन' से शुरू होती है और वैसे ही आषाढ़ के एक दिन पर समाप्त। प्रस्थान और समापन एक ही बिन्दु पर होता है। मौसम वही है, हर साल वही आषाढ़, वैसी ही अँधेरी रात, घनघोर गर्जन और मूसलाधार वर्षा।..... आषाढ़ की तरह ही मल्लिका और कालिदास की जिन्दगी में घनघोर काले बादल घिर आते हैं, दिन में ही रात-जैसा अँधेरा हो जाता है। फिर शुरू होती है अपनी बाढ़ में उनका सब कुछ बहा ले जाने वाली घनघोर वर्षा। कालिदास और मल्लिका का जीवन अपने-आप में एक सजीव आषाढ़ का दिन जैसा बन जाता है। जिनके जीवन पर आषाढ़ के घने-काले बादलों के बीच से जीवन देने वाली वर्षा के बीच ही बिजलियाँ कौंधती हैं, वज्रपात होता है और वज्रपात से कालिदास और मल्लिका के जीवन का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा मर जाता है।"[1] इस नाटक की कथानक के संबंध में डॉ. राय के मूल्यांकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाटककार ने प्रकृति के एक हिस्से के रूप में मनुष्य को देखते हुए प्राकृतिक बदलाव का सहारा लेते हुए मानवीय ज़िन्दगी के बदलाव को दर्शाया है।

इस नाटक की कथावस्तु इतिहास प्रसिद्ध कवि कालिदास के इतिवृत्त से संकलित की गई है। यह तीन अंकीय नाटक है जिसमें दृश्यों की अलग से कोई योजना नहीं की गई है। इस नाटक की अधिकारिक कथा कालिदास और मल्लिका की प्रेमकथा है। यह अधिकारिक कथा अत्यंत त्रासद है। मल्लिका का भावुक प्रेम जीवन के यथार्थ से आँखें मूँदे रहता है और उसकी माँ की मृत्यु के उपरान्त जब यथार्थ से वह टकराती है तबतक बहुत देर हो चुकी थी। भूख-प्यास और अन्य

---

1. डॉ. नरनारायण राय - रंगशिल्पी मोहन राकेश - पृ. 36-37

ज़रूरतों के खातिर वह अनचाहे विलोम को देह सौंपने विवश हो जाती है। कालिदास और मल्लिका अनचाहे राहों पर भटक जाते हैं।

इस आधिकारिक कथाक्रम में गति और स्थिरता भरने के लिए अनेक प्रासंगिक कथाएँ पिरोई गई हैं। मातुल और कालिदास, निक्षेप और मल्लिका, रंगिनी-संगिनी, तथा अनुस्वार-अनुनासिक, की लघु संबंधों से जुड़ी कथाएं प्रासंगिक हैं। इन कथाओं का उद्देश्य आधिकारिक कथा और प्रधान पात्रों के चरित्र का तीव्रता के साथ विकास करना है। ये कथाएँ मुख्य कथा को मोड दे कर आगे बढ़ाने में सहायता करती है।

राकेश ने इस नाटक के कथानक की सृष्टि कालिदास की रचनाओं के अन्तः साक्ष्य एवं उनसे सम्बद्ध ऐतिहासिक एवं दंत कथाओं के परिप्रेक्ष्य में की है। वस्तुतः नाटक का कलेवर ऐतिहासिक और कथा काल्पनिक है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इस कथा सूत्र में इतिहास कम और मिथक अधिक है। मिथक की विशेषता यह है कि उसकी स्वीकार्यता और विश्वसनीयता अत्यंत व्यापक है। इसलिए "एक विशेष मनःस्थिति में इतिहास भी मिथक बन जाता है और उससे भी अधिक प्रामाणिकता ग्रहण कर लेता है।"[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि इस कथासूत्र में प्रस्तुत कालिदास ऐतिहासिक कालिदास नहीं है बल्कि आधुनिक भाव-बोध के बीच खड़ा कलाकार है और उसके चारों ओर का परिवेश, टूटन समकालीन है। "ऐसी स्थिति में विश्वसनीयता मुख्य हो जाती है, ऐतिहासिकता गौण पड़ जाती

---

1. गोविन्द चातक - आधुनिक हिन्दी नाटक का अग्रदूत, मोहन राकेश - पृ. 59

है।"[1] यहाँ प्रयुक्त कालिदास संकेत मात्र है। अतः यह नाटक ऐतिहासिक सिर्फ कहने के लिए है। वास्तव में यह यथार्थवाद से पूरित आधुनिक भावबोध संपन्न नाटक है। यह ऐतिहासिक धरातल पर लिखा हुआ काल्पनिक नाटक है। उसकी काल्पनिकता इतिहास से जुड़ी हुई है। कालिदास जैसे राजकवि को एक आधुनिक धरातल पर उतारा गया है। रमेश गौतम ने लिखा है- "आषाढ़ का एक दिन' नाटक में राकेश ने कालिदास और उससे जुड़ी घटनाओं को आधुनिक एवं मनोवैज्ञानिक बोध से संपृक्त करके उपस्थित किया है। नाटक में कुछ ही घटनाएँ ऐतिहासिक हैं और समस्त घटनाएँ कल्पित हैं। मोहन राकेश ने 'आषाढ़ का एक दिन' की वस्तु संरचना में इतिहास का भ्रम खड़ा करने की कोशिश की है। इसलिए इतिहास कम और मिथक अधिक है।"[2] राकेश ने कालिदास के जीवन से संबंधित तथ्यों के माध्यम से वर्तमान स्थिति पर बल देते हुए यह दिखाना चाहा है कि एक सृजनशील कलाकार किस तरह व्यवस्था द्वारा कुचल दिया जाता है। वह एक साधारण कलाकार के समान समस्याओं के बीच में पड़कर तनाव एवं घुटन का अनुभव करता है। कालिदास ने स्वयं ही अपनी पीड़ा इस प्रकार व्यक्त की है - "....मैं अपने को बदल लूँ, तो सुखी हो सकता हूँ। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। न तो मैं बदल सका, न सुखी हो सका। अधिकार मिला, सम्मान बहुत मिला, जो कुछ मैंने लिखा उसकी प्रतिलिपियाँ देश-भर में पहुँच गयी, परन्तु मैं सुखी नहीं हुआ।"[3] कालिदास का व्यक्तित्व आधुनिक मनुष्य के समान खंडित है। उनका मन हमेशा दुविधाग्रस्त है। कालिदास के जीवन से संबंधित तथ्यों के माध्यम से राकेश ने वर्तमान स्थिति पर

---

1. गोविन्द चातक - आधुनिक हिन्दी नाटक का अग्रदूत : मोहन राकेश - पृ. 59
2. डॉ. रमेश गौतम - हिन्दी के प्रतीक नाटक - पृ. 170
3. मोहन राकेश - मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक (सं) - पृ. 95

बल देते हुए यह दिखाना चाहा है कि एक सृजनशील कलाकार किस तरह व्यवस्था द्वारा कुचल दिया जाता है।

नाटक का आदि, मध्य और अंत संतुलित है। तीन अंकों के इस नाटक में किसी न किसी प्रकार का आत्मसंघर्ष है, तनाव है। यही तनाव इस नाटक को सफल बनाने में सहायक होता है। इस नाटक में अनेक वर्षों की लम्बी कथा को समेटकर रखा गया है। उसी प्रकार इसमें घटनाओं का संकलन और संवेदनाओं की सघनता का व्यवस्थित आयोजन भी हुआ है। इसमें वर्णित सभी घटनाएँ पाठकों दर्शकों में कुतूहलता और आकांक्षा पैदा करने योग्य है। नेमिचन्द्र जैन ने इस नाटक की वस्तु संगठन की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए इस प्रकार लिखा है - "नाट्यरूप की दृष्टि से 'आषाढ का एक दिन' सुगठित यथार्थवादी नाटक है। जिसमें बाह्य ब्यौरे की बातों से अधिक परिस्थिति से काव्य को अभिव्यक्त करने का प्रयास है।"[1] इस कथन से यह ध्यातव्य हो जाता है कि यह परिस्थिति प्रधान नाटक है जिसे यथार्थवादी शैली में प्रस्तुत किया गया है। इसमें बाह्य एवं आंतरिक यथार्थ को समान रूप से गंभीरता के साथ प्रस्तुत किया गया है। साथ ही इसमें मनुष्य के अंतर्द्वन्द्व को अत्यंत संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया गया है। राकेश ने द्वन्द्व से दम घुटने वाले पात्रों के जीवन वृत्त को अपनी कल्पना के ढाँचे में ढालकर इसमें चित्रित किया है। जीवन की कटुता, तनाव, अधूरापन, चुनाव की पीड़ा आदि समस्याएं ही पात्रों को यथार्थ मनुष्य बनाने में समर्थ है। पाश्चात्य नाट्य सिद्धान्त के अनुरूप इसके अंत में ट्रॉजेडी के नाट्य गुणों का अनुपालन किया गया है।

---

1. नेमिचन्द्र जैन - मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक (सं) - पृ. 78

अनुस्वार - अनुनासिक को विदूषक के रूप में प्रस्तुत करके भारतीय नाट्य शास्त्र के हास्य रस को प्रश्रय दिया गया है। कुल मिलाकर यह नाटक कल्पना और यथार्थ के द्वन्द्व को प्रस्तुत करता है।

'लहरों के राजहंस' को वर्तमान रूप धारण करने से पहले अनेक रूपों से गुज़रता पड़ा है। "अपने पहले रूप में यह नाटक नहीं, एक कहानी थी। कहानी मैंने सन् छियालीस या सैंतालीस में लिखी थी। ....प्रस्तुत नाटक के चार पात्र नन्द, सुन्दरी, अलका और मैत्रेय - उस कहानी में भी थे।"[1] यह कहानी प्रकाशित नहीं हुई। इसके उपरान्त इस कथा को 'सुन्दरी' नामक रेडियो नाटक के रूप में प्रस्तुत किया। इसका रेडियो प्रसारण भी सफल रहा लेकिन नाटककार के शब्दों में, "मुझे हर बार सुनने पर लगा कि नाटक में चरित्रों का वह संतुलन नहीं है जो कि होना चाहिए था। संवादों में भी अपेक्षित से अतिरिक्त कुछ था जो मुझे खटकता था..."[2] और फिर 'सुन्दरी' ने एक रंग नाटक का रूप धारण कर लिया था जिसका शीर्षक था 'रात बीतने तक'। अंततः सन् 1963 ई. में 'लहरों के राजहंस' की रचना हुई। इसके प्रकाशन के उपरान्त भी नाटककार को कुछ छूट गया सा प्रतीत होने लगा था जिसके फलस्वरूप विभिन्न विद्वानों एवं रंगकर्मियों से इस संबंध में विचार-विनिमय करके सन् 1968 ई. में इसे वर्तमान रूप में प्रकाशित किया।

नाटक के प्रारंभ में राजकुमार नन्द की पत्नी सुन्दरी अपने भवन में 'कामोत्सव' का आयोजन करती है। उत्सव के आयोजन में अन्य कर्मचारियों के

---

1. मोहन राकेश - मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक (सं) - पृ. 199
2. वही - पृ. 200

साथ श्यामांग, अधिक सोचने के कारण, अपना कार्य तत्परता पूर्वक नहीं कर पाता। श्वेतांग उसे दीपक जलाने का कार्य सौंपकर स्वयं कार्य करने बैठता है। तभी सुन्दरी आकर कहती है कि आज का आयोजन इतना भव्य होना चाहिए कि वर्षों तक लोगों के मन में उसकी स्मृति बनी रहे। भोजन, आपानक और नृत्य सभी कुछ अद्वितीय होना चाहिए। श्यामांग सोचता है, देवी यशोधरा ने भिक्षुणी के रूप में प्रातः भिक्षा ग्रहण की है फिर आज ही काम उत्सव का आयोजन क्यों किया गया? उधेड़बुन में वह अपना कार्य नहीं कर पाता जिससे सुन्दरी उसे वहाँ से चले जाने का आदेश देती है। सुन्दरी के विचारानुसार यशोधरा यदि सिद्धार्थ को अपने आकर्षण में बाँध सकती तो आज भी सिद्धार्थ राजकुमार ही होते। सुन्दरी की दृष्टि में "नारी का आकर्षण पुरुष को पुरुष बनाता है, तो उसका अपकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है।"[1] अपने रूप सौन्दर्य पर सुन्दरी के अहं को यहाँ देखा जा सकता है।

इसी समय पानी में पत्थर पड़ने का शब्द और साथ ही हंसों का आहत क्रन्दन सुनाई पड़ता है। सुन्दरी सुनते ही उद्विग्न हो जाती है। श्यामांग ने अंधेरे में ताल पर एक डरावनी छाया उतरते देखते ही उस पर पत्थर फेंका था लेकिन सुन्दरी को लगता है कि श्यामांग ने आज के उल्लास को भंग करने की दृष्टि से जानबूझकर ऐसा किया था। वह दक्षिण के अंध कूप में श्यामांग को छोड़ने का आदेश देती है। इस आदेश को सुनते ही अलका आहत हो जाती है और सुन्दरी से निवेदन करती है कि श्यामांग आजकल दुविधा-ग्रस्त है, उसे सहानुभूति और

---

1. मोहन राकेश - मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक (सं) - पृ. 34

उपचार की ज़रूरत है। सुन्दरी अपना आदेश बदलने वाली ही होती है कि सहसा उसके कक्ष में नन्द प्रवेश करते हैं।

थका हुआ नन्द बतलाता है कि उसने जिस मृग का पीछा किया वह अपनी थकान से ही मर गया, जिससे नन्द थकान और टूटन का अनुभव करता है। सुन्दरी नन्द को विश्राम करने को कहती है। सुन्दरी श्वेतांग को आदेश देती है कि श्यामांग को मुक्त किया जाये और उसके उपचार की प्रबंध की जाये। इसी वक्त मैत्रेय यह सूचना देते हैं कि आज के उत्सव में भाग न ले सकने के लिए सभी अतिथियों ने क्षमा याचना की है सुन्दरी इससे अव्यवस्थित होते हुए कहती है - "कामोत्सव, कामना का उत्सव है,... मेरी कामना मेरे अंतर की है। मेरे अंतर में ही उसकी पूर्ति भी हो सकती है।"[1] इसे सुनते ही नन्द और मैत्रेय हताश हो जाते हैं।

इसके बाद सुन्दरी सो जाती है लेकिन श्यामांग का प्रलाप नन्द को सोने नहीं देता। वह अलका से अग्निकाण्ठ, मंगवाकर जला देता है। इसी बीच सुन्दरी नींद से जागकर अपने कल के व्यवहार के लिए खेद प्रकट करती है। सुन्दरी के प्रसाधन में सहायता करने के आग्रह पर नन्द दर्पण लेकर खड़ा हो जाता है। भिक्षु और भिक्षुणियों के समवेत शब्द से अस्थिर हो असंतुलन के कारण उसके हाथ के दर्पण गिरकर टूट जाता है। सुन्दरी शेष करती है, अलका सूचना देती है कि द्वार पर दो बार गौतम बुद्ध भिक्षा के लिए आकर बिना भिक्षा-ग्रहण किये लौट गए। इससे आकुल होकर नन्द गौतम बुद्ध से क्षमा याचना करने जाता है।

---

1. मोहन राकेश - मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक (सं) - पृ. 150

कमल ताल पर हंसों को न पाकर सुन्दरी और अलका हैरान हो जाती है। आधी रात बीतने पर भी नन्द के न लौटने पर सुन्दरी चिन्तित है। श्वेतांग अलका को बताता है कि बुद्ध ने नन्द को उपदेश दिया और भिक्षु आनन्द ने उन्हें दीक्षित किया लेकिन नन्द ने बुद्ध का दिया हुआ भिक्षा पात्र अस्वीकार कर दिया। इसी अवसर पर नन्द महल पहुँचकर सुन्दरी के पास चला आता है। नन्द के साथ भिक्षु आनन्द भी उनके साथ है। नन्द का मन अब भी द्वन्द्वग्रस्त है। वह मदिरा पात्र उठाकर भी नहीं पीता। वह कहता है कि केश कटने का विरोध भाई के सम्मान के कारण उन्होंने नहीं किया। मृत मृग को देखने की प्रबल कामना का दमन न कर पाने के कारण वे वन की ओर जाते हैं और वहाँ एक व्याघ्र से उलझ पड़ता है।

सुन्दरी के कक्ष पहुँचकर नन्द उसका विशेषक गीला करने का प्रयास करता है लेकिन इसी बीच सुन्दरी नींद से जाग जाती है और नन्द के मुंडित सिर को देखकर वह आहत हो जाती है। वह समझती है कुमार के स्थान पर कोई दूसरा राजभवन लौटकर आया है। नन्द अपने को एक टूटा नक्षत्र समझता है। सुन्दरी की कटु उक्तियों के प्रहार से नन्द व्याकुल और हारा हुआ महसूस करता है। वह चला जाता है। उसके चले जाने पर सुन्दरी सिसक उठती है।

इस नाटक का आधार अश्वघोष कृत 'सौन्दरनन्द' है और इसकी पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है। राकेश के शब्दों में "दो दीपाधार एक ऊँचा, शिखर पर पुरुषमूर्ति-बाँहें फैली हुई तथा आँखें आकाश की ओर उठी हुई। दूसरा छोटा, शिखर पर नारी मूर्ति-बाँहों सिमटी हुई तथा आँखें धरती की ओर झुकी हुई। पहले-पहल शायद अश्वघोष का 'सौन्दरनन्द' पढ़ते हुए यह बिम्ब मन में बनने लगा था। .....उस

काव्य का अपना बिम्ब तरंगों पर तैरते राजहंस का है.... मेरे लिये वह सब धुँधला दृश्य था। स्पष्ट थे दो दीपाधार जो 'सौन्दरनन्द' में नहीं थे। पिछले बीस वर्षों में न जाने कितनी बार और कितनी तरह से मैंने इन दीपाधारों के बीच के धुँधले दृश्य को बदलते देखा है। हर बार का दृश्य एक नये दृश्य का आभास देकर फीका पड़ जाता है।"[1] इसी मनोभूमि के कारण राकेश ने इस नाटक को बार-बार सँवारने का प्रयत्न किया और इस प्रयत्न की अंतिम परिणति ही नाटक का वर्तमान रूप है। नाटक अपने वर्तमान स्वरूप में परस्पर विरोधी स्थितियों, विचारों, तथा जीवन मूल्यों के बीच अपने अस्तित्व तथा स्त्री-पुरुष संबंधों की तलाश और उस तलाश की प्रक्रिया में तीव्र अन्तः संघर्ष को झेलते आधुनिक व्यक्ति को प्रस्तुत करता है। नन्द, सुन्दरी और गौतम बुद्ध जैसे ऐतिहासिक चरित्र इसमें हैं, लेकिन यह नाटक ऐतिहासिक घटना चरित्र की प्रासंगिक प्रस्तुति नहीं है। यहाँ नन्द और सुन्दरी की कथा एक आश्रय मात्र है, नाटककार का उद्देश्य उस अन्तःसंघर्ष को स्पष्ट करना है, जो हमारा आज का है। इस संदर्भ में नाटककार के विचार स्मरण करने योग्य है - "प्रस्तुत नाटक का आधार भी ऐतिहासिक है, परन्तु उतने ही अर्थ में जितना इस व्याख्या में आता है। कथा का आधार अश्वघोष का, 'सौन्दरनन्द' काव्य है, परन्तु समय के विस्तार में स्थितियों का परिक्षेपण करने के कारण यह काल्पनिक भी है।"[2] इससे यह सिद्ध होता है कि नाटककार ने अपने उद्देश्य के अनुरूप वस्तु और चरित्र का कल्पना द्वारा परिष्कार किया है।

---

1. मोहन राकेश - 'लहरों के राजहंस' के तीसरे संस्करण की भूमिका - मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक (सं) - पृ. 199
2. मोहन राकेश - मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक (सं) - पृ. 198
   (लहरों के राजहंस - पहले संस्करण की भूमिका से)

'लहरों के राजहंस' नाटक की कथावस्तु सुव्यवस्थित एवं सुगठित है। इसका वस्तु संयोजन तीन अंकों में हुआ है। इस नाटक की केन्द्र बिन्दु सुन्दरी है। संपूर्ण नाटक का दृश्यबंध सुन्दरी का कक्ष है। नाटक की सारी घटनाएँ आपस में जुड़ी हुई हैं। नन्द और सुन्दरी की कथा प्रसंग आदि से अंत तक चलता है। इसके अलावा अलका और श्यामांग का प्रसंग पताका के रूप में आया है। यह मुख्य कथा को पोषित करने में सक्षम निकला है। श्यामांग-प्रलाप का एक प्रसंग इसमें वर्णित है। यह नन्द के मानसिक तनाव पर प्रकाश फैलाता है। इसमें सभी प्रासंगिक कथाएं बड़ी सहजता के साथ बुनी गयी हैं।

'लहरों के राजहंस' नाटक के बारे में डॉ. अवस्थी ने इस प्रकार कहा है "लहरों के राजहंस' में आधुनिक यथार्थवादी नाट्य रचना पद्धति के व्यवहारों और रूढियों का पालन किया गया है। एक ही दृश्य बंध पर कथा घटित होती है। नाटक की कथा का विभाजन तीन अंकों में किया गया है। अंकों को दृश्यों में नहीं विभाजित किया गया है। यथार्थवादी नाट्य रचना पद्धति में एक दृश्यबंध और तीन अंकों वाले नाटकों का विकास आधुनिक रंगमंच के स्वरूप और प्रदर्शन की परिस्थितियों तथा साधनों के कारण हुआ है और इसके पीछे एक शिल्पगत अनिवार्यता है।"[1] आधिकारिक कथा और प्रासंगिक कथाओं के सुंदर समन्वय होने के कारण नाटक में गति और जीवन्तता अंत तक बनी रहती है। श्यामांग का प्रतीकात्मक प्रसंग नन्द के अचेतन मन के प्रतीक के रूप में बना रहता है इस संपूर्ण नाटक की कथा में भिखराव और शिथिलता कहीं भी नहीं। कथावस्तु के

---

1. डॉ. सुरेश अवस्थी - लहरों के राजहंस : एक समीक्षा - पृ. 54

इतिहासबोध में कल्पना के रंग चढ़ने से रोचकता तथा मौलिकता का स्पर्श दर्शनीय है। समग्रतया विचार करने पर ज्ञात होता है कि राकेश की कथा का धरातल ऐतिहासिक है लेकिन आधुनिकता से अनुप्राणिता है। इस नाटक के सभी पात्र दुविधाग्रस्त वातावरण से गुज़रने वाले हैं। इन्हीं कारणों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह समकालीन संवेदना से युक्त नाटक है।

मोहन राकेश की बहुचर्चित नाट्य कृति 'आधे-अधूरे' का प्रकाशन सन् 1963 में हुआ। यह एक मध्यवर्गीय पारिवारिक त्रासदी है। इसमें मध्यवर्गीय परिवार के संघर्षपूर्ण जीवन का यथार्थ चित्रण है। इस नाटक की मूल संवेदना समकालीन आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिवेश में परस्पर टकराहट और टूटन की पीड़ा को झेलता हुआ व्यक्ति और समाज है। इस संवेदना का संप्रेषण मध्यवर्गीय परिवार और उसके सदस्यों को केन्द्र में रखकर किया गया है। इस टकराहट और टूटन की पीड़ा को झेलता हुआ व्यक्ति अपने घर की तलाश में जुटा है। डॉ. गोविन्द चातक ने इस नाटक के संबंध में लिखा है - "....यह नाटक अर्थ की कई छायाएं उजागर करता है - नारी की मुक्ति भावना, विघटनशील जीवन-मूल्य, वैवाहिक संबंधों की विडम्बना और पुरुष का अधूरापन किन्तु नाटक के केन्द्र में दो ही बातें मुख्य हैं - घर और घर में रहनेवाले लोगों का अधूरापन।"[1] यह टिप्पणी नाटक के पूरे अर्थ को खोलकर रख देती है।

इस नाटक में आधुनिक परिवेश में जीवन की विडम्बनाओं का नाटकीय विश्लेषण किया गया है। नाटक में चित्रित परिवार गृहस्वामिनी 'सावित्री' के नौकरी

---

1. डॉ. गोविन्द चातक - आधुनिक हिन्दी नाटक का अग्रदूत : मोहन राकेश - पृ. 89

से अर्जित धन पर गुज़ारा करती है। गृह स्वामी महेन्द्रनाथ कभी एक फैक्ट्री के मालिक थे, लेकिन फिलहाल अपनी पत्नी पर आश्रित है, स्वयं ही आंतरिक संघर्ष में पड़ा है। महेन्द्र-सावित्री के दाम्पत्य जीवन की मात्र इतनी उपलब्धि है कि उन्होंने तीन संतानों को जन्म दिया है - पुत्र अशोक, बड़ी बेटी बिन्नी और छोटी बेटी किन्नी। अन्यतः पति-पत्नी के रूप में वे एक लम्बे समय से तनावग्रस्त ज़िन्दगी जी रहे हैं। लगातार एक तरह का तनाव, एक दूसरे के प्रति वितृष्णा और उससे उपजी घिसापिट से दोनों के बीच का संबंध लगभग टूट सा गया है। दोनों इस संबंध को उतार फेंकना चाहते हैं। इसलिए बीच-बीच में महेन्द्र घर से रूढकर चले जाते हैं लेकिन फिर वापस आ जाते हैं। सावित्री शादी के दो साल बाद ही इस संबंध में उफन महसूस करने लगी थी, इसलिए वह जुनेजा को अपनाकर इस संबंध को उतार फेंकने का एक असफल प्रयास करती है। इसके बाद हर दूसरे-चौथे साल क्रमशः शिवजीत, जगमोहन, सिंघानिया, मनोज फिर जगमोहन के सहारे इस परिवार तथा महेन्द्र को त्याग ने का प्रयास करती रही, लेकिन सफल नहीं हो पायीं। संबंध को उतार फेंकने के इस प्रयास में वह महेन्द्र और परिवार के अन्य सदस्यों के व्यक्तित्व को तोड़ती रहीं है।

बड़ी लड़की बिन्नी ने मनोज से विवाह किया है लेकिन उसका दाम्पत्य जीवन भी ठीक उसी तरह की घुटन का शिकार है जैसे सावित्री का अपना है। मनोज का कहना है कि यह घुटन उसे अपने घर से ही प्राप्त हुआ है। इस कारण बिन्नी अपने पति से लड़ झगड कर हर दो दिन बाद माँ के पास आती है। लड़का अशोक भी इसी तरह की घुटन अनुभव करता है और एक किस्म के नैराश्य का

शिकार है, न उसे इस घर से लगाव है, न अपनी ज़िन्दगी से। इसलिए माँ के प्रयासों से प्राप्त 'एयर फ्रिज' की नौकरी छोड़ देता है, दूसरी नौकरी के सिल-सिले में घर पर बुलाये सिंघानिया को मूर्ख बनाता है और पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित फिल्म अभिनेत्रियों के चित्रों तथा सस्ती यौनोत्तेजक पुस्तकों में खोया रहता है। छोटी लड़की किन्नी बद्तम्मीज़ और बद्बान बन गई है, आस-पडोस से लड़ते झगड़ते रहना तथा यौन संबंधों की बातें करने में उसकी रुची है, जबकि वह मात्र बारह साल की है। इस तरह सभी सदस्य एक दूसरे से कटे हुए और भीतर से टूटे हुए हैं। परिवार के सदस्यों के बीच प्यार का अभाव था। परस्पर टकराते हुए, बिखरकर टूटते हुए, दूसरों को तोड़ते हुए भी एक ही परिवार में रहने के लिए विवश ये पात्र समकालीन जीवन के यथार्थ का साक्षात्कार कराते हैं। इस नाटक के बारे में इब्राहिम अलकाजी ने लिखा है - "यह नाटक मध्यवर्गीय जीवन की शुष्क, विनाशकारी रिक्तता का प्रखर दस्तावेज है और विकृत मूल्यों, भ्रान्तियों और दोगली नैतिकता का निर्मम अनावरण है जो उस रिक्तता के कारण है। इसके केन्द्र में पत्नी के वे प्रयत्न है, जो वह अपने बिखरने परिवार को बाँधने के लिए करती है।"[1] इस तरह नाटक मध्यवर्गीय जीवन की विसंगतियों पर नज़र डालती है।

इस नाटक के वस्तु-संयोजन के बारे में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसमें कथा नहीं है। नाटककार ने इसमें एक मध्यवर्गीय परिवार के जीवन की कुछ घटनाओं को पिरोया है। इसमें परम्परागत वस्तु नहीं है, क्योंकि यहाँ घटनाओं की अपेक्षा चरित्रों की मानसिकता को वस्तु का आधार बनाया गया है, घटनाओं की

---

1. इब्राहिम अलका - आज के रंग नाटक - पृ. 16

मात्र सूचना दी गई है। "आधे-अधूरे में कथाहीनता में कथा की तलाश है। अधूरेपन में पूरेपन को खोजने का प्रयास है। असंबद्धता में सम्बद्धता, विभिन्न स्थितियों और मनःस्थितियों में आधे और अधूरे जीवन एक वृत्त है।"[1] नाटक में यथार्थबोध को अधिक महत्ता दी गई है। नाटक का घटना स्थल एक ही है। नाटक में आदि, मध्य और अंत के रूप में कथानक बिखरे पड़े हैं। इस बिखराव के बावजूद कथानक आकर्षक एवं प्रभावपूर्ण है। इसमें अंतराल शब्द का नवीन प्रयोग करते हुए वस्तु को दो भागों में विभाजित किया गया है।

'पैर तले की ज़मीन' स्वर्गीय मोहन राकेश का अंतिम नाटक है। इस नाटक को पूरा करके प्रकाशित करने का श्रेय उनके घनिष्ठ मित्र कमलेश्वर को है। इस नाटक की कथावस्तु बिल्कुल नयी है। राकेश ने इस नाटक की कल्पना दो अंकों के रूप में लिया था। पहले अंक की रचना राकेश ने पूर्ण किया था लेकिन दूसरे अंक के सिर्फ सात पन्ने लिखे हुए थे। इस नोट्स के आधार पर कमलेश्वर ने दूसरे अंक को पूरा किया और उसके साथ पहले अंक को संशोधित भी किया। डॉ. तिलकराज शर्मा ने लिखा है - "पैर तले की ज़मीन नाटक अस्तित्ववादी जीवन दर्शन पर आधारित हिन्दी का पहला या एकमात्र नाटक कहा जा सकता है।"[2] इस नाटक के संबंध में कही गई बात से स्पष्ट होता है कि इसका एक दार्शनिक आधार है जो पाश्चात्य अस्तित्ववादी चिन्तन से प्रेरित है।

कश्मीर की दो छोटी नदियों के बीच के द्वीप में स्थित टूरिस्ट क्लब में इस नाटक की कथा घटती है। क्लब से शहर जाने के मार्ग में पड़ने वाला पुल बाढ़ के

---

1. डॉ. घनानन्द एम. शर्मा - मोहन राकेश का नाट्य साहित्य - पृ. 56
2. डॉ. तिलकराज शर्मा - अपने नाटकों के दायरे में : मोहन राकेश - पृ. 135

कारण टूट गया है जिससे कुछ व्यक्ति एवं क्लब के कर्मचारी क्लब में ही फँस गये हैं। बारमैन अब्दुल्ला तथा चपरासी नियामत अपना-अपना हिसाब ठीक करने, क्लब के खिड़की-दरवाज़े बन्द करने तथा झुनझुनवाला और पण्डित को बाहर निकालने के लिए खुशामद करने में लगे हैं। झुनझुनवाला और पण्डित ताश एवं शराब में व्यस्त हैं। बार के ठेकेदार शफी का दोस्त अयूब पहले क्लब में था फिर नियामत शफी साहब के आदेशानुसार उन्हें पुल पार छोड़ आया था लेकिन वह पुल टूटने से पहले ही पत्नी सलमा के साथ क्लब में दाखिल हो गया। बाढ़ के कारण बिजली फेल हो गयी, पुल टूट गया, लिद्दर और शेषनाग दोनों दरियाओं का पानी एक-दूसरे में मिलकर बहने लगा।

पानी बढ़ते-बढ़ते क्लब के अंदर आ गया। क्लब की ऐनक्सी टूट गई। क्लब में फँसे सभी अपनी जान एवं अपना बहुमूल्य सामान समेटे अँधेरे में पानी में टटोल-टटोलकर कहीं किनारे की तलाश में लगे हैं। जब जीवन की आशा नहीं रही तो मौत का इंतज़ार किए बिना स्वयं पानी में कूदकर मरने का फैसला करने लगे परन्तु पैरों के नीचे का पानी कम होते देख तथा लोग उन्हें बचाने के लिए रस्सी फेंकते देख उनमें चैन का अनुभव होने लगा। टॉर्च की रोशनियाँ मार कर चारों तरफ से सहायता का हाथ आगे आ रहा था। डेड टेलीफोन की घंटी भी बजने लगा था। जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि खतरा टल गया।

इस नाटक की कथावस्तु अत्यंत नवीन और प्रभावोत्पादक है। इसकी कथावस्तु में क्रमबद्धता एवं नवीनता है। यह समकालीन चेतना से पूर्ण नाटक है। इस नाटक के दो अंक हैं। नाटकों की सारी घटनाएँ क्लब के मकान के कमरे में

ही होती है। सारी कथा बाढ़ को केन्द्रित कर रची गई है। बाढ़ का आरंभ, बाढ़ से उत्पन्न भयानक परिस्थिति स्वीकार और अस्वीकार को तडप आदि के कारण कथावस्तु में जीवन्तता है। बाढ़ से लेकर पानी के उतरने तक की छोटी घटना से कितनी ही विभिन्न मानसिक अवस्थाओं का उदय होता है, इसका जीवन्त चित्रण नाटक में हुआ है। संकलन-त्रय का सुन्दर ढंग से निर्वाह होने के कारण कथावस्तु में बिखराव नहीं है। इसमें हमारे समाज के सभी वर्गों और स्तरों के व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व हुआ है। यहाँ आकर राकेश पति-पत्नी के व्यक्तिगत संबंध से आगे बढ़कर मानव जीवन की सामान्य नियति और उसके अस्तित्व के मूलभूत प्रश्नों से साक्षात्कार करते हैं। व्यक्ति की आंतरिकता की पहचान, मानव-अस्तित्व की अर्थवत्ता का प्रश्न, इच्छा, निर्णय, आत्महत्या, मृत्यु भय, सैक्स और आत्म स्वीकार जैसे अनेक बिन्दु इस नाटक को अस्तित्ववादी रचना के समीप खड़ा करते हैं।

इस नाटक के सभी प्रसंग समकालीन संवेदना से जुड़े हैं। झुनझुनवाला, अयूब आदि का प्रसंग इसका उदाहरण है। झुनझुनवाला एक जीवन दर्शन को व्यक्त करता हुआ कहता है - "हाँ मैं पैदा हुआ तो पहला मंत्र मेरे कान में फूँका गया था कि दुनिया में बड़ी मछली छोटी मछली को खाकर ही जी सकती है और बड़े होने के साथ-साथ मैंने भी जाल बुनने सीखे। हर जाल में सैकड़ों मछलियों को उलझाया और खुश होता रहा।"[1] एक पात्र के माध्यम से एक समाज का चरित्रांकन

---

1. मोहन राकेश - मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक (सं) - पृ. 432

नाटककार ने यहाँ पेश किया है। झुनझुनवाला के शब्दों से सामंतीय वर्ग की सोच पर प्रकाश डाला गया है।

इस नाटक की घटनाएँ बिल्कुल आकस्मिक रूप में घटित होती हैं यही कारण है कि पूरे नाटक में एक विचित्र प्रकार का तनाव है। इस क्लब में केवल आठ व्यक्ति ही बाकी थे। फिर भी इनकी अंतिम अभिलाषाएँ वैविध्यपूर्ण हैं। वे अपनी इच्छापूर्ति के लिए पागल होते हैं। ये सभी प्रसंग कथा की गति को तीव्र करते हैं। टूटा-पुल, बढ़ता पानी और शोर तथा उससे घिरे ये पात्र, दहशत से घिरे मन और कमज़ोर पड़ते हाथ, पूरा नाटक एक ही प्रकार का भयावह, नफरत भरे विकारग्रस्त मनों की चीख को लिए हुए हैं फिर भी वस्तु संगठन की दृष्टि से नाटक में सभी स्थितियों का विन्यास सुन्दर ढ़ंग से की गई है। नाटक की सभी घटनाएँ संभाव्य भी हैं।

पात्र और चरित्र चित्रण

पात्र लेखक के विचारों के वाहक होते हैं। पात्रों के कार्य-कलापों, वैचारिकता एवं परिवेशगत संघर्षों के द्वारा लेखक कथा को विकास देता हुआ एक निष्कर्ष प्रदान करता है। इस निष्कर्ष में निहित रस-प्राप्ति का माध्यम इस तरह पात्र बन जाता है। यह सर्वविदित है कि पात्र और कथानक एक दूसरे के पूरक हैं। नाटकों में कथावस्तु के संचालक होते हैं उसके पात्र। अतः नाटकों में पात्र एवं चरित्र चित्रण का अहम् महत्त्व होता है। कथानक से ही पात्र आधार ग्रहण करता है और चरित्र से कथानक विश्वसनीयता। वस्तुतः दोनों में सामंजस्य की अनिवार्यता है।

राकेश के नाटकों में इस सामंजस्य का स्पष्ट अंकन हुआ है। इसलिए उनके नाटक न तो पूर्णतः घटना प्रधान है और न पात्र प्रधान ही। उनके नाटकों में वस्तु और पात्र दोनों नाट्य स्थितियों से जुड़कर एक से हो जाते हैं।

मोहन राकेश अपने नाटक के कथ्य व शिल्प को लेकर जितने चर्चित हुए उससे अधिक प्रख्यात अपने प्रयोगधर्मी पात्र सृष्टि को लेकर रहे। उनके नाटकों के पात्र अपनी जीवन्तता के लिए विशेष ख्यात है। उनके नाटकों के पात्र आधुनिक तथा किसी न किसी तनाव से पीड़ित हैं। राकेश के नाटकों के पात्र कथावस्तु के अनुकूल और समकालीन समस्याओं को भोगने वाले हैं। उन्होंने सम्पूर्ण नाटकों में समस्त पूर्वाग्रहों से नाता तोड़ कर अपना संबंध सिर्फ मानव से जोड़ा था। "मानव-चरित्र का वह रूप जो अपने भीतर के निविड अंधकार में खुद की तलाश में छटपटाता है और खुद से खुद तक की भागदौड में थक हारकर पस्त हो जाता है, ऐसे मानव को राकेश पस्त हो जाता है, ऐसे मानव को राकेश ने पात्र-जीवन के सामान्य सरोकारों से ऊपर उठा कर अधुनातन प्रयोग एवं सार्थक चिन्ता के साथ रचा है।"[1] इससे स्पष्ट है कि राकेश ने समसामयिक संवेदनाओं से युक्त पात्रों का सृजन करते हुए प्रयोगधर्मिता की एक नवीन राह प्रशस्त किया। राकेश ने अपने नाटकों के परिवेश के अनुरूप पात्रों की योजना की है।

मोहन राकेश के नाटकों के नायक कालिदास, नन्द, महेन्द्रनाथ एवं मोहम्मद अयूब चारों भिन्न देशकाल, भिन्न वातावरण, भिन्न परिस्थितियों से लिये गए हैं। कालिदास कल्पना में विहार करने वाला कवि, नन्द सुरा-सुन्दरी, मृगया में आसक्त

---

1. डॉ. लक्ष्मी शर्मा - मोहन राकेश के साहित्य में पात्र संरचना - पृ. 183

सामंत, महेन्द्रनाथ आधुनिक युग के मध्यवर्गीय पराजित बुद्धिजीवी और मोहम्मद अयूब अपने घर-पत्नी से निराशा आंतरिक तृप्ति बाहर खोजता एक पूँजीपति। इन सभी नायकों में व्यक्तित्व की दृढ़ता का अभाव परिलक्षित होता है। सभी में दृढ़ निश्चय का अभाव तथा अपने निश्चयों को क्रियान्वित कर पाने की असामर्थ्य भी एक सी ही है।

कालिदास आचार्य वरुरचि के साथ ग्राम छोडने के प्रश्न पर अन्तर्द्वन्द्व से ऐसा जूझाता है कि बस फिर सारी उम्र उससे छुटकारा नहीं मिलता। उसके जीवन का नियंत्रक वह स्वयं न होकर कोई और बन जाता है। नन्द में भी निश्चय की दृढ़ता की कमी का परिचय मिलता है। सुन्दरी ने कामोत्सव का आयोजन किया है लेकिन नन्द के मन में कहीं ऐसा लगता है कि प्रातः देवी यशोधरा दीक्षा ग्रहण करेंगी, इसलिए आज की रात्रि में कामोत्सव का आयोजन ठीक नहीं है - पर वह स्वयं को व्यक्त नहीं कर पाता। भिक्षु आनन्द उसके केश काट देते हैं पर वह प्रतिरोध नहीं कर पाता।

इसी प्रकार महेन्द्रनाथ कभी दोस्तों के व कभी पत्नी के हाथ की कठपुतली बना रहता है। मित्रों के कहने से व्यापार में उनका साथ देता है, पत्नी के कहने से वह स्वयं को मित्रों से काट लेता है। मोहम्मद अयूब में यह दृढ़ता की कमी दूसरे रूप में दिखाई देता है। वह पत्नी से निराश है पर उसकी निराशा का कारण अपने व्यवहार में न खोजकर उसमें ही खोजता है और अपने अंदर की आवाज़ों से परेशान होकर कभी भाई और पिता से लड़ बैठता है और कभी मोटर तेज़

चलाकर, एक्सीडंट करा लेता है तथा कभी दूसरी छोटी बड़ी लड़कियों से कुछ रिश्ते बिठाने लगता है।

इन सामान्य समानताओं के अलावा जो बहुत बडी भावात्मक समानता इन पुरुषों में दर्शनीय है, वह है - अपने-अपने स्त्री के प्रति अथाह अनुरक्ति। इनके हृदयों में नारी के लिए वह कोमल स्थान है कि उसकी तुलना किसी से नहीं की जा सकती। ये पुरुष अपनी-अपनी नारी के बिना जी पाने की कल्पना भी नहीं कर सकते। परिस्थितियों, व्यवहार, आचरण में अंतर होते हुए भी इनका मानस समान है।

जितने निकट नाटक के नायक है उतनी ही दूर नायिकाऐं हैं। मल्लिका, सुन्दरी, सावित्री और सलमा ने अपनी मंजिल को पाने के लिए बहुत कुछ खोया और बहुत कुछ हासिल भी किया है। उनके भीतर की दया-ममता का भाव उसी प्रकार अपरिवर्तित है पर उनकी अभिलाषा, जीवन-दृष्टि तथा चिन्तन पद्धति में काफ़ी अंतर है। उनके जीवनयापन का ढ़ंग और उनकी उपलब्धियाँ भी अलग-अलग हैं।

मल्लिका गाँव की एक सीधी-सादी भावुक, प्रेममयी समर्पण भावना से युक्त लड़की है। वह अपनी कोमल अनश्वर पवित्र भावना से प्रेम करने वाली और कालिदास से अपने संबंध को और सब संबंधों से बड़ा मानने वाली, जिसकी केवल एक ही आकांक्षा है - कालिदास के व्यक्तित्व को अधिक पूर्ण देखने की। "माल्लिका प्रेम की वह आस्था है जहाँ संदेह अथवा अविश्वास स्पर्श भी नहीं करते। कालिदास को स्वयं ही प्रयत्न करके अपने से दूर भेज रही है, बड़ा बनने

के लिए। उसे क्षण भर को भी ऐसा नहीं लगा है कि कालिदास बड़ा बनकर उसे भूल जाएँगे। अम्बिका के व्यंग्य, विलोम की कटूक्तियाँ, व्यापारियों के मुख से सुनी गई कालिदास के चरित्र स्खलन संबंधी वार्ताएं कोई भी उसके विश्वास को ज़रा भी नहीं हिला पाए।"[1] एक तरह से पूरे नाटक पर उसी का कोमल समर्पणशील व्यक्तित्व छा जाता है। कालिदास के प्यार के आगे उसका 'अहं' कभी नहीं आया है।

'लहरों के राजहंस' की सुन्दरी 'अहं ग्रस्त' नारी है। वह स्वयं को नन्द के लिए न समझकर नन्द को स्वयं के लिए समझती है। अपनी हर अप्रसन्नता का कारण वह नन्द को मानती है। निमंत्रित लोग उसके घर नहीं आ रहे हैं यह जानकर वह नन्द पर ही बरस पड़ती है जबकि नन्द उसके खातिर सभी के घर जाकर प्रार्थना करके आया था। सुन्दरी में विनम्रता के स्थान पर अभिमान है। अपने रूप पर, अपनी चातुरी, अपनी बुद्धि पर उसे अभिमान है। वह प्रसाधन कर रही हैं और नन्द दर्पण लिए खड़ा है। नन्द के हाथ से दर्पण हिल जाता है, इस असुविधा को सुन्दरी सहन नहीं कर पाती और वह प्रसाधन सामग्री हाथ से छोड़ देती है, यह कहते हुए कि उसे तो प्रसाधन ही नहीं करना है। नन्द के गौतम बुद्ध के पास जाकर न लौटने पर वह स्वयं कहती है कि यदि न जाने देती तो मुझे ही लगता कि मुझे उनपर विश्वास नहीं है। पति के केश कटे देखकर ही उसका वह विश्वास छिन्न-भिन्न हो जाता है। सुन्दरी में एक अभिजात्यवर्गीय, रूपगर्विता, आत्मकेन्द्रित नारी के दर्शन होते हैं।

---

1. डॉ. पुष्पा बंसल - मोहन राकेश का नाट्य साहित्य - पृ. 107

'आधे-अधूरे की मूल चेतना से जुड़ी सावित्री नौकरी पेशा स्त्री है। उसकी नज़र में उसका पति मूर्ख, निकम्मा, चिपचिपा और लिजलिजा है। उसकी हड्डियों में जंग लग गया है। सावित्री का विश्वास है कि उसकी बुद्धि, उसकी नौकरी के बल पर सारा घर टिका हुआ है। घर की टूटती-बिखरती ज़िन्दगी से उदासीन होकर पूरे आदमी की तलाश में जुनेजा, शिवजीत, जगमोहन और सिंघानिया की ओर झुकती है। लेकिन उसको जैसे पुरुष मात्र पर ही विश्वास नहीं है। एक के बाद एक पुरुष को वह अपने लिए मनमाने रूप में प्रयोग करना चाहती है और खण्डित विश्वास लेकर असफल रह जाता है। अपने जीवन वृत्त में उसकी यात्रा अधूरेपन को मिटाने के लिए थी लेकिन वह कभी नहीं मिटी।

सलमा जिन्दगी से उदासीन होकर जी रही है, इसीलिए अयूब के मन में डर रहता है। सलमा अपने को किसी के साथ सम्बद्ध नहीं करती है। वह पुरुष के व्यवहार को अधिक कुशलता से विश्लेषित कर सकती है। उसके मन में उसके शैशव का साथी डॉक्टर आसीन है। विवाह के पश्चात् उसने उसका सामना नहीं किया परन्तु पति की महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति करने में वह असफल हो जाती है और उदासीनता का मुखौटा अपनाती है। वह मशीन की तरह जीती है और कब्रिस्तान की तरह मरती है। अन्त निकट जानकर जब अयूब सबके सामने ही नीरा को पकड़ना चाहता है तब वह रीता के साथ मिलकर उसे अयूब से बचाती है और अयूब को ललकारती है कि वह ऐसा नहीं कर सकता, एकाएक उसका प्रतिप्रेम सतह पर फूट आता है। वास्तव में सलमा अपने पति पर असंतुष्ट नहीं, लेकिन उनके व्यवहार मात्र से उन्हें घृणा है। वास्तव में नाटककार ने सलमा और अयूब के द्वारा शहरी दम्पतियों का चित्रण किया है।

'आषाढ़ का एक दिन' नाटक का विलोम एक खलनायक है। वह नाटक का सजीव और सशक्त पात्र है। वह एक स्पष्ट वक्ता है। वह वास्तव में एक खलनायक नहीं, मनुष्य की विरोधी प्रवृत्तियों का प्रतीक है। उसका व्यक्तित्व परम्परागत खलनायक से भिन्न है। मल्लिका, कालिदास और विलोम के बीच की केन्द्र बिन्दु है। मल्लिका के सामने ही दोनों टकराते हैं। एक दूसरे पर व्यंग्य-बाण, छोड़ते हैं लेकिन खलनायक होते हुए भी - "विलोम की भूमिका नाटक को कोई मोड़ नहीं देती। वह कथानक के विरुद्ध न तो कोई षड्यंत्र करता है न उससे टकराना है, उसके चरित्र के अप्रीतिकर पक्षों को उद्‌घाटित करने में ही उसके पात्रत्व की सार्थकता है। वह धूर्त नहीं स्पष्ट वक्ता है, किन्तु उसकी स्पष्टवादिता में द्वेष का स्वर मुखरित हुआ है।"[1] 'विलोम' अपने नाम को सार्थक करनेवाले चरित्र के अधिकारी है। वह कालिदास की खलवृत्ति को उभारने वाला चरित्र है। विलोम यथार्थवादी, आक्रामक और नकारात्मक चरित्र है। वह कहता भी है, "विलोम क्या है? एक असफल कालिदास। और कालिदास? एक सफल विलोम। हम कहीं एक दूसरे के निकट पड़ते हैं।"[2] वस्तुतः कालिदास और विलोम परस्पर विरोधमूलक न होकर एक दूसरे के पूरक हैं। वह जीवन के निषेधात्मक पहलू का प्रतीक है। "नाटक में विलोम जो कालिदास की अपेक्षा अधिक सबल प्रतीत होता है, दुराग्रह की आक्रामक शक्तियों को संकेतित करता है। वह व्यक्ति अपने अन्तर्द्वन्द्व को खो चुका है। इसलिए अपेक्षतया अधिक संयोजित है।"[3] विलोम आधुनिक युग के

---

1. जगदीश शर्मा - मोहन राकेश की रंग-सृष्टि - पृ. 23
2. मोहन राकेश - मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक - पृ. 51
3. डॉ. जयदेव तनेजा - समसामयिक हिन्दी नाटकों में चरित्र सृष्टि - पृ. 109

बहुतेरे व्यक्तियों के स्वभाव का प्रतिनिधित्व करता है। वह आज के मानव की नियति को व्यक्त करने में एक सशक्त चरित्र है।

मल्लिका की माँ अम्बिका एक यथार्थवादी पात्र है। वह प्राचीन रूढ़ियों का प्रतिनिधित्व करने वाली पात्र है। उसकी सृष्टि नाटककार ने यथार्थवादी भूमि पर की है जिसने जीवन की कटुता का घूँट पिया है, वैधव्य की यंत्रणा सही है, प्रताडना एवं उपेक्षा की कड़वाहट से उसका हृदय तड़पता रहता है। वह एक कर्मनिरत पात्रा है, वह कहती है, "माँ का जीवन भावना नहीं कर्म है। उसे घर में बहुत कुछ करना है।"[1] वह एक अनुभवी नारी है। उसे वर्तमान और भविष्य का पूर्ण ज्ञान है। वह दृढ़ता के साथ स्पष्ट कहती है कि आत्म केन्द्रित कालिदास उज्जयिनी ज़रूर जायेगा। सम्मान प्राप्त होने पर कालिदास द्वारा प्रकट की गई उदासीनता सिर्फ ढ़ोंग है, उसके महत्त्व को बढ़ाने के लिए। अपनी बेटी के जीवन को एक ठोस आधार देने में असफल अम्बिका एक आदर्श भारतीय माँ के रूप में चित्रित हुई है।

नाटक में आधुनिकता और समकालीन अनुभव के और भी कई आयाम है। विभिन्न पात्र उनमें सहायक हुए हैं। मातुल आज की अवसरवादी प्रवृत्ति को स्पष्ट करता है। सत्ताधारियों की चाटुकारिता और प्राप्त अवसर के अनुकूल अपने को बदल लेना उसकी प्रवृत्ति है। भौतिक लाभ ही, उसका मुख्य लक्ष्य है। उसकी भौतिक दृष्टि कविता को, कवि को महत्त्व नहीं देती; महत्त्व देती है - सत्ता को, राज्य को, राजकीय सम्मान को। राजपुरुष दंतुल सत्ता वर्ग का प्रतिनिधि है। उसका

---

1. मोहन राकेश - मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक - पृ. 34

साधिकार प्रवेश, हिंसक वृत्ति, कठोर वचन, अहंकार और अधिकार का आग्रह उस वर्ग की मनोवृत्ति का ही सफल उदाहरण है। प्रियंगुमंजरी कालिदास की पत्नी है, वह भी इसी सत्ता वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है। उसके व्यक्तित्व में आभिजात्य वर्ग का दर्प, संस्कार, कुशलता, व्यावहारिक शिष्टता तथा स्त्री सुलभ ईर्ष्या, और मल्लिका के आगे हीनता और घबराहट है। नाटक को आधुनिक संदर्भ से जोड़ने वाले पात्रों में रंगिणी-संगिणी और अनुस्वार-अनुनासिक भी मुख्य हैं। समसामयिक व्यंग्य और राकेश का व्यक्तित्व इनमें साकार हुआ है। रंगिणी-संगिनी के माध्यम से आज की अध्ययन दृष्टि या शोध वृत्ति पर व्यंग्य कसा है जो केवल बाह्य उपकरण एकत्र करती रह जाती है, आत्मा में प्रवेश नहीं कर पाती लेकिन मिथ्या दंभ से भरी रहती है। अनुस्वार-अनुनासिक भी नाटक के अनिवार्य अंग हैं। नाटक के बोझिल वातावरण को सजीव मनोरंजक बनाने की दृष्टि से उनकी उपस्थिति बड़ी महत्त्वपूर्ण है। उनमें कर्मकुशलता की अपेक्षा तर्क बुद्धि एवं वाक्कौशल अधिक है। राकेश ने पहली बार हिन्दी नाटक में छोटे-छोटे पात्रों को भी उनका संपूर्ण व्यक्तित्व दिया है, उनकी उपस्थिति नाटक में अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण बना दी है।

'लहरों के राजहंस' का श्यामांग नाटक में एक प्रतीक चरित्र के रूप में प्रस्तुत हुआ है। वह एक विक्षिप्त चरित्र है। इस संबंध में डॉ. जगदीश शर्मा लिखते हैं - "...श्यामांग की विक्षिप्तता में दूसरों के जीवन में व्याप्त पीड़ा की गूँज हैं।"[1] वास्तव में में श्यामांग व्यक्ति नहीं एक आभास ही है। वह नन्द के मन की संकुलता को चित्रित करता है। वह नन्द की संशयग्रस्त मनःस्थिति को प्रकट करनेवाला पात्र

---

1. डॉ. जगदीश शर्मा - मोहन राकेश की रंग सृष्टि - पृ. 34-35

है। राकेश के शब्दों में, "श्यामांग एक प्रतीक चरित्र है। एक तरह से वह नन्द के मन की संकुलता को ही रेखांकित करता है। उसका उन्माद बहुत सोचने वाले मन का संभ्रम है। छाया, प्रतीक रूप से उस परोक्ष की छाया है जिसके चेतन रूप से वह बचना चाहता है।"[1] इस कथन से यह सिद्ध होता है कि श्यामांग वह अहसास है, जिसके द्वारा प्रेक्षक नन्द की मानसिक स्थिति को सहज भाव से स्वीकार करता जाता है। श्वेतांग एक राजकर्मचारी है। श्यामांग और श्वेतांग का व्यक्तित्व परस्पर विरोधी है। श्वेतांग का चरित्र बिल्कुल सीधा एवं स्वस्थ है। इनके बारे में डॉ. मदान का मत है - "श्यामांग और श्वेतांग दो अनुचरों की अलग-अलग जीवन दृष्टियाँ हैं, जो उसी तरह सुन्दरी और यशोधरा की है। श्यामांग की दृष्टि में उलझन है, तनाव है और श्वेतांग की दृष्टि सीधी, सपाट और साफ है। इनके नाम भी इनकी दृष्टियों का संकेत दे जाते हैं।"[2] राकेश ने इन दो पात्रों का प्रयोग प्रतीकात्मक ढ़ंग से किया है।

अलका सुन्दरी की दासी है। वह एक दासी, सखी एवं प्रेयसी के रूप में चित्रित की गई है। श्यामांग के साथ अलका रागात्मक भावना से जुड़ी है। वह कर्त्तव्यपरायण नारी है। श्यामांग की देखभाल करते हुए भी वह राज-काज से विमुख नहीं हुई है। वह अहंग्रस्त सुन्दरी के व्यक्तित्व के दूसरे रूप को उजागर करती है। इनके साथ ही बौद्ध भिक्षु आनन्द, मैत्रेय, शशांक, नीहारिका, चन्द्रिका आदि पात्र भी संदर्भोचित ढ़ंग से कथानक को गति देने में सहायक सिद्ध हुए हैं।

---

1. मोहन राकेश - मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक (सं) - पृ. 207
2. डॉ. इन्द्रनाथ मदान - हिन्दी नाटक और रंगमंच : पहचान और परख - पृ. 82

'आधे-अधूरे' की बिन्नी, किन्नी और अशोक आज के युवा पीढ़ी के प्रतिनिधि है। ये तीनों मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रभावित करने वाले हैं। विशेषकर छोटी लड़की किन्नी जिसके व्यवहार, गतियों, मुद्राओं, हावभाव, संवाद आदि सबमें बिगड़ी हुई तेरह वर्ष की लड़की का मनोविज्ञान बड़े ही सशक्त ढ़ंग से अभिव्यक्त किया है। परिवार के बिखराव का प्रभाव तेरह साल की लड़की पर खूब पड़ा है। बचपन से ही वह माँ-बाप के प्यार से वंचित है। घर में कोई भी उस पर ध्यान नहीं करता। माँ की पुरुष संबंध, पिताजी की बेरोज़गारी, बहन का प्रेम, अशोक की वर्णा के प्रति आकर्षण आदि बातें किन्नी के मानसिक पटल पर चोट पहुँचाती हैं। बड़ी बेटी बिन्नी भी घर की घुटन भरी स्थिति से असंतुष्ट है। बिन्नी में उतावलापन, असंतोष और अतृप्ति है। उसका मन बिल्कुल अस्थिर है। अशोक भी नयी पीढ़ी का प्रतिनिधि है। वह आधुनिक युवा वर्ग की सभी संवेदनाओं का प्रतीक है। उसमें कुंठा, निराशा, विद्रोह, असंतुष्टि आदि है। इन तीनों के माध्यम से एक ओर आज की तरुण और किशोर पीढ़ी की स्थिति दिखायी गयी है और साथ ही आज के माता-पिता की स्थिति भी कि वे अपने ही बच्चों के सामने कितने उधड़े हुए हैं और किस तरह बच्चों की प्रतिक्रियाओं का, विरोध का, आक्रोश का बराबर सामना करते हैं और कुछ भी कर पाने या समझ पाने में असमर्थ हैं। विश्रृंखलित परिवार के बच्चों के मानसिक विकारों को, आज की पीढ़ी के बदलते दृष्टिकोण और मानसिकता को भी राकेश प्रस्तुत कर सके हैं। जुनेजा और सिंघानिया भी नाटक में अहम भूमिका निभाते हैं। जुनेजा एक व्यावसायिक दृष्टि वाला, स्वार्थी मनोवृत्ति का कोई दुष्ट व्यक्ति है लेकिन नाटक के अंत में सावित्री और बिन्नी से बातचीत के वक्त वह बड़ा सुसंस्कृत, समझदार, महेन्द्र का सच्चा दोस्त और उसकी भलाई, के

लिए प्रयत्न करता हुआ एक भला आदमी लगता है। सिंघानिया में मध्य वर्गीय मूल्यों की झलक दिखाई देती है। उसमें मध्यवर्ग की बनावट, आदर्श की बड़ी-बड़ी बातें, बड़े इरादे, अज्ञानता को ऊपरी बातों से छिपाने की कोशिश साफ दृष्टव्य है। उसके तौर-तरीकों के द्वारा उसके व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला गया है। प्रारंभ के दो नाटकों की तुलना में इसकी पात्र संरचना में शिथिलता का आभास होता है। आज की मानवीय स्थिति को प्रस्तुत करनेवाले इन पात्रों में चरित्र परिवर्तन नहीं होता। वे आरंभ से अंत तक एक से हैं।

'पैर तल की ज़मीन' नाटक के सभी पात्र आधुनिक काल के यथार्थ के धरातल पर रहने वाले व्यक्ति हैं। मोहन राकेश ने इस नाटक के सभी पात्रों का चरित्र चित्रण बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है। "पैर तले की ज़मीन' नाटक में स्वयं के अस्तित्व को बनाए रखने की ललक बहुत गहरे रूप में उभरकर आयी है।"[1] इस नाटक का प्रत्येक पात्र अस्तित्ववादी दर्शन से प्रेरित है। इनमें से प्रत्येक का चरित्र इसी दर्शन के इर्द-गिर्द घूमता है। इस नाटक में 'बारमैन' अब्दुल्ला को एक सशक्त पात्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वह ज़िन्दगी से जुड़ा हुआ एक साधारण आदमी है। वह पूरे जोश के साथ बाढ़ से बचने के काम में लगा है। अपने बेटे के जन्म की बात सुनकर वह बहुत ही खुश है। वह हमेशा हिसाब लगाता रहता है, हिसाब सही न कर पाने के कारण घाटे की रकम अपनी तनख्वाह में से कटवा लेता है परन्तु जीवन से उसे निराशा नहीं है। उसमें आधुनिक मनुष्य की कोई

---

1. डॉ. श्रीमती सुनिता श्रीमाल - मोहन राकेश का साहित्य : पारिवारिक संबंधों के विघटन की स्थितियाँ - पृ. 95

कपटता या धोखा बंसी नहीं है। एक सच्चे आदमी के रूप में वह इस नाटक के आरंभ से लेकर अंत तक प्रकट है।

पंडित एवं झुनझुनवाला के माध्यम से शोषित एवं शोषक के युगल को प्रस्तुत किया है। पंडित एक खोखले और आडम्बरपूर्ण आदमी है। उन्हें ताश खेलने में अधिक रुचि है। झुनझुनवाला, जुआरी क्लब का एक सदस्य है। वह मजा लेने के लिए क्लब में आता है। बचपन से ही उनको शोषण करने की आदत है। करोड़ों का टैक्स बचाया, स्मगल किया, काला धन जमा किया। उसमें पैसा कमाने की लालसा है। नियामत इस नाटक का गौण पात्र है। वह बार का चपरासी है। वह क्लब में आनेवाले सभी व्यक्तियों से परिचित है। अपने परिवार और अपनी बूढ़ी माँ से अत्यंत ममता रखने वाला यह पात्र उन्हीं लोगों के वास्ते जीता है।

नीरा और रीता इस नाटक के प्रमुख पात्र हैं। दोनों नारी पात्र आधुनिक उच्चवर्गीय लड़कियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। क्लब पानी में डूब रहा है और ये दोनों लड़कियाँ खेल में लगी रहती है। नीरा चौदह साल की एक सुन्दर बेचारी लड़की है और वह रोज़ क्लब में आकर खेलती है। रीता उम्र में नीरा से बड़ी और होनहार लड़की है। अयूब इन लड़कियों के साथ बदमजी से पेशा आता है। अयूब इन बच्चियों के भोलेपन का गलत फायदा उठाता है। इस नाटक के सभी पात्र अपने आप में विभिन्न एवं विविध वर्गों की चेतना के मुखौटे ओढ़े रखा है। सभी का चारित्रिक विकास एक ही जमीन पर समान रूप से होता है।

समय के साथ लेखक का विचार एवं विकास की दृष्टि से देखें तो स्पष्ट है कि बदलते युग के अनुसार नाटकों के चरित्रों में भी परिवर्तन आया है। इस पर

प्रकाश डालते हुए डॉ. सुनीता ने लिखा है कि, "राकेश के साहित्य के पात्र न तो प्रेमचन्द और यशपाल की परम्परा के हैं और न ही जैनेन्द्र और अज्ञेय की परम्परा के, वे एक ओर सामाजिक विवशताओं में जकड़े हुए हैं तो दूसरी ओर अपने परिवेश से असम्पृक्त और छटपटाहट के दौर से गुज़र रहे हैं। वे समाज में रहना चाहते हैं लेकिन वे स्वयं के व्यक्तित्व को बनाए रखने की चाह भी उनमें है।"[1] राकेश के पात्र समाज के बीच में ही रहते हैं और स्वयं समाज से जुड़ा हुआ पात्र है। उनकी यात्रा अपनी इच्छाओं के लिए भागते अपने वरण की शाश्वत पीड़ा के बोध में जूझते और विसंगति बोध से अपने प्रयत्नों के प्रति उदासीन हो चुके निराश मानव की है। इस तरह आधुनिक युग की संवेदनाओं के अनुकूल वैविध्य पूर्ण पात्रों की सृष्टि करने में नाटककार मोहन राकेश को बड़ी सफलता मिली है। वस्तुतः राकेश के नाटकीय पात्रों की सृष्टि उनके रचनाक्रमानुसार पारम्परिक से आधुनिक योजना स्वरूप में आ गई है लेकिन प्रत्येक स्वरूप में उनके पात्र सार्वकालिक हैं।

संवाद योजना

नाट्य साहित्य में संवादों का अपरिहार्य महत्त्व है। वह नाट्य साहित्य का प्राण तत्त्व है। संवाद नाटक को अस्तित्व एवं गति प्रदान करता है। संवाद ही वह सशक्त माध्यम है जिससे कथावस्तु को चरम बिन्दु की ओर बढ़ाया जाता है, पात्रों के व्यक्तित्व का उद्‌घाटन किया जाता है तथा नाटककार का उद्‌घाटन किया जाता है तथा नाटककार स्वयं अपनी मूलदृष्टि को अभिव्यक्त करता है। नाटक में

---

1. डॉ. श्रीमती सुनीता श्रीमाल - मोहन राकेश के साहित्य : पारिवारिक संबंधों के विघटन की स्थितियाँ - पृ. 225

नाटककार की आंतरिक चेतना निवास करती है। मोहन राकेश के नाटकों के संवाद उनकी मूलदृष्टि एवं आंतरिक चेतना को अभिव्यक्त करने में सक्षम सिद्ध हुए हैं।

कथावस्तु नाटक की सम्पूर्ण घटनाओं का संघात होता है। कथावस्तु में नायक के जीवन से जुड़ी घटनाओं के अनेकानेक पक्षों को अंकों में विभाजित करके रखा जाता है। इसका सहज सम्प्रेषण संवाद से ही होता है। नाटककार इसको विकसित करने के लिए नाना प्रकार की घटनाओं, स्थितियों तथा संघर्षों का जीवन्त बिम्ब चित्रित करता है। 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक का प्रारंभ जिस प्राकृतिक छटा के माध्यम से होता है उसका अंत भी उन्हीं के माध्यम से होता है, प्रारंभ में दो हृदयों के सम्मेलन की आकुलता को व्यक्त करनेवाला संवाद अंत में बिछोह की व्याकुलता को प्रकट करता है, जैसे-

"मल्लिका : क्या सोच रहे हो?

कालिदास : सोच रहा हूँ कि वह आषाढ़ का ऐसा ही दिन था। ऐसी ही घाटी में मेघ भरे थे और असमय अंधेरा हो आया था।

x x x x x

मल्लिका : तुम कह रहे थे कि तुम फिर अथ से आरंभ करना चाहते हो।

कालिदास : मैंने कहा था मैं अथ से आरंभ करना चाहता हूँ। यह संभवतः इच्छा का समय के साथ द्वन्द्व था। परन्तु देख रहा हूँ कि समय, अधिक शक्तिशाली है क्योंकि...

मल्लिका : क्योंकि ?

कालिदास : क्योंकि वह प्रतीक्षा नहीं करता।"[1]

नाटक के अंत के इस संवाद में स्पष्टतः बिछुड़ने की व्याकुलता व्यक्त हुई है। मानसिक द्वन्द्व की सफल अभिव्यक्ति इस संवाद में हुई है। तीसरे अंक में मल्लिका का स्वगत कथन अत्यंत मार्मिक और स्वाभाविक है। ये लम्बे स्वगत कथन भावाकुल स्थितियों के होने के कारण स्वाभाविक लगते हैं। अम्बिका और मातुल के संवाद उनके व्यक्तित्व की जीती-जागती तस्वीर हैं। इस नाटक में नाटककार ने अधिकतर भावना एवं विचार से ओतप्रोत संवादों की योजना की है साथ ही हास्य व्यंग्य के छींटे भी यत्र-तत्र उपलब्ध है।

'लहरों के राजहंस' की संवाद योजना अधिक यथार्थ है। संवादों में पात्रों की मनःस्थिति व्यक्त हुई है। इसमें नायक नन्द संशययुक्त है। वह ऐसी मनःस्थिति वाला पात्र है जो किसी एक वस्तु व्यक्ति का वरण करने में विवश है। वह स्वयं कहता है - "...मैं चौराहे पर खड़ा नंगा व्यक्ति हूँ जिसे सभी दिशाएं लीला लेना चाहती है और अपने को ढकने के लिए जिसके पास कोई आवरण नहीं है। जिस किसी दिशा की ओर पैर बढ़ाता हूँ लगता है वह दिशा स्वयं अपने ध्रुव पर डगमगा रही है और मैं पीछे हट जाता हूँ।"[2] इस कथन के माध्यम से नन्द के मन के अन्तःसंघर्ष की झलक मिलती है। वह अपने को टूटे हुए नक्षत्र के साथ तुलना

---

1. मोहन राकेश - मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक (सं) - पृ. 102-103 (आषाढ़ का एक दिन)
2. मोहन राकेश - लहरों के राजहंस - पृ. 129

करता है। वास्तव में वह चुनाव करने में असमर्थ बन जाता है। उसके दुविधाग्रस्त मनःस्थिति का वर्णन नाटक में आद्यंत छाया हुआ है। पूरे नाटक की संवाद-योजना अत्यंत चोटदार है। इसीलिए नाटक अपनी प्रभावान्विति सतत बनाए रखता है। प्रथम अंक में श्यामांग का कथन है - "पत्तियाँ श्यामांग के लिए छोड़ दो। ...श्यामांग से पत्तियाँ न सुलझी, तो क्या आज कामोत्सव नहीं होगा?...."[1] यह स्वगत कथन श्यामांग के द्वन्द्व को व्यक्त करता है। यहीं द्वन्द्व नाटक के प्रारंभ से अन्त तक संवादों में निरन्तर बना हुआ है। इस नाटक के संवाद मन के अंदर के हल-चल के द्योतक है, जो इसे प्रभावपूर्ण बनाता है।

'आधे-अधूरे' राकेश का नाटक मध्यवर्गीय जीवन की विषमताओं और कुण्ठाओं को अनावृत करनेवाला नाटक है। इसकी कथावस्तु को अपने यथार्थ एवं सफल रूप में पहुँचाने का कार्य संवादों ने किया है। इसकी संवाद-योजना अधिक तीखे, मर्मान्तक और स्थिति-सापेक्ष है। संवाद प्रारंभ से अंत तक गत्यात्मक और क्रियात्मक है। प्रत्येक पात्र नपा-तुला बोलता है। संवादों में संक्षिप्तता भरपूर है। उनमें व्यंजना शक्ति भी है। नाटक का प्रारंभ कलह, कुण्ठा, निराशा एवं थकान में होता है; पूरा नाटक इन्हीं विसंगतियों से भरा हुआ है। नाटक के प्रारंभ में :

"स्त्री : यह अच्छा है कि दफ्तर से आओ, तो कोई घर पर दिखे ही नहीं। कहाँ चले गये थे तुम?

पुरुष एक : कहीं नहीं। यहीं बाहर था - मार्केट में।

---

1. मोहन राकेश - लहरों के राजहंस - पृ.129

स्त्री : (उसका पाजाम हाथ में लेकर) पता नहीं यह क्या तरीका है इस घर का? रोज आने पर पचास चीज़ें यहाँ-वहाँ बिखरी मिलती है।"[1]

नाटक के अंत में :

"पुरुष चार : .....यह कौन फिसला है ड्योढ़ी में?

लड़का : (उससे आगे जाता) डैडी ही होंगे। उतर कर चले आये होंगे ऐसे ही। (दरवाजे से निकलता) आराम से डैडी, आराम से।

पुरुष चार : (एक नज़र स्त्री पर डालकर दरवाजे से निकलता) संभलकर, महेन्द्रनाथ संभलकर...!"[2]

ये संवाद छोटे और अधूरे लगते हैं लेकिन इसमें अर्थ की पूर्णता है, जीवन्तता है सर्वोपरि कलह एवं निराशा का बोध झलकता है।

इस नाटक में संवाद के माध्यम से मनःस्थितियों के घुटन, तनाव, ऊब आदि की अभिव्यक्ति स्वाभाविक ढ़ंग से हुई है। संवाद पात्र की मानसिकता को व्यक्त करने वाले हैं जिससे पात्र का व्यक्तित्व स्पष्ट होता है, संवादों में पात्र के हाव-भाव स्थिति को गहराई से व्यक्त करते हैं। महेन्द्रनाथ हर समय दाँत पीसता रहकर अपने प्रभावहीन व्यक्तित्व की ओर संकेत करता है। बिन्नी आत्महीनता और अपराधिनी के भाव से बोलती है। किन्नी दाँत किटकिटाकर बोलती है और उसे घर

---

1. मोहन राकेश - मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक (सं) - पृ. 248 (आधे-अधूरे)
2. वही - पृ. 325

तथा बाहर प्रत्येक प्राणी से शिकायत है और अशोक के संवाद आक्रोश व्यक्त करते हैं। प्रत्येक संवाद पात्र के स्पंदन और मनःस्थिति को लेकर चलता है। संवाद संदर्भों को गति प्रदान करते हैं क्योंकि कथावस्तु का इस नाटक में अभाव है। संक्षेप में कहें तो संवाद संक्षिप्त, गतिशील, चरित्रोद्धारक और नाटकीयतापूर्ण है।

'पैर तले की ज़मीन' नाटक अस्तित्ववादी चिन्तनधारा पर आधारित होने के कारण पात्रों के संवादों में अस्तित्व चिन्ता अधिक व्यक्त होती है। मृत्यु का आसन संकट सभी को एक ही धरातल पर ला देता है जिससे अपनी केंचुली उतारकर फेंक देने के एहसास से भर देता है। इस नाटक के संवाद पात्रों की मानसिकता तथा उनके व्यक्तित्व का उद्‌घाटन करते हैं। झुनझुनवाला का कथन है : "मैं पैदा हुआ तो पहला मंत्र मेरे कान में फूंका गया था कि दुनिया में बड़ी मछली छोटी मछली को खाकर ही जी सकती है और बड़े होने के साथ-साथ मैंने जाल बुनने सीखे। ....धर्म, नैतिकता, विज्ञान, राजनीति - सबको अपने मूल्य दिए.... सबको अपना व्यापार बनाया। ....बड़ी से बड़ी व्हेल मछली के लिए मैंने चारा ईज़ाद किया..... अपने ही जाल में फंसकर तडपती, अपने ही डिब्बे में बन्द।.... मैं तुम्हारी तरह चाहते हुए भी अपने को बिल्कुल नंगा नहीं कर पाऊँगा.... क्योंकि मैं अपने नंगेपन को देखने लायक भी नहीं रह गया हूँ।"[1] यह कथन एक शोषक हृदय की आत्माभिव्यक्ति एवं आत्म स्वीकृति का उत्तम नमूना है।

इस नाटक के संवाद अधिक यथार्थ और क्रियात्मक है। संवादों में संक्षिप्तता, कथन की भंगिमा का सौन्दर्य और अंतर्मन में चलने वाले संघर्ष को व्यक्त करने की

---

1. मोहन राकेश - मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक (सं) - पृ. 432-433

सक्षमता है। कहीं-कहीं पात्रों के लम्बे-लम्बे आत्म-विश्लेषण एकल संवाद भी हैं। मोहम्मद अयूब, पंडित और झुनझुनवाला के संवाद कई जगह लम्बे और आत्मव्यंजक बन गए हैं फिर भी संवादों में सहजता, सजीवता और स्पष्टता हैं। इस नाटक के संवाद बोधम्य, रोचक, स्वाभाविक, स्थिति विन्यास को उभारने वाले प्रभावयुक्त पात्रानुरूप संवाद एवं अभिनेयता की दृष्टि से श्रेष्ठ है।

"सारांशतः कहा जा सकता है कि मोहन राकेश ने अपने संवादों के माध्यम से अपनी मौलिक दृष्टि को ही निरुपित किया है। वह दृष्टि है पुरुष जीवन की विसंगति की मनोदशाओं, गहन पीडाओं और मार्मिक दृष्टियों की। इसको व्यक्त करने में राकेश को पूर्ण सफलता मिली है।"[1] कथानक संवादों से ही अपना रूपाकार प्राप्त करता है। संवाद जितने सशक्त एवं समर्थ तथा प्रभावशाली होगें, कथावस्तु भी उतनी ही गत्वर एवं प्रभावशाली होगी। राकेश के नाटकों में सारा कार्य-व्यापार संवादों के माध्यम से ही होता है। वही कथानक का विकास करता है, मनोवैज्ञानिक द्वन्द्वों को व्यक्त करता है, साथ ही साथ नाटककार के मूल मंतव्य को भी उजागर करता है। जिसके माध्यम से वह अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है। इन समस्त कार्यों की अभिव्यक्ति में राकेश की संवाद-योजना सार्थक सिद्ध हुई है।

देशकाल एवं वातावरण

ऐतिहासिक वस्तु के सफल बनाने के लिए नाटककार देशकाल तथा वातावरण का विशेष ध्यान रखता है। कथानक और पात्र जिस देश और स्थान के

---

1. प्रो. मदन लाल - नाटककार मोहन राकेश : संवाद-शिल्प - पृ. 89

हो उसके अनुकूल वातावरण प्रस्तुत करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। नाटक को स्वाभाविकता प्रदान करने में इन दोनों का अत्यन्त महत्त्व है। 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक में देशकाल की मर्यादा का पूर्ण निर्वाह हुआ है। स्थान और समय के अनुरूप दृश्यों की योजना पात्रों के परिधान, भाषा तथा विचारों का नियोजन हुआ है।

नाटक का घटनास्थल मल्लिका का घर है और उसके घर का चित्र नाटककार ने यू प्रस्तुत किया है - "एक साधारण प्रकोष्ठा। दीवारों लकड़ी की है, लेकिन निचले भाग में गेरु से स्वस्तिक के चिह्न बने हैं। सामने का द्वार अन्धेरी-सी ड्योढ़ी में खुलता है। उसके दोनों ओर छोटे-छोटे ताक है जिनमें मिट्टी के बुझे हुए दीपक रखे हैं।... द्वारों के किवाड़ भी मिट्टी से पोते गए हैं और उनपर गेरु एवं हल्दी से कमल तथा शंख बनाये गये हैं।"[1] इस चित्रण के माध्यम से नाटककार ने ग्रामीण परिवेश में स्थित एक घर का सटीक अंकन किया है। नाटककार ने अति सूक्ष्म बातों का भी ध्यान रखते हुए यह वर्णन प्रस्तुत किया है जिससे इसमें स्वाभाविकता भी नज़र आती है।

इसी तरह पात्रों के परिधान का भी नाटककार ने विशेष ध्यान रखा है। साथ ही उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दों के द्वारा भी तद्युगीन वातावरण की एक सजीव तस्वीर प्रस्तुत की गई है। दूसरे अंक के प्रारंभ में दिया हुआ वर्णन देखिए : "....आसन पर कुछ भोजपत्र बिखरे हैं, कुछ एक रेशमी वस्त्र में बँधे हैं। आसन के निकट एक टूटा मोढ़ा है, जिसपर भोजपत्र सीकर बनाया एक ग्रन्थ रखा है।"[2] यहाँ

---

1. मोहन राकेश - मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक (सं) - पृ. 27 (आषाढ़ का एक दिन)
2. वही - पृ. 58

प्रयुक्त आसन भोजपत्र, रेशमी वस्त्र, मोढ़ा, ग्रन्थ आदि शब्द तत्कालीन वातावरण का स्पष्ट संकेत देती है। इसी तरह इस नाटक में प्रयुक्त सम्बोधन शब्द जैसे 'आर्य विलोम', 'मातुल' आदि भी कालिदास कालीन युग की प्रतीति कराते हैं।

राकेश ने अपने दूसरे नाटक 'लहरों के राजहंस' में एक सामंतीय वातावरण का निर्माण किया है। एक चबूतरा, एक झूला, मत्स्याकार आसन, मदिरा कोष्ठ, श्रृंगार कोष्ठ, दो दीपाधार, एक के शिखर पर पुरुषमूर्ति, एक के शिखर पर नारी मूर्ति, उलझती हुई डोरियाँ एवं पत्तियाँ, अग्निकाष्ठ, चन्दन लेप की कटोरी कमलताल में कूजते राजहंस आदि राहमहल परिवश की समस्त वस्तुओं का प्रयोग करते हुए वातावरण को जीवन्त बनाया है। नन्द, सुन्दरी और मैत्रेय को राजकीय ढ़ंग के परिधान, श्यामांग, श्वेतांग, अलका, नीहारिका आदि को तदनुरूप वेश-भूषा, भिक्षु आनन्द को सन्यासी का परिधान आदि के माध्यम से वातावरण की सार्थक सृष्टि की है।

इन दोनों नाटकों से भिन्न तीसरे और चौथे नाटक की पृष्ठभूमि आधुनिक भारत है। प्रथम दो में भारतीयता की झलक साफ दर्शनीय था। भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि में ही दोनों नाटकों की सर्जना हुई थी। इसके विपरीत अंतिम दो नाटकों में अपनी संस्कृति छोड़ने पर उतारू तथा पाश्चात्य सभ्यता के बाह्य चिह्नों को अपनी दिनचर्या में उतार लेने को व्यग्र समूह की कथा है। इस नई भारतीयता की झलक 'आधे-अधूरे' और 'पैर तले की ज़मीन' में मिलती है।

एक आधुनिक निम्न मध्यवर्गीय भारतीय परिवार के घर ही 'आधे-अधूरे' का घटना स्थल है। नाटक के प्रारंभ में दिये गए संकेतों में ही आधुनिक जीवन का

परिवेश स्पष्ट होने लगता है। जैसे - "सब रूपों में इस्तेमाल होने वाला वह कमरा जिसमें उस घर के व्यतीत स्तर के कई एक टूटते अवशेष, सोफा-सेट, डाइनिंग-टेबल, कबर्ड और ड्रेसिंग टेबल आदि किसी-न-किसी तरह अपने लिये जगह बनाये हैं। ....सामान में कहीं एक तिपाई, कहीं दो-एक मोढ़े, कहीं फटी-पुरानी किताबों का एक शेल्फ और कहीं पढ़ने की एक मेज़-कुरसी भी है। गद्दे, परदे मेज़ोपोश और पलंगपोश....।"[1] इस विवरण में दी गई हर एक बात नाटक की पृष्ठभूमि को अभिव्यक्त करने में सक्षम है। पात्रों की वेशभूषा का चयन भी समान रूप से किया गया है। जैसे काले सूटवाला आदमी, फ्रॉक पहनी हुई छोटी लड़की, साड़ी-ब्लाऊज़, आदि वेश-विधानों का प्रयोग देशकालानुरूप किया गया है। निम्न मध्य वर्गीय परिवार की आर्थिक तंगी से पूरा वातावरण तनावग्रस्त है और इस तनाव को अंत तक बरकरार रखने में नाटककार सफल सिद्ध हुआ है। वास्तव में देशकाल एवं वातावरण की दृष्टि से राकेश का यह नाटक नवीनतम प्रयोग है।

राकेश का अंतिम नाटक भी वातावरण की दृष्टि से एक नवीन प्रयोग है। इसमें आधुनिक काल की कहानी कही गई है। जिसका परिवेश अस्तित्ववादी दर्शन से प्रभावित है। इसमें वातावरण के संबंध में प्रयोगधर्मिता दृष्टव्य है। पात्रों का सृजन समाज के विभिन्न तबके के लोगों से किया गया है, इसलिए उनकी वेश-भूषा, चाल-चलन, भाषा सब परिवेश के अनुकूल है। सारे कथानक का घटनास्थल एक क्लब है जो यह साबित करता है कि वहाँ समाज के भिन्न-भिन्न तबके के लोग मौजूद होते हैं। क्लब में पाई जाने वाली कार्डरूम, बार, ताश, बोतल, गिलास,

---

1. मोहन राकेश - मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक (सं) - पृ. 243 (आधे-अधूरे)

प्लेटें, सिगरेट, दियासलाई आदि। साथ ही पृष्ठभूमि में जाज़ संगीत की ध्वनि सुनाई पड़ना जैसी बातें नाटक में चित्रित आधुनिक वातावरण को स्पष्ट करती है। सर्वोपरि वहाँ मौजूद हर सदस्य के भीतर एक अन्तःसंघर्ष, एक बौखलाहट और उसके प्रतीकात्मक रूप में बाहर बाढ़ के बढ़ने की बात है। नाटक की समग्र पृष्ठभूमि, जीवन की संवेदनाओं एवं विचार धारा पर आधारित होने के कारण आधुनिकता का जीवन्त प्रमाण है।

इस तरह मोहन राकेश के चारों नाटक प्रस्तुतः चार भिन्न देशकाल में घटित तथा चार भिन्न वातावरण की उपज है। उनके नाटककार की प्रयोगधर्मिता की सार्थक सृष्टि है, उनका नाट्य साहित्य। कथानक के अनुकूल वातावरण का निर्माण करते हुए राकेश ने स्वाभाविकता को प्रश्रय दिया है। वेशभूषा, चरित्रों द्वारा प्रयुक्त भाषा, रंग-संकेत आदि बातों का सूक्ष्म ध्यान रखते हुए कथानक की गति निर्धारित करने हेतु इन सबका कालानुसार प्रयोग किया है। संक्षेप में कह सकते हैं कि स्वातंत्र्योत्तर काल में राकेश ने कथानक के अनुकूल वातावरण का सृजन करने में एक नया मानदण्ड कायम किया।

भाषा एवं शैली

भाषा शरीर है तो शैली व्यक्तित्व। नाटककार अपनी कला को औरों से इसलिए अलग और विशिष्ट कर पाता है कि प्रत्येक नाटककार की शैली अपने ढ़ंग की अनूठी होती है। राकेश ने अपने पूर्व प्रचलित नाट्य भाषा के रूप जैसे प्रसाद की तत्सम बहुल रुमानी, काव्यात्मक भाषा अथवा लक्ष्मीनारायण मिश्र के

समस्या नाटकों की पात्रानुकूलता और मनोविज्ञान का भ्रम उत्पन्न करनेवाली सपाट भाषा का अनुसरण न करके इन दोनों अतिवादियों से अलग एक सार्थक नाट्य भाषा की तलाश की है। इसी तलाश की परिणति है - उनके चारों नाटक। इस संबंध में जयदेव तनेजा लिखते हैं - "मोहन राकेश के समस्त नाट्य-लेखन को बदले और निरंतर बदल रहे मानवीय संबंधों के संदर्भ में सही नाट्य-भाषा की तलाश कहा जा सकता है। ....नाटक में नाटकीय शब्द और उसकी उचित एवं सार्थक जगह खोजने की जैसी छटपटाहट, बेचैनी और प्रयोगधर्मिता राकेश में देखने को मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।"[1] इससे स्पष्ट होता है कि कथ्य के समान शिल्प के स्तर पर भी राकेश ने नवीनता के प्रयोग पर ही जोर दिया। उन्होंने महसूस किया कि "...बहुत कोशिश करने पर भी वह एक शब्द नहीं मिलता, जो आदमी की पूरी तलाश और तलाश के हर उत्तर को व्यक्त कर सके।"[2] वे अपने नाटकों के लिए ऐसे शाब्दिक प्रयोगों की तलाश में रहते हैं जो उनके समय के जटिल संलष्ट जीवन के विभिन्न स्तरों की प्रामाणिक अभिव्यक्ति देने में सक्षम हो। वे मानते हैं कि, "कोई भी शब्द-योजना बिना अपनी एक आंतरिक लय के प्राणवान नहीं होती, और यह लय या ध्वनि का ग्राफ ही उसकी वास्तविक अर्थवत्ता है।"[3] इसी मान्यता के आधार पर उन्होंने अपनी भाषा में शब्द के अर्थ और उसकी ध्वनि दोनों पर समान बल दिया तथा कथ्य के यथासंभव संपूर्ण संप्रेषण और नाटकीय-प्रभाव को अधिक महत्त्वपूर्ण माना।

---

1. जयदेव तनेजा - नटरंग - पृ. 39
2. मोहन राकेश - सारिका - पृ. 79
3. मोहन राकेश - नटरंग - पृ. 11

'आषाढ़ का एक दिन' की भाषा सशक्त, स्वाभाविक एवं सर्वत्र कथ्य तथा चरित्र के अनुकूल है। कालिदास की काव्यमय भाषा है। मल्लिका की भाषा और प्रियंगुमंजरी की भाषा की तुलना करते समय यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है कि एक की भाषा आडम्बरहीन और दूसरे पात्र की भाषा आडम्बरपूर्ण है। शब्द की अर्थवत्ता का ऐसा प्रभाव शाली रूप मोहन राकेश के पहले हिन्दी नाटक में बहुत कम दिखाई देता है। एक शब्द को पकड़कर, दोहराकर राकेश ने अर्थ-संसर्ग का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है, जैसे :

"अम्बिका : कैसी विचक्षणता है?

निक्षेप : विचक्षणता?

अम्बिका : विचक्षणता तो है।

निक्षेप : इसमें विचक्षणता क्या है, अम्बिका?

अम्बिका : राज्य कवि का सम्मान करना चाहता है। कवि सम्मान के प्रति उदासीन जगदम्बा के मंदिर में साधनानिरत है। राज्य के प्रतिनिधि मंदिर में आकर कवि की अभ्यर्थना करते हैं। कवि धीरे-धीरे आँखें खोलता है। ....इतना बड़ा नाटक करना विचक्षणता नहीं है?"[1]

यहाँ 'विचक्षणता' शब्द का ध्वन्यात्मक प्रयोग हुआ है। अम्बिका की सारी घृणा, आक्रोश, कालिदास के प्रति पूरा मनोभाव, अपनी संपूर्ण भाव-भंगिमा के

---

1. मोहन राकेश - मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक (सं) - पृ. 45 (आषाढ़ का एक दिन)

साथ इस शब्द में मूर्त्त हो उठता है। लेकिन निक्षेप जब उसी शब्द को दोहराता है तो उसका कौतूहल ही प्रकट होता है मगर अम्बिका के दोहराने में उसका सारा मानसिक तनाव प्रत्यक्ष होता चलता है। इस नाटक की भाषा मनःस्थितियों के वाहक, सरस, सजीव और प्रेषणीय है। नाटक की भाषा में पर्याप्त व्यंग्यात्मकता भी है। अम्बिका अपनी पुत्री पर व्यंग्य प्रकट करती हुई कहती है -

"अम्बिका : मैं जानती हूँ तुम पर आज अपना अधिकार भी नहीं है।...."[1]

यहाँ व्यंग्य कसने के साथ ही मातृहृदय की पीड़ा को भी शब्दबद्ध किया गया है।

इस नाटक में तिल-तिलकर गलना, तीसरा नेत्र खुलना, आँखें गीली होना, शरीर निचुड़ने लगना, स्वयं पर अधिकार न रहना आदि मुहावरों के प्रयोग से भाषा यथार्थ अनुभूतियों के बिम्ब प्रस्तुत करने में सार्थक सिद्ध हुई हैं। भाषा की विविध भंगिमाएँ अर्थ-शक्ति, व्यंग्यात्मकता और नाटकीयता की दृष्टि से इस नाटक की भाषा में अपूर्व सौन्दर्य है।

'लहरों के राजहंस' की मूल संवेदना के अनुसार भावों और विचारों का वहन भाषा कर रही हैं। नाटक की शब्दावली अर्थ व्यंजक है। नाटक के अंतर्गत शब्दों और ध्वनियों का सफल आयोजन किया गया है। समग्र नाटक की भाषा मन के अन्तर्द्वन्द्व को ध्वनित करती है, इसीलिए भाषा में आत्मीयता लगती है। जैसे-

---

1. मोहन राकेश - मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक - पृ. 32

"नन्द : बाण से क्षत-विक्षत मृग को देखकर मन में कभी कोई अनुभूति नहीं होती। होती भी है तो केवल प्राप्ति की हल्की सी अनुभूति। परन्तु बिना घाव अपनी ही क्लान्ति से मरे मृग को देखकर जाने कैसा लगा?"[1]

नन्द के मन के अन्तर्द्वन्द्व की सजीव अभिव्यक्ति प्रतीकात्मक ढ़ंग से की गई है। इस नाटक की भाषा अभिजात्य गौरव युक्त है परन्तु आधुनिक जीवन की जटिलता तो कहीं-कहीं व्यक्त करती है - "मैं चौराहे पर खड़ा नंगा व्यक्ति हूँ जिसे सभी दिशाएँ लील लेना चाहती है।"[2] इस प्रकार की भाषा जहाँ नन्द के जीवन की विडम्बना को व्यक्त करती है वहाँ आज के मनुष्य की नियति को भी। इस प्रकार भाषा की दृष्टि से यह एक जीवन्त नाटक है।

'आधे-अधूरे' नाटक में जीवन्त भाषा का प्रयोग किया गया है। इस नाटक की भाषा में कथ्य को ध्यान में रखकर जीवन व्यवहार की भाषा को व्यवहृत किया गया है। नाटककार ने समकालीन मुहावरों के द्वारा व्यक्ति के तनावों की सार्थक अभिव्यक्ति दी है। "....सिर्फ एक रबड़ का टुकड़ा हूँ - बार-बार घिसा जानेवाला रबड़ का टुकड़ा।"[3] आज का इन्सान भीड़ और अकेलेपन में पिस रहा है। इन्सान अब मिटकर वस्तु बनता जा रहा है। इसलिए 'रबड़ का टुकड़ा' प्रयोग सार्थक है। पात्र के आक्रोश, घबराहट, तनाव, संघर्ष, द्वन्द्व, असंतुष्टि, खुटन आदि भावों को व्यक्त करने के लिए भाषा को नया मोड़ दिया है।

---

1. मोहन राकेश - मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक - पृ. 142
2. वही - पृ. 192
3. वही - पृ. 271

'आधे-अधूरे' की मिश्रित भाषा आज के शहरी मध्यवर्ग की प्रामाणिक भाषा है। इस भाषा पर उर्दू-फारसी, और अंग्रेज़ी का व्यापक प्रभाव विद्यमान है। इसके अतिरिक्त नाटककार और पात्रों की अपनी लोक भाषा के कुछेक शब्द और कुछेक विशिष्ट स्थानीय अभिव्यक्तियाँ भी इस भाषा का अभिन्न अंग बन गई हैं। संस्कृत के अधिकांश शब्द सिंघानिया द्वारा हास्य-व्यंग्य उत्पन्न करने के लिए बुलवाये गए हैं। अंग्रेजी शब्दों में से ज़्यादातर ममी, डैडी, अंकल, आंटी जैसे संबोधन सूचक शब्द है या फिर यार्क, सेंडिविच, चीजड, टोस्ट जैसे खाने-पीने की चीज़ों के नाम। नाटक के सभी पात्र अच्छे पढ़े-लिखे हैं और परिवार के बच्चे कान्वेंट-शिक्षित, इसीलिए अंग्रेज़ी शब्दों का आ जाना अस्वाभाविक नहीं लगता। इनके अतिरिक्त प्रतिध्वनि शब्दों का जैसे - हड़ताल-अड़ताल, गाल-बाल, बच्चा-अच्चा, छोटी-मोटी, झूठ-मूठ, इत्यादि का तथा ध्वन्यात्मक शब्दों का जैसे किटपिट-किटपिट, हुँ-हुँ-हुँ-हुँ, थू-थू-थू, चख-चख इत्यादि का सार्थक नाटकीय उपयोग, किया गया है। जीवन-व्यवहार भाषा के साथ ही पात्रों की मनःस्थितियों और घटनाओं को सही विद्रोह, एवं अभाव को उभारने में भाषा सक्षम साबित हुई है।

"पैर तले की ज़मीन' नाटक अधिक यथार्थ धरातल पर खड़ा होने के कारण व्यावहारिक जीवन की जीवन्त भाषा को लेकर आगे बढ़ता है। जैसे पात्र हैं उन्हीं के अनुरूप स्वाभाविक भाषा दृष्टिगत होती है।

जैसे-

"अब्दुल्ला : ऐ, ऐ, ऐ.... अब चल कहाँ दिया तू?

x x x x x x

नियामत : और तू अन्दर बन्द होकर शराब की बोतलें, सूंघता रह जाए-च् च् च् च्।"[1]

इस तरह की शब्द योजना जीवन के नित्य व्यवहार का परिचायक है।

स्थिति के अनुसार कहीं पर अंग्रेज़ी शब्दों की बातचीत एवं टेलीफोन पर बातचीत अधिक किया गया है। इसी प्रकार वार्तालाप में उर्दू शब्द कब्रिस्तान, दोजख, ताल्लुक, खुदकशी, खामखां, दहशत, ज़लील आदि अब्दुल्ला और अयूब के मुँह से उनके निजी परिचय के परिचायक लगते हैं।

कहावत और मुहावरों का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है, जैसे : अन्दर से पस्त होना, पैर पटकना, ज़लील करना, दफन न होना, आदि अस्तित्ववादी विचारधारा के कारण अस्तित्व चिन्तन शैली का भी अधिक प्रयोग हुआ है, जैसे :

झुनझुनवाला : .....मौत भी अपना पूरा खेल दिखाकर अपने वक्त से आना चाहती है?"

रीता : .....एक नाटक पूरा होते-होते रह गया। एक इतिहास घटित होते-होते रुक गया।"[2]

जैसे ही बाढ़ का पानी उतरता है अस्तित्व की चिन्ता कम होती है। भाषा का रूप बदल जाता है -

---

1. मोहन राकेश - मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक - पृ. 360
2. वही - पृ. 435-436

"झुनझुनवाला : तम्मीज़ से बात करो... झुनझुन नहीं। अपनी औकात का कुछ ख्याल है, तुम्हें?"[1]

इस प्रकार स्थिति परिवर्तन से मनःस्थिति में परिवर्तन आया और तद्नुरूप भाषा ने तेवर बदले।

उद्देश्य

'आषाढ़ का एक दिन' एक सोद्देश्यपूर्ण रचना है। इस नाटक में पुरुष की अहम वृत्ति का शिकार बनी मल्लिका की विवश स्थितियों का सही निरूपण किया गया है। साथ ही कालिदास के अन्तर्द्वन्द्व के द्वारा इस तथ्य को स्फुट किया है कि राज्याश्रय साहित्यकार की सृजनशील प्रतिभा के लिए घातक सिद्ध होता है। कालिदास यहाँ एक सर्जक कलाकार और कवि के अन्तःसंघर्ष का प्रतीक है। नाटककार के ही शब्दों में, "....कालिदास मेरे लिए एक व्यक्ति नहीं, हमारी सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक है, नाटक में वह प्रतीक उस अन्तर्द्वन्द्व को संकेतित करने के लिए है जो किसी भी काल में सृजनशील प्रतिभा को आन्दोलित करता है। व्यक्ति कालिदास को उस अन्तर्द्वन्द्व में से गुज़रना पड़ा था या नहीं, यह बात गौण है।"[2] अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि इस नाटक में प्रयुक्त कालिदास चरित्र प्रतीक है। एक ऐसा सार्थक प्रतीक जिसके माध्यम से वर्तमान युग की विडम्बनाओं के बीच खड़े आधुनिक मानव की नियति को प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ ही

---

1. मोहन राकेश - मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक - पृ. 436
2. वही - पृ. 197

सर्जन और राज्याश्रय का द्वन्द्व भी अधिक मुखरित हुआ है। मल्लिका चिर आस्था का प्रतीक है। वह बाहर से टूटकर भी अंदर से कालिदास से जुड़ी रहती है। वस्तुतः मल्लिका की घुटन में आधुनिक नारी की घुटन प्रतिबिंबित हुई है। इस प्रकार इस कलात्मक कृति के माध्यम से राकेश ने विविध उद्देश्यों की पूर्ति की है।

'लहरों के राजहंस' में भी नाटककार ऐतिहासिक परिवेश में आज के दुविधाग्रस्त मानव को व्यक्त करना चाहता है। आधुनिक जीवनमूल्यों का उद्‌घाटन करने की नाटककार ने सफल चेष्टा की है। नन्द और सुन्दरी के माध्यम से चेतन मन के अन्तर्द्वन्द्व को और श्यामांग के माध्यम से अचेतन मन के उन्माद को व्यक्त किया गया है। प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच संशयग्रस्त मानव कोई दिशा निश्चित नहीं कर पाता। भोग और योग की दिशा में झूलता रहता है। साथ ही परिवेश व्यक्ति के जीवन में एक महत्त्वपूर्ण अंग है, इसे भी नाटककार ने व्यक्त किया है। नाटक का मूल द्वन्द्व पार्थिव - अपार्थिव मूल्यों का द्वन्द्व है।

आज के जीवन के संबंधों में एक तिक्त भयावहता आ गई है। व्यक्ति आत्मकेन्द्रित हो गया है। ममता की जगह निर्ममता व्याप्त होने लगी है। जीवन का यथार्थ धरातल पर यथार्थ चित्र प्रस्तुत करना नाटककार का उद्देश्य रहा है और उसमें वह सफल रहा है। 'आधे-अधूरे' एक अर्थवान रचना है। आज के जीवन का अधूरापन और उस अधूरेपन में छटपटाता एक परिवार जो मनोवैज्ञानिक धरातल पर घर के अपनत्व को खोता जा रहा है। एक दूसरे के प्रति संवेदना के अभाव में इतने अधिक आत्म केन्द्रित हो गए है कि उनका दृष्टिकोण नकारात्मक होता जा रहा है। परिवार जैसी सुदृढ़ संस्था वासना, भूख का शिकार बनकर तथा युगगत

परिस्थितियों के कारण व्यक्ति का व्यक्तित्व बोध खोखला होता जा रहा है। इस नाटक में आज के जीवन की विषम परिस्थिति का चित्र विविध बिन्दुओं से संश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत किया गया है।

रस-निष्पत्ति की दृष्टि से परखने पर मोहन राकेश के प्रथम दोनों नाट्य कृतियाँ सफल सिद्ध होती हैं। तीसरा अंशतः सही साबित होता है तथा अंतिम नाटक उतना सफल सिद्ध नहीं होता। 'आषाढ़ का एक दिन' में श्रृंगार और करुणा रस की निष्प्ति होती है। विवाह से पूर्व कालिदास और मल्लिका का प्रेम तत्कालीन सामाजिक मर्यादा के प्रतिकूल होते हुए भी बदलते सामाजिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में प्रेम की अवधारणा में जो अंतर आता है, उस दृष्टि से इनमें उत्पन्न प्रेम से श्रृंगार रस की निष्पत्ति होती है। कालिदास और मल्लिका का स्नेह संबंध मानसिक धरातल पर संयोग श्रृंगार और शारीरिक स्तर पर वियोग श्रृंगार के अन्तर्गत आएगा। नाटक के प्रारंभ में कालिदास और मल्लिका का आषाढ़ की प्रथम वर्षा में भीगना एवं प्रणय व्यापार, श्रृंगार रस की सृष्टि करता है। द्वितीय अंक में मल्लिका मूक होकर कालिदास के वियोग की वेदना सहन करती है, वहाँ वियोग श्रृंगार है।

अनुस्वार - अनुनासिक एवं रांगिणी-संगिणी के प्रसंग के माध्यम से नाटककार ने हास्य-रस की सृष्टि की है। अम्बिका के कथनों से करुण रस का आभास मिलता है। नाटककार ने पाश्चात्य पद्धति के अनुसार नाटक के अंत में दुःखद घटनाओं की सृष्टि की है जिससे वियोग श्रृंगार वियोग ही रह जाता है। और अंत करुण रस में होता है। वस्तुतः इस नाटक को पढ़ने से भावोद्रेक अवश्य होता है।

'लहरों के राजहंस' में नन्द और सुन्दरी का प्रणय प्रसंग रसपान कराने में महत्त्वपूर्ण योग देता है। इस प्रसंग के माध्यम से मानव-मन की स्निग्ध, मधुर एवं कोमल भावनाओं का चित्रण हुआ है। जिससे श्रृंगार रस का संयोग पक्ष प्रस्फुटित होता है। नाटक के प्रारंभ में कामोत्सव का आयोजन यौवन सुख का आनन्द लेने के उद्देश्य से किया गया है। साथ ही उसके पीछे उसकी स्पष्ट योजन है कि नन्द सुन्दरी के रूप जाल में उलझा रहे। रूपगर्विता सुन्दरी और विलासप्रिय नन्द की उद्दाम प्रेम वासना का परिचय नाटक के प्रारंभ में ही हो जाता है। श्रृंगार रस का पूर्ण परिपाक तब अधिक होता है जब नन्द सुन्दरी के भाल पर विशेषक बनाता है, उसे आईना दिखाता है और उसकी हाँ - में हाँ कहता है, लेकिन नाटक के अंत में विप्रलंभ श्रृंगार का रूप उभरता है। सुन्दरी के द्वारा कामोत्सव का आयोजन, नन्द का गौतम बुद्ध के पास जाना और केश काटकर दीक्षित लौटना, सुन्दरी की आकुल प्रतीक्षा और नन्द के लौटने पर उसे न पहचानना, नन्द का अनजानी दिशा की ओर लौटना आदि घटनाएँ नाटक के अंत की विप्रलंभ श्रृंगार एवं करुणा रस की स्थिति ही है।

'आधे-अधूरे' नाटक के आदि से अंत तक घुटन, ऊब, टूटन आदि व्याप्त है। ऐसी स्थिति में रस का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। सावित्री का अन्य पुरुषों के साथ संबंध मात्र रोमांस उत्पन्न करता है। श्रृंगार रस की भावना का आभास मात्र बड़ी लड़की के प्रसंग में है। इसीलिए यह अन्य दो नाटकों की तुलना में रस दृष्टि से शिथिल नाटक है।

'पैर तले की ज़मीन' नाटक में मनोवैज्ञानिक धरातल पर व्यक्ति को रखकर, उसके ओढ़े हुए विविध रूपों के खोलों को खोलकर वास्तविक रूप में रख दिया है। प्रत्येक व्यक्ति की एक सीमा है, जहाँ उसे अपनी सीमा को स्वीकार करना ही पड़ता है। यह नाटक का मूल उद्देश्य है। आर्थिक विवशताओं के कारण एक व्यक्ति दूसरे का गुलाम किस हद तक होकर अपने आपको खण्डित कर देता है और गुलाम बन जाता है। उसकी बुद्धि और साथ ही पत्नी भी दूसरे के अधीन होना - पण्डित के प्रसंग के माध्यम से जीवन की इसी विडम्बना पर नज़र डाला गया है। अब्दुल्ला, नियामत, सलमा एवं अयूब के माध्यम से बतलाया है कि किसी से बँधे बिना जीवन से प्यार नहीं किया जा सकता। इसीलिए सलमा के लिए जिन्दगी और मौत समान है परन्तु अब्दुल्ला बेटे का मुँह देखने के लिए और नियामत माँ से मिलने के लिए जीवित रहना चाहता है। प्रेमपूर्ण संबंध निर्वाह के अभाव में नारी कब्रिस्तान और पुरुष पागलपन की तरफ जाता है। अयूब की बलात्कार करने की मनोवृत्ति इसी का परिणाम है। संकट की स्थिति का सामना करते वक्त मानव की असली शख्सियत जिसपर वह ऊपर से मुलम्मा चढ़ाये रहता है, उजागर होने लगती है। इसी बात पर राकेश ने अपने अंतिम नाटक में ज़ोर दिया है।

निष्कर्ष

नाटककार राकेश ने स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाट्य जगत में एक बदलाव की नींव स्थापित की। प्रयोगधर्मिता का कलेवर अपनाते हुए नाटक के कथ्य एवं शिल्प पक्ष के क्षेत्र में क्रान्ति मचा दी। राकेश द्वारा रचित चारों नाटक इसी क्रान्ति की उपज है। नाटक में अभिव्यक्ति की अहमियत को पहचानते हुए उन्होंने उसे मौलिकता

के साथ जोड़ने का नूतन प्रयास किया। हिन्दी नाटक को आधुनिकता से जोड़कर पढ़ने की शुरुआत 'आषाढ़ का एक दिन' से होती है। राकेश ने अपने नाटकों में स्त्री पुरुष संबंधों को केन्द्र में रखकर आधुनिक मानव के जीवन के विभिन्न पहलुओं, उसके अन्तर्द्वन्द्व, पीड़ा, अस्तित्व जैसे अहम बातों को कटघरे में खड़ा करके प्रश्न किया। ऐसा करने के लिए उन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य शास्त्र का दामन पकड़ा। वस्तु और भाषा को अपने मनोनुकूल रूप में प्रकट करके उसके नये मानदंड स्थापित करने में वे सफल सिद्ध हुए। हिन्दी नाटकों को रंगमंचीयता से जोड़कर प्रस्तुत करने वाले नाटककारों में भी राकेश का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मोहन राकेश ऐसे प्रतिभा के धनी सर्जक साहित्यकार हैं जिन्होंने युगबोध को अपनी रचनाओं में सफलतापूर्वक संजोया है। इसी सफलता की कसौटी पर उनकी सभी नाट्य कृतियाँ युग-युगों तक नाटक जगत को ही नहीं संपूर्ण मानव जाति को प्रभावित करती ही रहेंगी।

मोहन राकेश सजग नाट्य शिल्पी रहे। उनकी सृजन प्रक्रिया में युगबोध एक प्रमुख प्रेरणा है। उनके सभी नाटक समकालीन संवेदनाओं से अनुप्राणित हैं। उन्होंने अपने नाटकों में आधुनिकता को अपनाने का प्रयास किया है। समकालीन राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक झाँकियाँ उनकी नाट्य रचनाओं में अंकित हैं। समकालीन संदर्भ में पारिवारिक परिस्थितियों के विघटन के चित्र उनके नाटकों में मिलते हैं। उनके नाटकों में कथावस्तु, पात्र और चरित्र चित्रण, शिल्प-विधान, संवाद-योजना, स्त्री-पुरुष संबंधों का चित्रण, नामकरण आदि विविध पहलुओं में नाटककार का आधुनिकताबोध झलक उठता है। समग्रतः राकेश स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-नाट्य साहित्य के सशक्त हस्ताक्षर है।

चौथा अध्याय

रंगमंच की दृष्टि से प्रसाद और राकेश के नाटकों का विश्लेषण

चौथा अध्याय

रंगमंच की दृष्टि से प्रसाद और राकेश के नाटकों का विश्लेषण

सारांश : इसमें प्रसाद और राकेश के नाटकों के रंगमंचीय आयाम का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। मंचन एवं अभिनेयता की कसौटी पर दोनों की नाट्य कृतियों को कसने का प्रयास इसमें किया गया है। भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य पद्धतियों के सम्मिश्रण के कारण प्रारंभ में प्रसाद के नाटकों को अनभिनेय घोषित किया गया था। कालांतर में तकनीकी विकास के चलते इस घोषणा को गलत ठहराते हुए प्रसाद के नाटकों का सफल मंचन प्रस्तुत किया गया। वास्तव में प्रसाद के नाटकों में जीवन का वैविध्य, अनेक धरातलीय कथा योजनाएँ, और समकालीन अर्थवत्ता उन्हें बहुत महत्वपूर्ण नाटक बनाते हैं। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी रंगमंच की भाषा गढ़ने में नाटककार राकेश का प्रयास स्तुत्य है। उनके नाटकों में रंग-संकेत की दृष्टि से कई नूतन प्रयोग किये गए हैं। उनके सभी नाटक एक ही दृश्यबंध पर खेले जाने के लिए निर्मित हैं। उसमें रंगनिर्देश, दृश्य-सज्जीकरण, पात्रों की वेशभूषा, अभिनेय के संकेत आदि विशद रूप से दिये गए हैं। राकेश ने नाटक को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने के लिए ध्वनि और प्रकाश का खूब प्रयोग किया है। पात्रों की मानसिक स्थिति व्यक्त करने के लिए और विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति के लिए ध्वनि एवं प्रकाश का कलात्मक प्रयोग किया गया है। वस्तुतः मंचन की दृष्टि से दोनों नाटककारों ने प्रयोगात्मकता का पथ अपनाया है।

चौथा अध्याय
रंगमंच की दृष्टि से प्रसाद और राकेश के नाटकों का विश्लेषण

प्रस्तावना

जिन इन्द्रियों के द्वारा काव्य का आस्वाद किया जाता है तथा जिससे सहृदयों को आनन्दोपलब्धि होती है, उनके आधार पर आचार्यों ने काव्य के दो भेद किये हैं - श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य। श्रवणेन्द्रियों के माध्यम से जिस काव्य का आनन्द ग्रहण किया जाता है उसे श्रव्य काव्य कहते हैं। इससे भिन्न जो काव्य दृश्य और श्रव्य है, जो देखा और सुना जाता है, जिसकी विशेषता और सार्थकता दृश्य होने में है सर्वोपरि जो रंगमंच पर अभिनेताओं द्वारा प्रस्तुत होता है उसे दृश्य काव्य कहते हैं। दृश्य काव्य में ही नाटक और रंगमंच का संबंध छिपा हुआ है। इस शब्द से ही यह ध्यातव्य हो जाता है कि इसकी विशिष्टता मूलतः इसके दृश्यत्व में है। इससे तात्पर्य उस रचना विशेष से है जिसका अभिनय रंगमंच पर किया जा सके।

रंगमंच एक अर्वाचीन शब्द है जिसका प्रयोग सीमित अर्थ में नाट्यशास्त्र में वर्णित रंगशीर्ष एवं रंगपीठ दोनों के संयुक्त पर्याय के रूप में स्वीकृत किया जाता है। इसमें भावाभिव्यक्ति के साधन अभिनेता, उनके शब्द, उनकी रूप-सज्जा, उनके कार्य-व्यापार तथा उनकी भाव-भंगिमाएँ होती हैं। इस दृष्टि से दृश्य काव्य केवल शब्दों का काव्य नहीं है, वह रंग साधनों का काव्य है, रंगमंच का काव्य है, दृश्यत्व

का काव्य है। यह रंगमंच के सभी श्रव्य एवं दृश्य साधनों के समन्वित रूप से उद्‌भूत होता है। इस तरह उद्‌भूत काव्य को संस्कृत के आचार्यों ने रूपक की संज्ञा दी, 'नाटक' इसी अर्थ संदर्भ को व्यंजित करने वाला शब्द है जिसका प्रचलन हिन्दी साहित्य में चल पड़ा। "नाटक साहित्यिक अभिव्यक्ति की ऐसी विधा है जो केवल साहित्य नहीं, उससे अधिक कुछ और भी है क्योंकि रचना की प्रक्रिया लेखक द्वारा लिखे जाने पर ही समाप्त नहीं होती, उसका पूर्ण प्रस्फुटन और सम्प्रेषण रंगमंच पर जाकर ही होता है। रंगमंच पर अभिनेताओं द्वारा प्राण-प्रतिष्ठा के बिना नाटक को सम्पूर्णता प्राप्त नहीं होती और इसलिए रंगमंच से अलग करके नाटक का मूल्यांकन या उसके विविध अंगों और पक्षों पर विचार अपूर्ण ही नहीं, भ्रामक हो जाता है।"[1] नेमिचन्द्र जैन ने रंगमंच के साथ जोड़कर नाटक की परिभाषा दी है। उनके अनुसार नाटक की सार्थकता और पूर्णता तभी सिद्ध होती है जब वह रंगमंच की कसौटी पर खरा उतरती है। इसलिए वे आगे लिखते हैं, "....नाटक वह संवादमूलक कथा है जिसे अभिनेता रंगमंच पर नाट्य व्यापार के रूप में दर्शक वर्ग के सामने प्रस्तुत करते हैं। ....इस परिभाषा के अनुसार केवल संवाद के रूप में लिखे जाने पर ही कोई रचना नाटक नहीं हो जाती। यह अत्यन्त ही आवश्यक है कि उसकी अन्तर्निहित कथा का भावन दृश्य वस्तु के रूप में किया गया हो। केवल चमत्कारपूर्ण वाग्वैदग्धयुक्त संवाद लिख सकना पर्याप्त नहीं है, आवश्यकता इस बात की है कि संवादों के माध्यम से एक महत्त्वपूर्ण भावानुभूति दृश्य और अनुकरणीय रूप में प्रकट की गई हो।"[2] इस परिभाषा से यह व्यक्त होता

---

1. नेमिचन्द्र जैन - रंगदर्शन - पृ. 21
2. वही - पृ. 22

है कि नाटक एक दृश्य काव्य है और इसका दृश्य काव्यत्व तभी सार्थक हो सकता है जबकि वह रंगमंच पर अभिनीत हो। इस तरह नाटक और रंगमंच अन्योन्याश्रित संबंध रखता है। रंगमंच की परिकल्पना पर ही नाटक की सार्थकता और प्राणवत्ता निर्भर रहती है। "नाट्यकृति और रंगमंच एक दूसरे के कार्य और कारण है। दूसरे स्तर पर एक दूसरे के पूरक। यहाँ तक कि एक दूसरे के पर्याय भी।"[1] विकल गौतम ने सरल शब्दों में यहाँ नाटक और रंगमंच के अन्तर्संबंध को अभिव्यक्त किया है। उन्होंने भी रंगमंच से जोड़कर ही नाटक के अस्तित्व को स्वीकार किया है। "संसार के नाटक साहित्य के इतिहास में कहीं भी नाटक को रंगमंच से अलग करके केवल साहित्य रचना के रूप में नहीं देखा जाता और रंगमंच तथा उसकी आवश्यकताओं के पारखी ही नाटक के असली समालोचक होते हैं और माने जाते हैं।"[2] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रंगमंच पर नाटक पुनर्सृजन और पुनर्निर्मिति पाता है जिससे उसकी अर्थवत्ता और संप्रेषणीयता पूर्णता प्राप्त करती है।

आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच

नाटक की जीवन्तता का आधार नाटककार के सृजनात्मक व्यक्तित्व का नाट्यानुभूति तथा उसके रंगमंचीय आयाम से साक्षात्कार माना गया है क्योंकि इसके अभाव में नाट्यलेखन संवाद युक्त कथा लेखन मात्र रह जायेगा। जब कभी नाटककार का जीवन्त रंगमंच से संपर्क कट जाता है तो संपूर्ण लेखन रंगमंच की

---

1. विकल गौतम - हिन्दी नाटक : रंग, शिल्प और दर्शन - पृ. 10
2. नेमिचन्द्र जैन - रंगदर्शन - पृ. 21

व्यावहारिकता से दूर जा पड़ता है। यहीं स्थिति हिन्दी नाटक का रहा। संस्कृत रंग परम्परा के समाप्त होने के पश्चात शताब्दियों तक हिन्दी का अपना कोई रंगमंच नहीं रहा। इस सुप्त रंगमंच को जगाकर उसे सजीव करने का स्तुत्य प्रयास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया। आधुनिक काल में नवजागरण की स्थिति में उनका ध्यान अपनी प्राचीन नाट्य परम्परा की ओर आकृष्ट हुआ और हिन्दी में नाट्य लेखन तथा मंचन आरंभ हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने पारसी रंगमंच की व्यावसायिक छिछले भावुकतापूर्ण एवं सस्ते वातावरण के विरुद्ध काशी और प्रयाग में अव्यावसायिक रंगमंच की सर्वप्रथम स्थापना की। यह पूर्णतः साहित्यिक रुचि का रंगमंच था।

भारतेन्दु की प्रेरणा से अनेक नाट्य संस्थाएँ बनी तथा नाटक खेले गये। वस्तुतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नेतृत्व में हिन्दी रंगमंच विकास की दिशा में अग्रसर हो रहा था।

भारतेन्दु ने हिन्दी नाटक की रचना और अभिनय दोनों स्तरों पर भावी पीढ़ी के नाटककारों के लिए पथ-निर्देशक का कार्य किया। उन्होंने "समसामयिक स्थिति के अनुसार प्राचीन भारतीय नाट्य पद्धति में से आवश्यक तत्त्व ग्रहण कर हिन्दी के नवीन नाट्य विधान की स्थापना की।"[1] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक हिन्दी नाटक एवं रंगमंच की स्थापना हेतु आधार निर्मित करने का स्तुत्य प्रयास भारतेन्दु ने ही किया। उनकी यह स्थापना नवागत नाटककारों के लिए दिशा निर्देश था। उन्होंने सांस्कृतिक साहित्यिक एवं उद्देश्यपूर्ण नाटकों को महत्त्व दिया।

---

1. वीरेन्द्र कुमार शुक्ल - भारतेन्दु का नाट्य साहित्य - पृ. 48

जिसका मूल उद्देश्य मनोरंजन के साथ ही जनमानस को जाग्रत करना और उसमें आत्मविश्वास उत्पन्न करना था। वस्तुतः भारतेन्दु ने सुरुचिपूर्ण साहित्यिक नाटकों को लोकप्रिय बनाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया।

भारतेन्दु काल में हिन्दी रंगमंच की अभिनयात्मक परम्परा के विशद रूप के दर्शन होते हैं। भारतेन्दुयुगीन रंगमंच के दो स्वरूप सामने आता है - व्यावसायिक हिन्दी रंगमंच (पारसी रंगमंच) और अव्यावसायिक साहित्यिक रंगमंच। भारतेन्दु कालीन हिन्दी रंगमंच पर अभिनय को पर्याप्त महत्त्व दिया जाता था। उच्च स्वर, संगीत पूर्णवाणी, और सुन्दर आकार-प्रकार को अधिक प्रश्रय दिया जाता रहा। इस युग में 'आर्य नाट्य सभा', 'रेलवे थियटर', 'श्री रामलीला नाटक मण्डली 'नेशनल थियेटर', 'बालिया नाट्य समाज', 'भारतेन्दु मण्डल', 'श्री भारत मनोरंजनी सभा' आदि नाट्य संस्थाएँ कार्यरत थीं। भारतेन्दु कालीन मंच व्यवस्था और नाट्य प्रस्तुतीकरण के कुछ उल्लेखनीय प्रयोग हैं - जैसे : नाटकों की मौन झाँकी, चौखटों से परिपूर्ण मंच, व्यक्तिगत घंटों पर नाट्य प्रदर्शन, सार्वजनिक स्थानों में चल मंच का आरंभ आदि। इन मंचों पर परदों का प्रयोग और दृश्यांकन भी होता था। इसकी अर्थव्यवस्था का स्रोत प्रायः नाट्य प्रेमी व्यक्तियों द्वारा व्यक्तिगत एवं सामूहिक आधार पर किया जाता था। वस्तुतः हिन्दी रंगमंच के इतिहास में भारतेन्दु का अभूतपूर्व योगदान रहा है।

जयशंकर प्रसाद का नाटककार व्यक्तित्व

भारतेन्दु ने स्वयं नाटक लिखने और अपने साहित्यिक सहयोगियों को इस ओर प्रवृत्त करने के साथ ही अव्यावसायिक रंगमंच की नींव डाली। उनके द्वारा

स्थापित की गई नाटक और रंगमंच की इस परम्परा को ही जयशंकर प्रसाद ने नया जीवन और नयी दिशा प्रदान की। प्रसाद को अपने पूर्व युग की नाट्य चेतना विरासत में प्राप्त तो हुई लेकिन उनके अपने समय में नाट्य चेतना का नक्शा ही बिल्कुल बदल गया था। इस युग में नाटककार से ज़्यादा अहमियत पारसी कम्पनियों के मालिकों का था क्योंकि उस समय का रंगमंच पारसी कम्पनियों के मालिकों का रंगमंच था। उनके इच्छानुसार ही नाटककार कहानियाँ गढ़ते थे और दर्शकों को आकर्षित करने के लिए गीत-नृत्य और आश्चर्यजनक करतब दिखलाने वाले दृश्यों की भरमार करते थे। एक तरह से कहा जा सकता है कि इस युग के नाटककार और उनकी रचनाएँ पारसी कंपनियों के मालिकों की दया पर ही जीवित थीं और प्रसाद ऐसे जीवन को बिल्कुल निरर्थक समझनेवाले नाटककार थे। ऐसे माहौल में नाट्य सृजन करना कोई आम बात नहीं थी। वस्तुतः प्रसाद को नाटक लेखन के स्तर पर कई तरह की समस्याओं और उलझनों का सामना करना पड़ा।

एक सजग नाटककार की भांति उन्होंने अपने समय के राजनीतिक - सामाजिक अंतर्विरोधों और विडम्बनाओं को व्यापक संदर्भ में सम्प्रेषित करने के एक माध्यम के रूप में नाटक को अपनाया। उन्होंने पहली बार हिन्दी नाटक को साहित्यिक गौरव तथा गहन जीवनानुभूति से जोड़कर दिशा निर्देश दिया। प्रसाद अपने नाटक लेखन के माध्यम से हिन्दी रंगमंच को रचनात्मक शक्ति से संपन्न बनाने के पक्ष में थे। वे अपने समय के रंग रूढ़ियों से संघर्ष करते हुए उससे आगे जाने की कोशिश करते रहे। यह कोशिश उन्हें अपने ज़माने के अन्य नाटककारों से पृथक करते हैं। "प्रसाद का महान् योगदान इसमें हैं कि अपने नाटकों में उन्होंने

एक भिन्न प्रकार की सामाजिक सांस्कृतिक चेतना का अन्वेषण किया नाटक और रंगमंच दोनों को सर्जनात्मक स्तर प्रदान किया और सार्थक बनाया।"[1] इस कथन से यह सिद्ध होता है कि प्रसाद संवेदनशील सर्जक थे जिन्होंने युगीन जीवन को भली भांति परखा और फिर अपनी मौलिक कल्पना के संस्पर्श से उसका नवीन प्रस्तुतीकरण नाटक रूप में किया।

बदलाव की यह भूमिका अदा करते हुए प्रसाद के नाटक एक सीमा तक अपने समकालीन पारसी रंगमंच को नकारते हैं और दूसरी तरफ इस रंगमंच की रुढ़ियों को स्वीकारते भी हैं। पारसी रंगमंच की सीमाओं को ध्यान में रखकर ही उन्होंने कहा है ; "रंगमंच के संबंध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जाए। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हो जो व्यावहारिक है। हाँ, रंगमंच पर सुशिक्षित और कुशल अभिनेता तथा मर्मज्ञ सूत्रधार के सहयोग की आवश्यकता है।"[2] इन शब्दों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद नाटक के साहित्यिक और रंगमंचीय तत्वों को समान आदर देते थे। उनके अनुसार दोनों एक दूसरे के उपकारक तत्त्व हैं। जयदेव तनेजा के शब्दों में "नाट्यालेख ही रंगमंच का मूलाधार प्रस्तुत करता है और प्रत्येक रंगमंच का स्वरूप एवं स्थापत्य सूक्ष्मतः नाट्यालेख में ही विद्यमान होता है। निर्देशक का काम उसे तलाशना और अभिनेता के द्वारा मूर्त्तरूप में प्रस्तुत करके प्रेषकों तक सम्प्रेषित करना है।"[3] यहाँ तनेजा ने

---

1. डॉ. मिथिलेश गुप्त - समकालीन हिन्दी नाटक रंगमंच के परिप्रेक्ष्य में - पृ. 99
2. जयशंकर प्रसाद - काव्य, और कला तथा अन्य निबंध - पृ. 69
3. डॉ. जयदेव तनेजा - मोहन राकेश : रंग-शिल्प और प्रदर्शन - पृ. 27

भी नाटक के लिखित रूप, निर्देशक एवं अभिनेता के महत्त्व को स्वीकार करते हुए नाटक और रंगमंच को एक दूसरे का पूरक बताया है।

प्रसाद का सबसे बड़ा दुःख यह था कि उन्हें अपने अवधारणा का रंगमंच प्राप्त नहीं हुआ। गोविन्द चातक इस बात की ओर इशारे करते हुए कहते हैं - "नाटककार यदि अपने अनुकूल रंगमंच की माँग करता है तो उसपर यह फतवा देना ठीक नहीं कि उसे रंगमंच का ज्ञान ही नहीं है। सच्चाई यह है कि नाटककार और रंगमंच के बीच दूरस्थता भी अच्छे नाटककार के निर्माण में सहायक होती है। ...वस्तुतः स्थूल रंगमंच का ज्ञान ही काफी नहीं है। नाटककार का उससे भी सूक्ष्म रंगमंच होता है। वही रंगमंच का आदि कर्त्ता होता है। उसका मानस-पटल ही स्वयं सृजन के क्षणों में आरंभिक रंगमंच का कार्य करता है। बाद में मंच पर जिस रूप में भी नाटक का पुनःसृजन होता है उसका आधार वह स्वयं ही प्रस्तुत करता है इसीलिए नाटक के कथ्य में जितनी अधिक नाटकीयता, अनुभूति की तीव्रता और अनुभव की प्रामाणिकता होगी, उसमें उतनी ही अधिक रंगमंचीय क्षमता भी होगी। ऐसी भावमयी नाट्यकृति में रंगमंच का विधान स्वतः निहित रहता है। यदि नाटक लिखते हुए नाटककार अपनी कल्पना की आँखों के सामने रंगमंच का एक ढाँचा खड़ा कर सकता है तो क्या कारण है कि कोई निर्देशक उसकी कल्पना को वास्तविक रंगमंच पर रूपाकार न प्रदान कर सकें।"[1] गोविन्द चातक द्वारा कही गई बात पूर्णतः सार्थक है क्योंकि प्रसाद रंगमंच के सही स्वरूप को पहचानने और उसे

---

1. गोविन्द चातक - प्रसाद के नाटक : स्वरूप और संरचना - पृ. 292

सृजनात्मक बनाने के पक्षधर थे। रंगमंच से उनकी अपेक्षा यही थी कि रंगमंच नाटककार के साथ हो, उसके बराबर हो न कि उससे पीछे। सक्रिय रंगकर्मी न होने के कारण प्रसाद अपने प्रयासों को व्यावहारिक धरातल पर परखने में असमर्थ थे और पारसी रंगमंच की रूढिबद्ध प्रस्तुति शैली से अलग हटकर उनके नाटकों को प्रस्तुत करने का साहस किसी निर्देशक ने नहीं उठाया। उन्होने अपने नाटक के लिए कल्पनाशील सार्थक रंगमंच की मांग की थी लेकिन दुर्भाग्य की बात है अपने युग में उन्हें मनचाहा रंगमंच प्रदान करने में हिन्दी नाट्य जगत असमर्थ था।

संस्कृत रंगमंच का प्रभाव - प्रसाद के नाटकों में

हिन्दी नाट्य जगत में जयशंकर प्रसाद ने जब पदार्पण किया था तब उनके सामने तीन रंगमंच थे - संस्कृत रंगमंच, पारसी रंगमंच, और हिन्दी का असंगठित रंगमंच। उन्होंने संस्कृत नाटकों के रस सिद्धान्त, पाश्चात्य नाटकों के अन्तः बाह्य संघर्ष तथा शील वैचित्र्य की परम्परा को अपनाते हुए उसका परीक्षण किया और हिन्दी नाटकों में उन दोनों के सुन्दर समन्वित स्वरूप की स्थापना की। उनके नाटकों की वस्तु, नेता और रस योजना संस्कृत नाटकों के अनुरूप है तथा दृश्य-विधान संस्कृत रंगमंच के जैसा ही है। प्रसाद ने रंग संकेतों का प्रयोग नहीं किया है और दृश्य-सज्जा, वेशभूषा, गति तथा संकेतों का परिचय न देकर संस्कृत रंगमंच का ही अनुसरण किया है जिसमें इन सबका काम संवादों से लिया जाता है। संवादों के माध्यम से क्रिया व्यापार और दृश्य विधान को रूपायित करने की परम्परा भी संस्कृत में विशेष रूप से पाई जाती है। संस्कृत मंच पर अश्राव्य, नियताश्राव्य, स्वगत आदि के रूप में संवादों में जो कुछ सुनाई देता है, वह रंगमंच

के मुख्य क्रिया-व्यापार से अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रसाद ने उसी पद्धति का आश्रय लिया है। उन्होंने कई संवादों की योजना दृश्य विधान और क्रिया-व्यापार के निरूपण के लिए की है जैसे :

"दासी : ....महाराज, भागिये! महादेवी हटिये वह देखिये आग की लपट इधर ही चली आ रही है।"[1]

'अजातशत्रु' के इस संवाद में भी क्रिया व्यापार का संकेत मिलता है। 'आग की लपट' की आना का संकेत ध्वनि के माध्यम से न होकर संवाद के माध्यम से की गई है।

इस तरह प्रसाद के नाटकों में मुख्य घटनाएँ नेपथ्य में घटती है जैसे : "नेपथ्य में रणवाद्य, विरुद्धक और अजात की युद्ध यात्रा"[2], "नेपथ्य से गान"[3], "कोलाहल भीषण उल्कापात"[4] आदि। करका - वृष्टि, बिजली-गर्जन आदि नेपथ्य स्वरों का प्रयोग, भी प्रसाद, नाटक की वस्तु और नेता के मनोजगत के प्रति जागरूकता पैदा करने के लिए करते हैं। मूर्च्छा संबंधी दृश्य योजना भी संस्कृत नाटक के प्रदर्शन तत्वों में मुख्य माना जाता है। प्रसाद ने अपने नाटकों में इसका भी प्रयोग किया है। 'अजात-शत्रु' में 'बिम्बिसार' की मूर्च्छा का दृश्य, मृत्यु का परिचायक होते हुए भी नाटकीय उपलब्धि की दृष्टि से वह सबसे अधिक प्रभावशाली

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी - पृ. 233
2. वही - पृ. 263
3. वही - पृ. 283
4. वही - पृ. 476

और कलात्मक दृश्य माना जाता है। संस्कृत रंगमंच की एक भारी विशेषता संतुलन की उपलब्धि को स्वीकार किया जाता है। उनमें विरोधी तत्त्वों के बीच समन्वय की प्रवृत्ति मिलती हैं। भारतीय रंगमंच न पूर्णतः त्रासद तत्त्वों को स्वीकार कर चलता है और न कॉमदी के शुद्ध आह्लाद तत्त्व को ही। संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त संतुलन की यह प्रवृत्ति प्रसाद के नाटकों में विशेष रूप से दिखाई देती है। "उनके नाटकों में पात्र अध्यात्म, आनन्द और मंगल की ओर अभिमुख होते हैं। उनमें विषम परिस्थितियों, विरोधी शक्तियों और विकृतियों के बीच संघर्ष करता हुआ अन्त में जीवन का वह संगीत प्रस्फुटित होता है जिसकी गूँज नाटक में भरतवाक्य में पूरी होती है।"[1] यह कथन प्रसाद के लगभग सभी नाटकों पर सही साबित है। उन्होंने तत्कालीन सामाजिक वातावरण के दृश्यांकन के लिए इतिहास-पुराण से ऐसे आदर्शात्मक चरित्रों का चयन किया है जो संघर्ष के लिए प्रेरित करते हैं, एक नवीन स्वच्छ समाज के लिए संघर्ष करनेवाले चरित्रों और उनके मार्गदर्शक, गुरु के रूप में ही प्रसाद ने इनका चरित्रांकन किया है।

प्रसाद के प्रारंभिक नाटकों में प्रस्तावना, नांदी और भरत वाक्य का प्रयोग किया गया है। 'राज्यश्री' के प्रथम संस्करण में नान्दी पाठ और भरतवाक्य है, किन्तु दूसरे संस्करण में इसे हटाकर परिवर्तित रूप में पेश किया गया है। उनके नाटकों में संस्कृत नाटकों की भांति नाटक का अन्त आत्मिक उपलब्धि का क्षण होता है जो संपूर्ण नाटक को एक आध्यात्मिक स्तर पर पहुँचा देता है और मंच के अभिनेता और दर्शक सभी जैसे अन्त में सबके सुख और कल्याण के लिए एक

---

1. गोविन्द चातक - प्रसाद के नाटक : स्वरूप और संरचना - पृ. 299

स्वर हो उठते हैं। 'कामना' में इसी भाव को जागृत करनेवाले गीत का प्रयोग नाटक के अंत में किया है-

"....खेल लो नाथ विश्व का खेल।

xx xx xx xx xx

कहां रही प्यारी मानवता, बढ़ी फूट की बेल।।

रुदन, दुःख तमनिशा निराशा,

इन द्वन्द्वों का मिटे तमाशा।

स्मित, आनन्द उषा और आशा एक रहे कर मेल।"[1]

इन पंक्तियों के द्वारा प्रसाद ने मनुष्य से रुदन, अंधकार, और निराशा से जनित द्वन्द्वों को मिटाने और मानवता और समता की स्थापना हेतु प्रकृति और पुरुष से मिलकर खेल खेलने की प्रार्थना की है। 'राज्यश्री' में यह समवेत गान 'करुण कादम्बनी की वर्षा' के लिए याचना करता है तो 'विशाख' में 'हृदय के कोने-कोने से मन के रोने में वे कोमल, मध्यम और तीव्र स्वर हो उठते हैं जो व्यक्ति के कलुषावृत्त जीवन के पश्चाताप को प्रकट करते हैं। 'जनमेजय का नागयज्ञ' में भी अंत की पूर्णाहुति नेपथ्य गान से होती है जिसमें ईश्वर की जय जयकार की गई है। बाद के नाटकों में प्रसाद प्रत्यक्ष रूप से भरतवाक्य की इस पद्धति से मुक्त हो गए किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से अंत की दृष्टि से वे उसी का समर्थन करते दिखाई देते हैं। जैसे 'अजातशत्रु' के अंत में गौतम का प्रवेश, उनका अभय

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी - पृ. 431

में उठता हाथ और आलोक के साथ यवनिका पतन भरतवाक्य का क्रियात्मक रूप ही प्रकट करता है। 'स्कन्दगुप्त' का अंत आत्मिक उपलब्धि और वैराग्यमयी करुणा से होता है। 'चन्द्रगुप्त' में अंतिम नाटकीय संवाद - 'चलो, अब हम लोग चले।' प्रभाव की दृष्टि से भरतवाक्य की कल्याण-कामना को ही सार्थक करता है। 'ध्रुवस्वामिनी' में लक्ष्यसद्धि ही कल्याण रूप है। इन नाटकों में प्रसाद ने संस्कृति की भरत वाक्य वाली पद्धति को तो स्वीकार नहीं किया, पर कल्याण और मंगल का भाव फिर भी बनाये रखा।

संस्कृत रंगमंच की दूसरी रुढ़ि थी संगीत और नृत्य की अनिवार्यता। संस्कृत रंगमंच पर जहाँ कार्य काव्य के साथ संबद्ध हुआ दिखाई देता है वहाँ वह गीत और नृत्य के साथ भी संबंध स्थापित कर लेता है। इसीलिए संस्कृत रंगमंच पर क्रिया व्यापार, नृत्य गीत, गाति और काव्य जैसे सब मिलकर एक हो जाते हैं और नाटकीय अभिव्यक्ति के आवश्यक अंग बन जाते हैं। प्रसाद ने अपने नाटकों में गीतों, कविताओं, नृत्यों आदि का पर्याप्त मात्रा में समावेश किया है। उनके नाटकों के अधिकांश गीत पात्रों के अंतर्मन को व्यंजित करते हैं, संवादों का रूप धारण करते हैं, स्थितियों पर व्यंग्य करते हैं तथा अगामी दृश्यों के लिए भूमिका का काम करते हैं। इन गीतों में प्रसाद केवि, नाटककार और संगीत प्रेमी रूप ने नाटकीय सौन्दर्य भरते हुए उन्हें सार्थक रूप दिया है। विशेषकर उन स्थलों पर जहाँ पात्रों की अनुभूतियों या स्थितियों को उभारने में गद्यात्मकता असमर्थ हो जाती है। ऐसे स्थलों पर कई गीत, स्वगत या संवाद के रूप में अथवा सीधे दर्शकों से संबोधित होते हुए, पात्रों की मानसिकता के सूक्ष्म स्तरों का परिचय कराते हैं।

उदाहरण के लिए 'स्कन्दगुप्त' के देवसेना के सभी गीत उसके जीवन का अंतरंग हिस्सा बन गए हैं।

पारसी रंगमंच का प्रभाव

संस्कृत रंगमंच और उसके विधान को स्वीकार करने के साथ ही प्रसाद ने नवीन रंगमंचीय प्रभाव को भी ग्राह किया। इसी का दृष्टान्त है 'राज्यश्री', 'अजातशत्रु' आदि नाटकों के लिए परवर्ती संस्करणों में पाश्चात्य पद्धति के अनुकूल किया गया परिवर्तन। इन नाटकों की वस्तु योजना में पूर्व और पाश्चात्य की नाट्य परम्पराओं का समन्वय है। कथानक को प्रथम बार अंकों में और अंकों को दृश्यों में व्यवस्थित ढ़ंग से विभाजित किया गया है।

पारसी रंगमंच की कुछ विशेष प्रवृत्तियाँ हैं जैसे - दृश्यांतरों, दृश्यों की भरमार, पश्चिमी और भारतीय संगीत-ध्वनियों का मिश्रण, शिथिल वस्तु-विन्यास, चमत्कारपूर्ण पदोंम तथा दृश्यों और परिस्थितियों की असंख्य भीड। प्रसाद ने अपने नाटकों में इन प्रवृत्तियों को साहित्यिक स्तर तक ऊपर उठाकर संस्कारित करके, प्रयोग किया। "वस्तु-संघटना के स्तर पर पारसी प्रभाव के परिणामस्वरूप प्रसाद ने भी अपने नाटकों में घटनाओं का जमघट बना दिया है। ...प्रसाद ने भी अजातशत्रु में एक साथ कई राज्यों की कथा कहनी चाही है। चन्द्रगुप्त में भी मगध, मालव और तक्षशिला में घटनाओं के अलग-अलग सूत्र विकसित होते, रहते हैं, ...कथात्मक स्तर पर चमत्कार योजना भी प्रसाद ने पारसी प्रभाववश की है। बार-बार आकस्मिक या सहसा प्रवेश पारसी रंगमंच पर नाटकीय प्रभाव पैदा करने के लिए कराये जाते

थे। चन्द्रगुप्त में तो ऐसे कितने ही उदाहरण मिलेंगे। प्रथम अंग के प्रथम दृश्य में ही आंभीक और सिंहरण के झगडे में चन्द्रगुप्त सहसा प्रवेश करके सिंहरण के अंतिम वाक्य का जवाब देने लगता है। इस प्रकार प्रसाद में अनेक स्थलों पर पारसी रूढ़ियों, व्यवहारों या चमत्कारपूर्ण दृश्य का प्रयोग दिखता है।"[1] प्रसाद के नाटकों में तत्कालीन रंगमंच का प्रभाव भी इस तरह स्पष्ट झलकता है। पारसी रंगमंच से विरोध रखने पर भी उसके उपरोक्त प्रयोगों से प्रसाद भी अछूते न रह सके।

पारसी रंगमंच का रंगमंचीय विधान पर्दों पर आधारित है। इसी भाँति प्रसाद ने भी मोहक, आकर्षक और रोमांचक दृश्यों की योजना की है। 'स्कन्दगुप्त' के प्रायः संपूर्ण प्रथम अंक में और 'चन्द्रगुप्त' के प्रथम अंक में दो-दो, एक-एक दृश्यों के अंतर में आकर्षक दृश्यों का निरन्तर योग मिलता चलता है। उन्होंने भव्य व्यापारों के साथ मनोहर पूर्व पीठिका का योग करने का सफल प्रयास किया है जिससे दृश्यों में चमत्कार भी उत्पन्न हुआ और आकर्षण भी नहीं उखड़ा। इस आकर्षण को ही दृष्टि में रखकर प्रसाद ने अपने नाटकीय दृश्यों की योजना प्रायः वन, उपवन, नदी तट, कुंज, राज सभा, मंदिर, दुर्ग, राज-प्रसाद, पर्णकुटीर, रण-क्षेत्र, श्मशान आदि में कराई हैं। निस्संदेह ऐसी दृश्य योजना के पीछे नाटककार का एकमात्र उद्देश्य आकर्षण पैदा करना था। जैसे चन्द्रगुप्त में ऐसे ही कई दृश्यों का सृजन किया गया है - "मंदिर के उपवन में चीते द्वारा कल्याणी पर आक्रमण और चन्द्रगुप्त द्वारा कल्याणी की रक्षा जहाँ प्रेमियों के आकस्मिक मिलान कराने की युक्ति रूप में उपयुक्त है वहाँ सिल्यूकस, द्वारा मूर्धित चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करने

---

1. डॉ. सुषमा देवी - हिन्दी नाट्य : प्रयोग के संदर्भ में - पृ. 75

वाले चीते का वध और चन्द्रगुप्त के हाथों फिलिप्स नामक ग्रीक योद्धा द्वारा कार्नेलिया पर बलात्कार करने की कोशिश को विफल करके कार्नेलिया की रक्षा भी सोद्देश्य कल्पना दृष्टि है,...."[1] इस पूरे विवरण से प्रसाद पर पारसी रंगमंच के प्रभाव को समझा जा सकता है। काल्पनिकता के सहारे आकर्षणीयता का सृजन करने में प्रसाद सफल हुए है।

प्रसाद के नाटक रोमांचक दृश्यों से परिपूर्ण हैं। उनमें भयानक रात्रि के गहन अंधकार में अभिसार, षड्यंत्र, हत्या, अपहरण आदि के दृश्य मुख्य है जो नाटककार की कल्पना मात्र है। उनके नाटकों में निहित असाधारण चौंकाने वाली प्रवृत्ति और परिस्थिति पारसी रंगमंच की ही देन है। इसी प्रभाव के परिणामस्वरूप प्रसाद के नाटकों में चरित्रों के असाधारण परिवर्तन, जिसमें वे डाकू, वेश्या, देशद्रोही षड्यंत्रकारी, हत्यारे, विरागी बन जाते हैं, देखने को मिलते हैं। इसी के फलस्वरूप वे शान्तिभिक्षु को दस्यु विघटघोष; राजकुमार विरुद्धक को दस्यु शैलेन्द्र, राजामहिषी मागंधी को वारविलासिनी श्यामा और अंततः भिक्षुणी आम्रपाली बना डालते हैं। 'अजातशत्रु' में प्रसाद ने मागंधी का चरित्र विकास विचित्र रूप में किया है। इस विचित्रता के पीछे का मुख्य उद्देश्य कौतुक बढ़ाना है।

कौतुक बढ़ाने की पारसी रंगमंचीय प्रवृत्ति के कारण ही प्रसाद ने अपने नाटकों में कई अद्भुत और चमत्कार पूर्ण दृश्यों की योजना की है। डाकुओं के साहसिक कार्य और वेश्याओं की बेवफाई और उनकी प्रेमनिष्ठा की उपेक्षा करने

---

1. गिरिश रस्तोगी - हिन्दी नाटक का आत्मसंघर्ष - पृ. 35

वाले पुरुष की कुटिलता साधारणतः ऐसे विषय हैं जो जन-साधारण की रुचि के अनुकूल पड़ते हैं और वे उन्हें रोमांचित ही नहीं करते वरन् उनमें कौतूहल का भाव भी भरते हैं। ऐसे दृश्यों में रंगमंच पर युद्ध, नदी, समुद्र, आँधी, आग, मेघ, मल्लयुद्ध, उल्कापात आदि का समावेश हुआ है। युद्ध तथा युद्ध प्रयाण के दृश्य प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, अजातशत्रु जैसे नाटकों में दृष्टव्य है। 'राज्यश्री' में आँधी का प्रयोग और 'चन्द्रगुप्त' में मेघों का गर्जन होता है।

रंगमंच पर नदी, नाव और सुंदर समुद्र की प्रस्तुति पारसी रंगमंच के लिए महत्त्वपूर्ण थी, प्रसाद ने इसी पद्धति को अपनाया। 'विशाख' में रंगमंच पर नरदेव की रानी का प्रवेश एक सुन्दर नाव पर होता है जिसमें डाँडे चलाने वाली सखियाँ गा रही है, और अपने कुपथगामी पति से निराश होकर उसे हम अंत में 'अब मैं रहकर क्या करूँगी' कहते हुए नदी में कूदते देखते हैं। 'राज्यश्री' में कई दृश्य नदी तट पर संयोजित हैं। 'कामना' में विलास और लालसा नौका पर बैठकर ही समुद्र पार जाते हैं।

नदी, समुद्र और नौका-विहार के दृश्यों की भांति प्रसाद ने पारसी रंगमंच की चमत्कारपूर्ण प्रवृत्ति का अनुसरण करते हुए आग के दृश्य भी प्रस्तुत किए हैं। 'अजातशत्रु' की मागंधी महल में आग लगाकर लुप्त हो जाती है और जब पर्दा हटता है तो उसके 'महल में आग लगी हुई है।' 'राज्यश्री' में रंगमंच पर अकस्मात् आँधी ही नहीं आती वरन् राज्यश्री को 'चिता भी प्रज्वलित होती' दिखाई देती है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' में आर्य 'सैनिक नागों को एक ओर ढकेलकर फूस के ढेर

पर आग लगा देते हैं। वस्तुतः पारसी रंगमंच पर लोकप्रिय नदी, पानी और आग के दृश्य को प्रसाद ने पूर्णतः स्वीकार कर लिया था।

दर्शक को चौंकाने के विचार रखते हुए प्रसाद ने अपने नाटकों में पात्रों के अचानक प्रकट होने, प्रवेश और प्रस्थान, दीवार के टूटने, आकाश से फूल भरसाने, स्वगत और यक्षों की आकाशवाणी को चित्रित किया है। प्रसाद के प्रारंभिक नाटकों में चमत्कार उत्पन्न करने की भावना से ही यक्ष की रोमांचक छद्म वाणी का उपयोग किया गया है। 'राज्यश्री' में मालव नरेश देवगुप्त और मालिन सुरमा जब पारस्परिक प्रेम में अपने को विस्मृत किए हुए थे तभी यक्ष की छद्म वाणी में शान्तिभिक्षु नेपथ्य से कह उठता है : "मैं हूँ! सुरमा के उपवन का यक्ष। सावधान! इस अपनी विपत्ति और अलक्ष्मी से अलग हो जाओ, नहीं तो युद्ध में तुम्हारा निधन होगा।"[1] और अन्ततः वह अपने बनावटी बाल अलग करके जैसे ही सुरमा के सामने उपस्थित होता है, वह स्तब्ध रह जाती है। 'विशाख' में भी एक भिक्षु चैत्य की आड में चन्द्रलेखा को नरदेव की रानी बनने का छद्म आदेश देता है।

पारसी रंगमंच के दर्शकों की रुचि को ध्यान में रखते हुए प्रसाद साँप, शेर, भेड़िया आदि को भी रंगमंच पर ले आते हैं। पहले अंक के दसवें दृश्य में थका-हारा चन्द्रगुप्त और चाणक्य प्रवेश करते हैं तो चाणक्य असमर्थ चन्द्रगुप्त को वहीं छोड़कर स्वयं उसके लिए जल लेने चले जाते हैं। चन्द्रगुप्त पसीने से तर लेट जाता है। एक व्याघ्र समीप आता दिखाई देता है। सिल्यूकस प्रवेश करके धनुष संभालकर

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी - पृ. 130

तीर चलाता है। इसी प्रकार स्कन्दगुप्त और ध्रुवस्वामिनी में उल्कापात के द्वारा अतिप्राकृत तत्त्व की योजना की गई है। 'स्कन्दगुप्त' में द्वार का टूटना और माता की हत्या के षड्यंत्र के समय स्कंदगुप्त का द्वार तोड़कर सहसा भीतर घुसना आदि दृश्यों की योजना के पीछे प्रसाद का मुख्य भाव दर्शक को चौंकाना ही था। इसी तरह पारसी नाट्य पद्धति के अनुसार प्रसाद ने 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' में टेब्लॉ दृश्यों की योजना भी की।

प्रसाद के प्रारंभिक नाटकों के कई गीत विषयवस्तु, भाव और शब्दावली की दृष्टि से पारसी रंगमंच से प्रभावित हैं। प्रार्थनाओं, उपदेशात्मक और निबंधात्मक गीतों के साथ-साथ प्रसाद ने हर्ष-विषाद के अवसरों पर गाने की प्रवृत्ति का समर्थन किया है। दुःख के दिनों पर गीतों में रोना-धोना पारसी रंगमंच की प्रवृत्ति से प्रेरित है। उन्होंने पारसी रंगमंचीय नाटकों की भांति गद्यात्मक संवादों के साथ पद्य का भी प्रयोग किया है। पारसी रंगमंच को पद्य की आवश्यकता चुटीली और आवेशपूर्ण उक्ति के लिए थी। इसी आवश्यकता से प्रसाद भी प्रेरित थे। प्रसाद के चमत्कारपूर्ण और कृत्रिम संवादों के पीछे पारसी रंगमंच के नाटकों का वाग्वैदग्ध्य ही प्रेरणास्रोत है। यहाँ तक उनके गद्यात्मक संवादों के बीच दो-दो पंक्तियों के पद्य का समावेश पारसी रंगमंच की शेरो-शायरी की याद दिलाता है। वस्तुतः प्रसाद के नाटक पारसी रंग परिकल्पनाओं से अछूते नहीं है इसके पर्याप्त प्रमाण हमें उपलब्ध हुए फिर भी जैसा कि महेश आनन्द लिखते हैं - "....पारसी रंग-शैली की संभावनाओं की तलाश करें तो स्पष्ट हो जाएगा कि प्रसाद ने इस शैली के तत्त्वों को अपनाते हुए भी नाटक को तमाशे या निरे मनोरंजन से अलग रखा है। तभी तो ये तत्त्व उनके

किसी भी नाटक की केन्द्रीय वस्तु नहीं बनते। आकस्मिक प्रवेश-प्रस्थान, संयोग, साहसिक कार्य अथवा रोमांचक दृश्यों से बना दृश्यात्मक आकर्षण एक सीमा तक ज़रूरी लगता है, परन्तु इसके बाद प्रसाद सार्थक प्रश्नों की सूक्ष्म अभिव्यक्ति के लिए जूझते नज़र आते हैं। इसी विशिष्टता के कारण मानवीय कोमलता के नष्ट होने और अंधकारमयी शक्तियों की विजय के स्पष्ट होकर उभरते हैं अथवा यों कहे कि इनसे प्रगतिशील शक्तियों की प्रतिक्रिया या विरोध व्यंजित होता है। इसीलिए उनके नाटकों के पात्र, कुछ स्थानों पर अतिरिक्त होने के बावजूद पारसी नाटकों की तरह बनावटी शौर्य अथवा छिछली भावुकता को प्रतिबिम्बित नहीं करते।"[1] इससे एक बात सिद्ध होती है कि प्रसाद के नाटकों पर शिल्प स्तर पर अथवा बाहरी बनावट तक ही पारसी रंग शैली का प्रभाव पड़ा है। इसे स्वीकारते हुए भी प्रसाद अपने नाटक के माध्यम से गंभीर विषय ही प्रस्तुत करते थे जिसकी स्वीकार्यता अथवा भावात्मकता शिल्प या शैली की तुलना में अधिक सार्थक साबित होती है।

प्रसाद की रंग सृष्टि का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है - प्रेक्षक की कल्पना-शक्ति का उपयोग। उनके युग में दृश्यबंध, शिल्प, सज्जा, प्रकाश-योजना तथा तकनीक की प्रयोगवादी दृष्टि का अभाव था। ऐसे वातावरण में प्रेक्षक की ज़रूरत एक ऐसे मंच का निर्माण था जिस पर वह नाटक को अभिनीत होते देखे। प्रसाद के नाटक प्रेक्षक की इसी मंचीय ज़रूरत को जाग्रत करती हैं। उनके नाटक जीवन का महत्तर चित्र प्रस्तुत करने और वैभवपूर्ण दृश्यों की अवतारणा के लिए अनेक

---

1. डॉ. महेश आनन्द - रंगसृष्टि - पृ. 30

अवसर प्रदान करते हैं जिसमें प्रेक्षक की कल्पना अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। उन्होंने अपने नाटकों में संध्या, रात्रि, प्रभात, अग्नि, वर्षा आदि के दृश्यों में इसी परम्परागत प्रयोग का इस्तेमाल किया है। उदाहरणास्वरूप 'जनमेजय का नागयज्ञ' में अभिव्यक्त चित्र देखिए :

"काश्यप : संध्या हो चली है। आकाश ने धूसर अंधकार का कम्बल तान दिया है।"[1]

'कामना' का एक दृश्य में समान अंकन किया गया है -

"कामना : उषा के अपांग में जागरण की लाली है। दक्षिण पवन शुभ्र मेघ माला का अंचल हटाने लगा है।"[2]

'स्कन्दगुप्त' में भी इस तरह का दृश्यांकन किया गया है-

"सैनिक : न जाने क्यों हृदय दहल उठा है? जैसे सनसन करती हुई, डर से यह आधी रात खिसकती जा रही है।"[3]

प्राकृतिक बदलाव का सहारा लेते हुए पात्रों के मानसिक परिवर्तन को रेखांकित करने के उद्देश्य से प्रसाद द्वारा किये गए ये सभी वर्णन अत्यंत प्रभावशाली है। निर्झर, नदी-तट, सागर, बादल, पवन-प्रवाह, प्रभात आदि के दृश्यों को प्रसाद ने इसी प्रकार शब्द के दृश्यांकन शक्ति के आधार पर साकार किया है।

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी - पृ. 348
3. वही - पृ. 367
3. वही - पृ. 477

इस प्रकार के शाब्दिक दृश्य विधान के माध्यम से अर्थ और बिम्ब के कारण मंच पर अप्रस्तुत दृश्य प्रस्तुत दृश्य के समान हो महत्त्व अर्जित कर लेता है। इसी प्रकार दृश्यों को श्रृंखलाबद्ध करने में भी प्रसाद की दृष्टि रंगमंच और प्रेक्षक पर रही है। उनका क्रम रंगमंच की गति, रसानुभूति, हास्य-विश्रान्ति, आदि उपकरणों पर रहा है। लम्बे दृश्यों के बाद छोटे, गंभीर दृश्यों के बाद हास्यपूर्ण, तथा बीच में त्रासद प्रसाद ने पारसी रंगमंच के प्रभाव में किया है किन्तु उसके लिए उन्होंने संस्कृत पद्धति के विदूषक से काम लिया है।

पात्रों की मंचीय प्रतिविधि, हाव-भाव, मुद्रा, कथन-शैली, प्रवेश तथा प्रस्थान संबंधी रुढ़ियों के पालन में भी प्रसाद ने संस्कृत, पारसी और शेक्सपियरीय रंग-विधान का अनुसरण किया है। वाक् अभिनय की दृष्टि से उनके पात्र स्वगत का प्रभावशाली मंचीय प्रयोग करते हैं। वे खाली मंच पर पात्र को स्थापित ही नहीं करते वरन् दृश्य के काव्यात्मक प्रभाव के निर्माण तथा चरम की सिद्धि में भी सहायक होते हैं। इसी दृष्टि से उन्होंने अपने अधिकांश स्वगत कथनों की योजना या तो दृश्य के आरंभ में की है जब पात्र एकाकी होते हैं या फिर अंत में जब उसे सब छोड़कर चले जाते हैं। दृश्य के आरंभ में प्रयुक्त स्वगत कथनों का उदाहरण दखिए :

'अजातशत्रु' में बिम्बिसार का कथन है :

"महाराज बिम्बिसार एकाकी बैठे हुए आप ही आप कुछ विचार रहे हैं।

बिम्बिसार : आह, जीवन की क्षणभङ्गुरता देखकर भी मानव कितनी गहरी नींव देना चाहता है। आकाश के नीले पत्र पर उज्ज्वल अक्षरों से लिखे अदृष्ट

के लेख जब धीरे-धीरे लुप्त होने लगते हैं, तभी तो मनुष्य प्रभात समझने लगता है, और जीवन संग्राम में प्रवृत्त होकर अनेक अकाण्ड ताण्डव करता है। ...."[1] इसी नाटक में अन्यत्र - (कौशाम्बी में मागन्धी का मंदिर)

मागन्धी - (स्वगत) - इस रूप का इतना अपमान! सो भी एक दरिद्र भिक्षु के हाथ! मुझसे ब्याह करना अस्वीकार किया! यहाँ मैं राजरानी हुई, फिर भी वह ज्वाला न गयी, यहाँ रूप का गौरव हुआ, तो धन के अभाव से दरिद्र-कन्या होने के अपमान की यंत्रणा में पिस रही हूँ!...."[2]

नाटक के दृश्यों के अंत में प्रयुक्त स्वगतों को देखिए 'स्कन्दगुप्त' के द्वितीय अंक के प्रथम दृश्य के अंत में-

"बंधुवर्मा - उदार वीर हृदय, देवोपम सौन्दर्य, इस आर्यावर्त्त का एकमात्र आशास्थल इस युवराज का विशाल मस्तक कैसी वक्र लिपियों से अंकित है। अन्तःकरण में तीव्र अभिमान के साथ विराग है। आँखों में एक जीवन-पूर्ण ज्योति है।...."[3]

इसी नाटक के चतुर्थ अंक के तृतीय दृश्य में -

"मातृगुप्त - तो सब गया! मेरी कल्पना के सुन्दर स्वप्नों का प्रभात हो रहा है। नाचती हुई नीहार-कणिकाओं पर तीखी किरणों के भालें। ओह! सोचा था कि

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी - पृ. 213
2. वही - पृ. 221
3. वही - पृ. 491

देवता जागेंगे, एक बार आयावर्त्त में गौरव का सूर्य चमकेगा, और पुण्य-कर्मों से समस्त पाप-पंक धुल जायँगे; हिमालय से निकली हुई सप्तसिन्धु तथा गंगा - यमुना की घटियाँ, किसी आर्य सद्‌गृहस्थ के स्वच्छ और पवित्र आँगन-सी, भूखी जाति के निर्वासित प्राणियों को अन्नदान देकर संतुष्ट करेंगी;"[1] उनके लगभग सभी नाटकों में इस पद्धति को स्वीकार किया गया है। स्वगत कथन के माध्यम से पात्रों के भीतरी अन्तर्द्वन्द्व को वाणी देने का नाटककार का प्रयास सार्थक लगता है।

प्रसाद के रंगमंचीय दृष्टि की एक और विशेषता यह है कि उनके पात्र मंच पर एक विशेष प्रणाली से, एक विशेष परिस्थिति में प्रवेश और प्रस्थान करते हैं। अधिकांश परिस्थितियों में वे 'सहसा प्रवेश करके' बोलने लगते हैं जिससे संघर्ष अथवा विरोध की तीव्रता वातावरण में भरी रहती है। यह प्रवृत्ति संस्कृत रंगमंच के 'कथोद्‌घात' तथा पारसी रंगमंच की समान पद्धति के निकट है। प्रवेश की तरह प्रस्थान मे भी प्रसाद ने इन्हीं का अनुसरण किया है। प्रसाद ने पात्रों की भांगीमा, गति, लहजा और भाषिक वैशिष्ट्य के संबंध में भी पर्याप्त संकेत दिए हैं। वाक् अभिनय में रंग तत्त्व की प्रधानता के कारण उनके नाटक गति, दृश्य और कार्य के कलात्मक उपयोग के साथ आंगिक, वाचिक, और आहार्य अभिनय के लिए पर्याप्त अवसर प्रदान करते हैं। प्रसाद ने पात्रों की मौन प्रतिक्रिया आंगिक चेष्टा, स्वगत आदि का रंग-संकेतों में यत्र-तत्र संक्षिप्त उल्लेख किया है। साथ ही कहीं-कहीं भंगिमाओं के संवादों को जोड़ने का प्रयत्न भी किया है। जैसे 'अजातशत्रु' के अंत

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी - पृ. 533

में बिम्बिसार की मृत्यु पर गौतम बुद्ध की 'अभय मुद्रा' नाटक के अर्थ का अपूर्व विस्तार करती है। वाक् अभिनय की प्रधानता लिए हुए उनके संवाद एक निश्चित गति, लय और कथन शैली का अनुसरण करते हैं। यह पद्धति पारसी रंगमंच से मिलती जुलती है। इन सबकी संयुक्त अभिव्यक्ति उनके रंग-कौशल को प्रकट करती है।

प्रसाद ने एक ओर संस्कृत मंच की काव्यात्मक उपलब्धियों का सहज अनुसरण किया, दूसरी और मृत अथवा अनुपयोगी रूढ़ियों की लीक से हटने का साहस दिखाया। पारसी रंग-परंपरा में जो उन्हें उपयोगी लगा उसको उन्होंने अपनाया। पाश्चात्य पद्धति के अनुरूप द्वन्द्व, संघर्ष, स्वगत, प्रवेश, प्रस्थान आदि संबंधी मान्यताओं को ग्रहण कर मंच को सार्थकता प्रदान की। प्रवेशक तथा विष्कंभक की अपेक्षा उन्होंने सूच्य दृश्यों को स्थान दिया है और उनके साथ विदूषकों का हास-परिहास जोड़कर नवीन प्रयोग करने का भी प्रयास किया है। इसी प्रकार प्रसाद ने 'जनमेजय का नागयज्ञ' में मनसा और सरमा के वार्तालाप के बीच खांडव दाह के गर्भ दृश्य की योजना फ्लैश बैक के रूप में चित्रित करके एक नया रंग प्रयोग किया है। 'ध्रुवस्वामिनी' के अंतिम दृश्यों की योजना में साहित्यिक दृष्टि और मंचीय दृष्टि का अद्‌भुत समन्वय देखने को मिलता है। कुल मिलाकर एक ओर संस्कृत तथा दूसरी ओर पारसी और पाश्चात्य रंग-शैली से प्रभावित प्रसाद का रंग-विधान समन्वय पर आधारित है। "उनके नाटकों में दो तरह के तत्त्व स्पष्ट दिखाई देते हैं - एक, थिएट्रिकल तत्त्व यानी अतिनाटकीय स्थितियों का आकर्षक दृश्यत्व और दूसरा, व्यापक मानवीय धरातल पर उनकी महाकाव्यात्मक संरचना। ...इसलिए

भावना और दृश्यत्व-दोनों स्तरों पर दर्शकों को बांधने के लिए व्यावसायिक चुस्ती, अनुशासन और प्रदर्शन की भव्यता भी ज़रूरी है। ....ढेर सारे दृश्यों और पात्रों द्वारा बन रहे दृश्य बिम्बों की संरचना के लिए कलात्मक कौशल के साथ कठोर परिश्रम और लम्बी अवधि के अभ्यास की ज़रूरत है।"[1] निश्चयतः प्रसाद के रंग-विधान पारसी रंगमंच के चमत्कार के प्रति मोहित होने पर भी वे काव्य तत्त्व के समाहार से, भरपूर है और उन्होंने उसे कृत्रिमता से बचाया है। अधक परिश्रम के सहारे उनके नाटकों का मंचीकरण संभव है।

अभिनेयता की कसौटी पर प्रसाद के नाटक

प्रसाद के नाटकों पर सालों से यह आरोप लगाया जाता है कि वे 'अनभिनेय' है। समीक्षक इसके पक्ष में कई तर्क भी प्रस्तुत करते हैं, जिनमें मुख्य हैं-

- दृश्यों और पात्रों का बाहुल्य
- देश और काल का विस्तार
- आकार की विशालता के कारण प्रदर्शन में लगने वाला समय।
- भाषा की क्लिष्टता

यथार्थवादी रंगमंच के पक्ष में खड़े होकर ही समीक्षकों ने यह आरोप उठाया और इतनी गलतियाँ गिनी हैं। इस संदर्भ में महेश आनन्द का कथन है - "प्रसाद के नाटक 'रंगमंच पर नहीं प्रस्तुत किये जा सकते', यह आक्षेप उन लोगों

---

1. महेश आनन्द - जयशंकर प्रसाद : रंगसृष्टि, रंगमंच के लिए नाटक - पृ. 32

का था जिनके सामने केवल यथार्थवादी रंगमंच का आदर्श था। पर आज जब रंगमंच के लिए नये रास्ते खुल चुके हैं, तब भी उन्हें, 'रंगमंच के लिए अनुपयुक्त' मानने का कोई कारण नज़र नहीं आता..... मेरा विश्वास है कि अगर प्रसाद के नाटक अनभिनेय और केवल पाठ्य-नाटक होते तो उनमें इस प्रकार की जीवंतता और सम्प्रेषणीयता नहीं आ सकती थी जो उनमें मिलता है। ....दुर्भाग्य से प्रसाद की नाट्य रचनाएँ (ध्रुवस्वामिनी को छोड़कर) मंच पर प्रस्तुत होने से पूर्व ही प्रकाशित हो गयी थीं। अतः ज्यों का त्यों प्रकाशित होने के कारण उनमें कुछ ऐसा बिखराव आ गया है कि साधारणतः निर्देशक उस स्थिति को समेटने की परिश्रम साध्य प्रक्रिया से घबराकर उन नाटकों से ही कन्नी काटने लगते हैं।"[1] सही अर्थ में प्रसाद के नाटकों की समीक्षा महेश आनन्द ने यहाँ प्रस्तुत की है। प्रसाद के नाटककार रूप की सही परख यहाँ देख सकते हैं।

वास्तव में प्रसाद के कुछ नाटकों के दृश्य, पात्र तथा प्रदर्शन में लगने वाला समय चौंका देना वाला है। ये निश्चयतः कठिनाई उपस्थित करने वाला तथ्य है तथा मंचन की दृष्टि से व्यय साध्य भी। लेकिन अगर कोई प्रसाद के नाटकों को प्रदर्शित करना चाहता है तो इन उपर्युक्त बातों पर विचार करके, थोड़े परिवर्तन एवं कांट-छांट के साथ इस कार्य को सफलता के साथ पूरा कर सकता है। उदाहरण के लिए उनके नाटकों के दृश्य-विधान को ही लीजिए - यह ज़रूर लगता है कि उनमें दृश्यों का बाहुल्य हैं लेकिन उनमें मुख्यतः पाँच प्रकार के ही दृश्य हैं-

---

1. महेश आनन्द - नटरंग, मार्च 1977 - पृ. 58

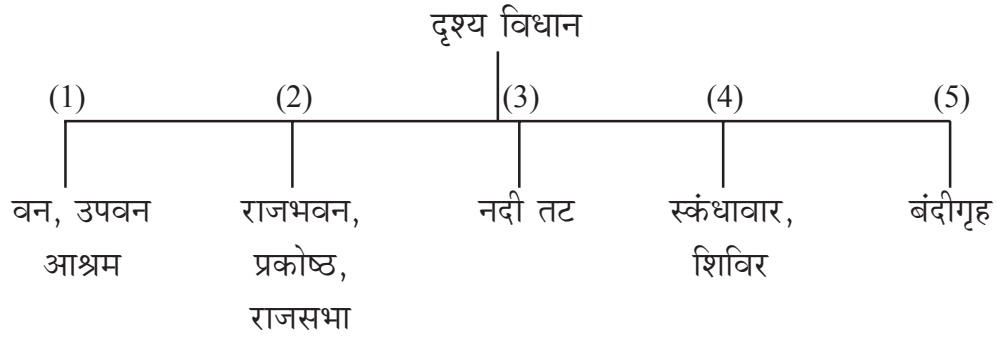

इन पाँच प्रकार के दृश्य बंधों के आधार पर प्रसाद के राज्यश्री, विशाख, कामना, जनमेजय का नागयज्ञ, तथा ध्रुवस्वामिनी जैसे नाटक मंचन के अनुकूल ही है तब केवल अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त ही तीन ऐसे नाटक हैं जिनमें देश-काल का बिखराव, दृश्य-परिवर्तन जैसी समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। ये रंग-कर्मियों के लिए चुनौती अवश्य प्रस्तुत करती है किन्तु प्रतिभाशाली निर्देशक तथा विकसित रंगमंच के लिए उनका प्रस्तुतीकरण असंभव नहीं है। दृश्यांकन के स्तर पर पर्याप्त काट-छाँट तथा एक दूसरे में मिलाकर अर्थात् काफी संपादन के बाद प्रसाद के नाटक मंचित की जा सकती है और यदि उन्हें ज्यों का त्यों प्रस्तुत करना है तो विकसित यांत्रिक विधि-विधानों एवं विशिष्ट रंग शैलियों का सहारा लेकर उसे भी संभव बनाया जा सकता है।

प्रसाद के नाटकों में मुख्यतः प्राकृतिक दृश्य योजना ही देखने को मिलती है। मंचीय दृष्टि से यह एक गुण है। मंच पर प्रकृति की पृष्ठभूमि में दृश्यों का निरूपण प्रभावशाली होता है। पारसी रंगमंच से प्रभावित प्रसाद ने युद्ध, अग्नि, आंधी, नदी तथा समुद्र तट, निर्झर, नौक-संतरण आदि से संबद्ध अनेक चमत्कारपूर्ण दृश्यों की योजना की है। 'राज्यश्री' में पुष्प वर्षा (4/4), 'स्कन्दगुप्त' में रत्न-गृह

का प्रकट होना (5/2), 'चन्द्रगुप्त' में व्याघ्र का मंच पर आना (1/10), गुफा का द्वार खुलना (3/8) आदि दृश्य भी इसी श्रेणी के हैं किन्तु मात्र इन चमत्कारपूर्ण दृश्यों के कारण प्रसाद के नाटकों को अरंगमंचीय नहीं कहा जाना चाहिए क्योंकि स्वयं प्रसाद के युग में इस प्रकार के दृश्य पारसी मंच पर सफलतापूर्वक खेले जाते थे। आज भी यंत्रों, प्रोजस्टरों तथा अन्य रंगमंचीय विधियों से उनको सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया जा सकता है। जहाँ तक विविध स्थलों की सूचना देने का प्रश्न है, उसके लिए नाम पट्ट, पर्दे अथवा प्रतीक चिह्नों का प्रयोग संभव है।

दृश्य विधान की समस्या के समान ही प्रसाद के नाटकों की मंचीयता से जुड़ी एक समस्या है - 'पात्रों का बाहुल्य'। मुख्यतः प्रसाद के नाटकों में दो प्रकार के पात्र हैं - मुख्य पात्र और सामान्य पात्र। इनके नाटकों में मुख्य पात्र की संख्या कम और सामान्य पात्र अधिक है। सामान्य पात्रों की संख्या में वृद्धि इसलिए हैं क्योंकि उसमें सैनिक, दास, दासी, प्रहरी, अमात्य, दंडनायक, सेनापति, सखियाँ आदि भी शामिल हैं। ऐसे पात्रों की संख्या मंचीयता के वक्त कम की जा सकती है। कई नाटकों में ऐसे पात्र भी आते हैं जो सारे नाटक भर में दो-चार संवाद ही बोलते हैं। वररुचि, वासवदत्ता, लुब्धक, गोविन्दगुप्त, चक्र, भीमवर्मा, पृथ्वीसेन, मौर्य, मौर्यपत्नी, गांधार-नरेश आदि अनेक ऐसे पात्र है जिन्हें मंचीयता की दृष्टि से मुक्ति दी जा सकती है।

दृश्यों एवं पात्रों के बाहुल्य संबंधी समस्या के साथ प्रसाद के नाटकों की अभिनेयता को लेकर यह आरोप जुड़ा है कि उनके प्रदर्शन में अधिक समय लगता

है और प्रेक्षक उतनी देर तक बैठ नहीं सकते। जैसे पूर्व बताया गया है ऐसे स्थिति में दृश्यों, गीतों आदि में कांट-छांट की जा सकती है। प्रभाव की दृष्टि से जो दृश्य कम महत्वपूर्ण है उनको निकाला जा सकता है। इसके अतिरिक्त ऐसे कई दृश्य जो नाटकीय कथावस्तु से सीधे संबंधित नहीं, उन्हें भी हटाया जा सकता है; उदाहरण स्वरूप 'जनमेजय का नागयज्ञ' में दामिनी से संबंधित कथा, 'अजातशत्रु' में विरुद्धक, शक्तिमती - मल्लिका संबंधी कुछ दृशष्य, 'स्कन्दगुप्त' मे मातृगुप्त - मालिनी, विजया-मुद्गल, धातुसेन, प्रख्यातकीर्ति संबंधी दृश्य आदि नाटक के अभिन्न अंग नहीं है और इन्हें हटाने से मूल कथा के प्रभाव में कोई क्षति नहीं पहुँचती। अतः इस दृष्टिकोण को भी स्वीकारा जा सकता है। इस संदर्भ में महेश आनन्द कहते हैं - "इन नाटकों को प्रस्तुत करने के लिए पहली ज़रूरत ठीक प्रस्तुति-आलेख तैयार करने की ही है। इस कोशिश में कुछ परिवर्तन तो निश्चित रूप से होंगे। कुछ अनावश्यक दृश्य निकालने पडेंगे और कुछ दृश्यों को शायद आगे-पीछे भी करना होगा। प्रसाद के प्रत्येक नाटक को ज्यों का त्यों कभी भी नहीं खेला गया। यहाँ तक कि 1933 में काशी में हुए चन्द्रगुप्त के प्रदर्शन के लिए स्वयं जयशंकर प्रसाद ने एक प्रस्तुति-आलेख तैयार किया था। आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने (जिन्होंने इस प्रदर्शन में अभिनय किया था) एक साक्षात्कार में बताया कि स्वयं प्रसाद जी ने इस प्रदर्शन के बाद स्वीकार किया कि उनके प्रत्येक नाटक का इसी प्रकार से आलेख तैयार होना चाहिए।"[1] इस वक्तव्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद के नाटकों का मंचन बिल्कुल संभव है। शर्त सिर्फ यह है कि इसके लिए

---

1. महेश आनन्द - नटरंग, जनवरी-मार्च 1977 - पृ. 59

मेहनत करना होगा। इसके लिए संपादन करना अत्यंत आवश्यक है तथा यह श्रम साध्य कार्य भी है।

प्रसाद के नाटकों के दृश्यांकन के अतिरिक्त एक बहुत बडी बाधा भाषा की बताई जाती है। उनकी भाषा पर अभिनय की दृष्टि से सरल, अभिनयोचित न होने का दोष लगाया जाता है। यहाँ सबसे पहले हमें यह ध्यान रखता चाहिए कि रंगमंच की भाषा केवल शब्दों पर आधारित नहीं होती - नाटकीय क्रिय व्यापार, अभिनय की भंगिमा, घटना, दृश्य तथा वेशभूषा भी उसमें पूरक तत्त्व की भूमिका निभाते हैं। "प्रसाद के नाटक अपने कथ्य के कारण अभिव्यक्ति के अन्य उपकरणों के लिए इतनी अधिक संभावनाएं लिये हुए हैं कि वे उनके स्वप्नों, प्रत्ययों तथा रसानुभूति को साकार करने में अद्‌भुत योग देती हैं। ....केवल सुबोधता, सरलता, तथा सामान्यता को नाटक की कलात्मक अभिव्यक्ति का मानदंड मान लेना उचित नहीं। वस्तुतः रंगभाषण, केवल वार्तालाप नहीं है। उसमें कम शब्दों में अधिक अर्थवत्ता अंतर्निहित करने का लक्ष्य मुख्य होता है।"[1] इस दृष्टि से परखने पर प्रसाद की भाषा का क्लिष्ट तथा काव्यात्मक होना सहज स्वाभाविक है।

दूसरी तरफ प्रसाद की भाषा अभिनय के लिए पर्याप्त संभावनाएँ प्रदान करती हैं। उनमें चारियों और अंगहारों के लिए यथेष्ठ अवसर रहते हैं। भावानुभूति से ओत-प्रोत होने के कारण वे विभिन्न भाव-भंगिमाओं, गतियों, और मुद्राओं से परिपूर्ण दिखते हैं। भाषा को अभिनयोचित गुणों से समन्वित करने के लिए भरत

---

1. गोविन्द चातक - प्रसाद के नाटक : स्वरूप और संरचना - पृ. 322

ने जिन उपायों का सुझाव किया है जैसे भूषण, अक्षर संघात, शोभा, उदाहरण, हेतु, संशय, दृष्टांत, अभिप्राय, निदर्शन, विचार, विपर्यय आदि का समावेश प्रसाद ने बड़े कौशल से किया है। इसी प्रकार पुनरावृत्ति, मौन, उद्‌घात, कथोद्‌घात आदि अभिनय को रोचक बनाने वाली युक्तियों का भी उन्होंने सफल प्रयोग किया है। उनमें आंगिक, तथा वाचिक अभिव्यक्ति का भी सुन्दर समन्वय मिलता है। शब्द को 'पकडकर' संवाद और प्रतिसंवाद रचने तथा उन्हें सूक्तियों मे ढालने में वे कुशल थे। उनकी सूक्तियाँ तथा वाग्मिता से पूर्ण संवाद उनकी संवेदन-शीलता के परिचायक कहे जा सकते हैं। उन्होंने संवादों के आरोह, अवरोह, लय, गति तथा वैविध्य पर पूरा ध्यान दिया है। उन्होंने भावात्मक विवरणात्मक, छोटे, बड़े, संयमित तथा ऊहापोह से परिपूर्ण सभी प्रकार के संवाद लिखे हैं। इस तरह से संपुष्ट प्रसाद के संवादों को रंगमंच पर बोलते समय उनको निश्चित लय, गति आरोह-अवरोह, उच्चारण की गरिमा तथा समस्त अभिजात्य के साथ ही बोलना चाहिए जिसके लिए श्रम और कलात्मक अनुभव होना चाहिए।

प्रसाद के नाटकों के दृश्यांकन में उठने वाली अन्य कठिनाइयाँ जैसे नाट्य स्थल और काल का बिखराव। इस समस्या का निदान देशकाल के परिचायक प्रतीकों और संवादों के सहारे किया जा सकता है। विभिन्न स्थलों की सूचना विभिन्न स्थानों के अनुकूल ऐतिहासिक, भौगोलिक अथवा भावात्मक प्रतीकों द्वारा संभव है। जहाँ तक काल के अंकन तथा अन्विति का प्रश्न है, उनके नाटकों में क्रिया व्यापार में ऐसी गतिशीलता निहित है जिसके कारण काल के व्यवधान और विस्तार का भाव नहीं होता। वैसे भी मंच पर काल को घटनाक्रम में मापा जाता है।

इस दृष्टि से प्रसाद के नाटक घटनाक्रम में तुलना एवं संतुलन के निर्वाह की क्षमता के कारण काल की अन्विति का अपूर्व प्रभाव छोडते हैं।

इस प्रकार नई रंग-दृष्टि की संभावनाओं का सफलतापूर्वक निर्वाह करने से प्रसाद के नाटकों के मंचन की सार्थकता सिद्ध होती है। "जब कभी उनके नाटकों को अनभिनेय कहा गया, उसके पीछे यथार्थवाद का थोथा आग्रह रहा है। वस्तुतः प्रसाद के नाटक यथार्थवादी मंच के लिए नहीं लिखे गए हैं जिसके प्रसाद बड़े विरोधी थे। युग की मिथ्या धारणा से अभिभूत वास्तविकता का भ्रम प्रस्तुत करने वाले यथार्थवादी साहित्य और मंच का विरोध आज स्वीकृत तथ्य है। प्रसाद ने इस तथ्य का साक्षात्कार तब कर लिया था जब यथार्थवाद का प्रभाव ताज़ा-ताज़ा था। उनके नाटक प्रकृति से काव्यात्मक हैं। इसलिए उन्हें एक ऐसी शैली में ही प्रस्तुत किया जा सकता है जो शब्द, कार्य, गति और चारित्रि को काव्य के स्तर तक उठा सके अथवा उनका एकात्मक सर्जनात्मक अनुभव दे सके।"[1] प्रसाद के नाटकों को मंचीयता और अभिनेयता की कसौटी पर सही अर्थों में परखने का प्रयास चातक ने यहाँ किया है। प्रसाद के नाटकीय दृष्टिकोण की सार्थक अभिव्यक्ति इस कथन मे देखा जा सकता है।

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (रामगोपाल बजाज 7 नवम्बर 1977) और भारत भवन (ब.व. कारत) मई 1984 ने 'स्कन्दगुप्त' की जो प्रस्तुतियाँ की उनमें इसी आधार पर कई परिवर्तन किए और उन प्रस्तुतियों से प्रसाद के नाटकों के प्रति

---

1. गोविन्द चातक - प्रसाद के नाटक : स्वरूप और संरचना - पृ. 319

एक नया विश्वास जगा है। इस दिशा में रांबिन दास द्वारा मंचित 'जनमेजय का नागयज्ञ' (1996) को निश्चित रूप से इसकी अगली कड़ी कही जा सकती है। उपर्युक्त चर्चित सीमाओं और प्रश्नों के बावजूद ये सारी प्रस्तुतियाँ ऐसे संकेत अवश्य छोड़ती है जिनको विकसित करते हुए प्रसाद के नाटकों की प्रस्तुति शैली को समझा जा सकता है। हिन्दी के निजी रंगमंच के पूर्ण विकसित न होने के कारण प्रारंभिक काल में प्रसाद के नाटकों को रंगमंचीय कसौटी पर कसने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ था। किन्तु अब वैज्ञानिक संसाधनों से समृद्ध विशद राष्ट्रीय रंगमंच के निर्माण के उपरान्त उनकी नाट्य रचनाओं का सफल मंचन संभव हो सका है, जिसका प्रमाण ऊपर कथित है।

".....हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि प्रसाद की नाट्य पद्धति भारतीय नाट्य परम्परा से सम्बद्ध, पाश्चात्य नाट्य परम्परा से अनुप्राणित एवं कवि के प्रतिभा-प्रयोगों से अलंकृत है।"[1] वस्तुतः बहुविध रूप से संपन्न प्रसाद के नाटकों के सफल मंचन के लिए उनकी पद्धति के अनुरूप अभिनेताओं का चयन और रंगोपचार अनिवार्य शर्त है। निस्संदेह उनकी नाट्य पद्धति को समझते हुए कुशल अभिनेताओं द्वारा साधन संपन्न रंगमंच पर उनके नाटकों का सफल मंचन हो सकता है।

---

1. डॉ. हरीन्द्र - प्रसाद का नाट्य साहित्य : परम्परा एवं प्रयोग - पृ. 282

मंचन की दृष्टि से मोहन राकेश के नाटकों का विवेचन

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी रंगमंच - एक झलख

हिन्दी में नाटक साहित्य का विकास दूसरी विधाओं की तुलना में कुछ अलग ढ़ंग से हुआ है। रासलीला, रामलीला, नौटंकी, स्वांग आदि लोक नाट्य परंपारा से गुज़रकर, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा सृजित मौलिक नाट्य लेखन पद्धति से होते हुए एक नवीन रंगमंचीय परम्परा का श्री गणेश हुआ किन्तु किन्हीं राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक कारणों इस नवीन पद्धति में अवरोध उत्पन्न हुआ और इसके आगे रचित नाटक मुख्यतः दो वर्ग के थे - साहित्यिक नाटक और रंगमंचीय नाटक। इस विभाजन के परिणामस्वरूप नाटक और रंगमंच के अंतरंग स्वरूप और प्रकृति के निर्धारण में बाधा पहुँची जिससे इनके संबंध में दरार पड़ी।

नाटक को रंगमंच से जोड़ने का स्तुत्य प्रयास पाँचवें दशक के उपरान्त पुनः प्रारंभ हुआ। पाँचवें दशक के पश्चात् हिन्दी नाट्य साहित्य का महत्वपूर्ण पड़ाव प्रारंभ हो गया जिसमें नाटक और रंगमंच के अन्योन्याश्रित संबंध को स्वीकार किया जाने लगा और क्रमशः साहित्यिक नाटक और रंगमंचीय नाटक को भेद मिट गया। इस दशक से साहित्यिक और रंगमंचीय नाटकों के विभाजन के स्थान पर ऐसे नाटकों की रचना होने लगी जिसमें कलात्मकता, सृजनात्मकता और सर्वोपरि दर्शकों को आकर्षित करने की शक्ति भरपूर थी। इस दृष्टि से जगदीशचन्द्र माथुर का 'कोणार्क', धर्मवीर भारती का 'अंधायुग' और मोहन राकेश का 'आषाढ़ का एक दिन' कथ्य, शैली और शिल्प के स्तर पर नवीनता का परिचय कराती हुई

नाटक को दृश्यत्व की ओर ले जाने में सार्थक प्रयास माना जाता है। नाटक संबंधी इस नयी प्रौढ़ मान्यता के पीछे कई कारण कार्यरत थे।

राजनीतिक उतार-चढ़ाव, सामाजिक परिवर्तन, पाश्चात्य नाट्य जगत की रंगमंचीय गतिविधियाँ आदि इनमें से कुछ है लेकिन सबसे महत्वपूर्ण कारण स्वातंत्र्योत्तर काल में सरकार द्वारा 1953ई. में संगीत नाटक अकादमी, 1954ई. में सूचना मंत्रालय के गीत एवं नाटक प्रभाग और 1959ई. में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की स्थापना है जिससे समूचे भारतीय रंगमंच में नवीन रंग-चेतना तथा तकनीक समृद्ध गंभीर रंगकर्म के उदय के साथ रंगकर्मियों के बीच आदान-प्रदान के रास्ते खुल गये। नई रंग-दृष्टि के प्रभाव के कारण हिन्दी में ऐसे नाटक लिखे जाने लगे, जिनमें साहित्यिक के साथ-साथ मंचीयता के पक्ष को भी समान महत्त्व देते हुए, विषयगत तथा शिल्पगत प्रयोगों को अपनाते हुए हिन्दी रंगमंच के बुनियाद को बुलन्द करने का मौलिक प्रयास किया जा रहा था। अतः स्वतंत्रता प्राप्ति से लेकर छठे दशक के आरंभ तक के इन्हीं प्रयासों, उत्साही रंगकर्मियों के अथक परिश्रम एवं समर्पण तथा परम्परा के सार्थक समन्वय से हिन्दी के नए रंगादोलन का आरंभ हुआ। इस रंगादोलन के प्रवर्तकों में मोहन राकेश का नाम अग्रणी है।

नाटककार मोहन राकेश : रंगमंच के संदर्भ में

जगदीशचन्द्र माथुर ने जिस नयी नाट्य लेखन परम्परा को जन्म दिया था, राकेश ने अपने नाटकों के द्वारा उसके आयामों को विस्तृत किया और नयी-नयी बारीकियाँ पैदाकर नाट्य रचना को उसका सौन्दर्य प्रदान करने का प्रयास किया।

उनके नाटकों ने हिन्दी रंगमंच को सक्रिय बनाने के साथ नाटक को सही मायने में रंगमंच से जोड़ा, प्रचालित नाट्य रुढ़ियों को तोड़कर प्रयोगशील रंगमंच की कल्पना को साकार किया। उन्होंने हिन्दी नाटक को और रंगमंच को नया और आधुनिक रूप देने के लिए अपनी संस्कृति और जड़ों से जुड़कर अपने जीवन और परिवेश के भीतर से, आज के लिए प्रासंगिक भारतीय रंगमंच की संभावनाओं की खोज का सही रास्ता अपनाया।

स्वातंत्र्योत्तर काल में नाटक और रंगमंच के बीच की खाई कम होती नज़र आने लगी। इसका प्रधान कारण था - 'नाटककारों की रंगमंचीय चेतना।' इस समय के लगभग सभी नाटककारों की यही धारणा थी कि रंगमंच ही नाटक की कसौटी है और हर दृष्टि से नाटक को इस कसौटी पर सफल सिद्ध होना है। राकेश की मान्यता थी कि, "रंगमंच की पूरी प्रयोगप्रक्रिया में नाटककार केवल एक अभ्यागत, सम्मानित दर्शक या बाहर की इकाई बना रहे, यह स्थिति मुझे स्वीकार्य नहीं लगती।"[1] इस कथन से राकेश की अवधाणा स्पष्ट हो जाती है। उनके अनुसार मात्र नाट्यालेख तैयार करना नाटककार का कार्य नहीं, बल्कि उन्हें अपने नाटकों की मंचीयता में भी पूरा हिस्सा लेना है। "नाटककार और रंगमंच की प्रयोगधर्मिता को एक धरातल पर लाना, उन्होंने अपेक्षित माना, जिससे नाटककार पूरी रंगप्रक्रिया का एक अनिवार्य अंग बन सके।"[2] इससे स्पष्ट होता है कि राकेश का रंगमंच संबंधी अवधारणा विस्तृत फलक की है। वे नाटककार और रंगमंच के

---

1. मोहन राकेश - नाट्य विमर्श (सं) - पृ. 42
2. डॉ. घनानन्द एम. शर्मा - मोहन राकेश का नाट्य साहित्य - पृ. 92

बीच सहयोग की मांग करते हैं। उन्होंने यह प्रयास किया कि उनके सभी नाटक रंगमंचीय धरातल पर विराचित हो।

राकेश रंगमंचीयता को नाटक का अनिवार्य एवं अभिन्न अंग मानते हैं। उनके सभी नाटक रंगमंचीयता के व्यापक गुणों से संपन्न हैं। उनके अनुसार, "हिन्दी रंगमंच को हिन्दी भाषी प्रदेश की सांस्कृतिक पूर्तियों और आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करना होगा, रंगों और राशियों के हमारे विवेक को व्यक्त करना होगा। हमारे दैनंदिन जीवन के राग-रंग को प्रस्तुत करने के लिए, हमारे संवेदों और स्पंदनों को अभिव्यक्त करने के लिए जिस रंगमंच की आवश्यकता है, वह पाश्चात्य रंगमंच से कहीं भिन्न होगा। इस रंगमंच का रूपविधान नाटकीय प्रयोगों के अभ्यंतर से जन्म लेगा और समर्थ अभिनेताओं तथा दिग्दर्शकों के हाथों उसका विकास होगा।"[1] इसमें कोई तर्क नहीं कि जितना समृद्ध उनके नाटकों का भावतत्व है उतना ही उनका शिल्प भी। उनका रंगबोध प्रखर है, रंगमंच की अपेक्षाओं की उनकी समझ गहरी है, इससे उनके नाटकों को संपूर्ण रंग परिकल्पना में आँका जा सकता है। उनकी कोशिश यही रही है कि नाटक के कथ्य का सम्प्रेषण केवल शब्दों के स्तर पर ही न हो बल्कि उसके साथ-साथ पात्रों के कार्य-व्यापार मुद्राएँ, दृश्यबिम्ब, प्रतीक इत्यादि नाटक के अन्य सभी उपकरणों के स्तर पर भी हो और इसके लिए उन्होंने नाटक के आंतरिक तत्वों द्वन्द्व, कौतूहल, तनाव आदि के सहारे नाटक का निर्माण कर हिन्दी नाट्य साहित्य को एक नयी नाटक की आंतरिकता की पहचान की दिशा दी।

---

1. मोहन राकेश, मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक (सं) - पृ. 104 (आषाढ़ का एक दिन - पहले संस्करण की भूमिका से)

जून 1958 में प्रकाशित राकेश का प्रथम नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' कई दृष्टियों से आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच के लिए एक महत्त्वपूर्ण घटना सिद्ध हुई। तीन अंक वाले इस नाटक में दृश्य नहीं बदलते। "....नाटक का पहला अंक कथा के परिचय और उद्‌घाटन, दूसरा उसके विकास और चरमोत्कर्ष और तीसरा धीरे-धीरे कथा को अंत के उपसंहार की ओर ले जाता है।"[1] पूरा नाटक एक ही दृश्यबंध अर्थात् मल्लिका के घर में घटित होता है। तीन अलग-अलग अंकों में मल्लिका के जीवन के साथ-साथ परिवर्तित होने वाली मल्लिका के घर की स्थिति का विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि मल्लिका के घर का दृश्यबंध अपने आप में मल्लिका की जीवन गाथा है।

"आषाढ़ का एक दिन पहले अंक में कुछ इस तरह आरंभ होता है - किसी भी प्रकार के संवाद अथवा मानवीय उपस्थिति से पहले अँधेरे में मात्र मेघ गर्जन और वर्षा का ध्वनि-प्रभाव धीरे-धीरे विलीन हो जाता है। मंच पर जो दृश्य-सज्जा है वह तीन दीवारों से घिरी एक साधारण प्रकोष्ठ की है जिस पर दो द्वार और एक बड़ी सी खिड़की रखी गई है। मंच पर अम्बिका की मौन उपस्थिति से नाटक की शुरुआत होती है। यह शुरुआत, यह दृश्य-सज्जा, यह ध्वनि-प्रभाव और यह अंधकार और प्रकाश के संकेत और किसी एक पात्र के पहले कार्य-व्यापार से दृश्य का धीरे-धीरे खुलना पहली दृष्टि में ही नाटक की यथार्थवादी शैली को सुनिश्चित कर देता है।"[2] राकेश द्वारा इस नाटक में आद्यन्त एक सा प्रतीकात्मक दृश्यबंध को

---

1. देवेन्द्र राज 'अंकुर' - आलोचना - जुलाई-सितम्बर 03 - पृ. 160
2. वही - पृ. 160

स्वीकार किया गया है जो नाटक के अर्थ को खोलता है। कथा की गति और पात्रों की मनःस्थिति के अनुरूप उसी दृश्यबंध में हल्के परिवर्तन कर दिये गए हैं जैसे पहले अंक में गेरु से बने दीवारों पर स्वस्तिक शंख और कमल के चित्र निखरे हुए हैं, साफ-सुथरा आँगन, लिपि पुत्ती भित्तियाँ हैं। दूसरे अंक में ये चित्र फीके पड़ जाते हैं। लिपाई उखड़ने लगी है। तीसरे अंक में वह बेहद टूटी और गिरी हालत में है। इस प्रकार वह मल्लिका की टूटती हालत के साथ-साथ टूटता रहता है।

इसी प्रसंग में एक दूसरे रंगोपकरण भी आता है 'कुम्भ'। प्रथम अंक में जब अम्बिका कमाती थी और मल्लिका का पोषण करने में समर्थ थी तो उसके घर में चार कुम्भ थे। दूसरे अंक में घर में केवल दो ही कुम्भ रह गये हैं। तीसरा अंक जर्जर, विपन्न और विलोम की दया पर जीने वाली मल्लिका की स्थिति को एकमात्र कुम्भ की उपस्थिति से व्यंजित करता है, उसका भी एक कोना झर झुका है। मल्लिका की भौतिक सम्पन्नता क्रमशः चार कुम्भ से टूटते जा रहे एक मात्र कुंभ पर आ ठहरी है। एक छोटा सा उपकरण कुंभ पूरे नाटक के अर्थ को एक आयाम देने की सामर्थ्य रखता है।

राकेश ने अनेक सार्थक दृश्य बिम्बों और रंग-प्रतीकों का प्रयोग किया है। इस प्रयोगशीलता में उन्होंने एक नयी रंगभाषा हिन्दी नाट्य के लिए खोज निकाली है। यह कार्यव्यापार और मुद्राओं की भाषा है, दृश्य बिम्बों और रंग-प्रतीकों की भाषा है। वस्तुतः इस नाटक की भाषा सही अर्थों में क्रिया व्यापार की भाषा है। नाटक के आरंभ में ही मल्लिका भीगने के आह्लाद को केवल शब्दों में ही नहीं कहती, मंच पर उसकी गतियाँ, कपड़े बदलते हुए बीच-बीच में उसकी झलक

दिखाई देना, पीठ के पीछे अम्बिका के गले में बाँहें डाल देना, इसी विचार को व्यक्त करने में माध्यम बने हैं। कालिदास के चले जाने पर मल्लिका आवाज़ लगाती हुई बाहर उसके पीछे जाने लगती है, परन्तु तभी बच्चों को बाँहों में देखकर जैसे वहीं जकड जाती है। फिर टूटी सी आकर आसन पर बैठ जाती है और बच्चे को साथ सटाकर रोती हुई उसे चूमने लगती है। रोने और चूमने के इस व्यापार में मल्लिका की पीड़ा और अपने वर्तमान के यथार्थ की स्वीकृति व्यापित है।

इस नाटक में प्रयुक्त कुछ अन्य सशक्त प्रतीक इस प्रकार है - 'भोज-पत्र', जो मल्लिका के अन्तर्मन के सम्प्रेषण का सशक्त प्रतीक है। मल्लिका के लिए भोज पत्र, कालिदास के बोध से जुड़े हैं। 'हरिणशावक' प्रकृति के कोमल रूप का प्रतीक है। "मेघ का प्रतीकत्व बहुअर्थगर्भी है। 'मेघ' पानी से जुड़कर जीवन के प्रतीक बनते हैं तो अंधकार से जुड़कर दुःख और निराशा के।"[1] मेघगर्जन की ध्वनियों का भी नाटक में अत्यंत प्रतीकात्मक प्रयोग हुआ है जो पात्रों के मन की अथल-पुथल को व्यंजित करता है।

इस नाटक में संकलन-त्रय और एक ही दृश्य की योजना रंगमंचीयता की दृष्टि से रंगकर्मियों को विशिष्ट सुविधा प्रदान करती है। मंच पर जो दिखता है - घटनाएँ दृश्यबंध, रंगोपकरण - इन सबको मिलाकर देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये सब निरन्तर ध्वस्त होते जा रहे मल्लिका और कालिदास के प्रेम की कथा है। बिना किसी के दोष के उनका प्रेम एक त्रासद करुणा में समाप्त होता है।

---

1. डॉ. जयदेव तनेजा - मोहन राकेश : रंग-शिला और प्रदर्शन - पृ. 53

"...आषाढ़ का एक दिन' हमारी संपूर्ण नाट्य एवं रंग-परम्परा के जीवन्त और सार्थक तत्वों का एक रचनात्मक यौगिक बन सका। यह नाट्यकृति हमारी मौलिक रंग-दृष्टि की खोज का दिशा-निर्देश करनेवाली हिन्दी की प्रमुख आरंभिक नाट्य-रचनाओं में से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण रचना है।"[1] वस्तुतः इस नाटक में सूचित रंग-संकेतों एवं प्रतीकों के माध्यम से इसने तत्कालीन रंगमंचीय परिकल्पना की पुनर्निर्मिति की।

इस नाटक की कुछ महत्वपूर्ण प्रस्तुतीकरण - अनामिका, श्यामानन्द जालान 18 और 28 सितम्बर 1960 (कलकत्ता); राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, इब्राहिम अल्काजी नवम्बर-दिसम्बर 1962 (दिल्ली); सत्यदेव दुबे 21 नवम्बर, 1964 (बम्बई); दिशान्तर, ओम शिवपुरी मार्च 1973 (दिल्ली); रामगोपाल बजाज, राष्ट्रीय नाट्य परिषद् (लखनऊ); गिरिश रस्तोगी, सेवा मंदिर (उदयपुर); युवा मंत्रालय (मौरीशस); मोहन महर्षि आदि के द्वारा हुई है। वस्तुतः 'आषाढ़ का एक दिन' आधुनिक हिन्दी नाट्य लेखन की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है जिसके देशव्यापी बहुभाषी, बहुसंख्यक प्रदर्शनों ने समकालीन हिन्दी रंगमंच के उद्‌भव, विकास और उत्कर्ष में निर्णायक भूमिका का निर्वाह करते हुए हिन्दी रंगमंच के नैतिक रूप की संभावनाओं की खोज में उल्लेखनीय योग दिया है। हिन्दी रंगांदोलन की गति को तीव्र करने और उसे व्यापक बनाने में इस नाटक की अहम भूमिका है।

राकेश का दूसरा नाट्य प्रयोग 'लहरों के राजहंस' द्वन्द्व और तनाव से भरा नाटक है। अश्वघोष के 'सौन्दरनन्द' से एक उद्विग्न क्षण तथा संशयग्रस्त व्यक्ति के

---

1. डॉ. जयदेव तनेजा - मोहन राकेश - रंग-शिल्प और प्रदर्शन - पृ. 43

विशिष्ट मूड़ को ग्रहण करके राकेश ने इस कृति की रचना की। सर्वप्रथम कहानी में सृजित और तत्पश्चात् नाटक रूप में निर्मित इस कृति में नन्द और सुन्दरी की कथा का आश्रय लेकर आधुनिक व्यक्ति की दुविधा ग्रस्त मानसिकता के नाटकीय चित्रण के साथ-साथ स्त्री-पुरुष संबंधों की सामान्य नियति की तलाश का गंभीर रेखांकन किया है। इस नाटक का सारा नाटकीय कार्य आंतरिक द्वन्द्व से उद्‌भूत हुआ है। और उस सूक्ष्म आंतरिक द्वन्द्व को सम्प्रेषित करने के लिए प्रतीकों और बिम्बों की योजना अपूर्व है।

तीन अंक और 'नंद के भवन में सुन्दरी के कक्ष' के एक ही दृश्य बंध वाले इस नाटक, का संरचना और शिल्प के स्तर से आधुनिक हिन्दी नाटकों में अपना विशिष्ट एवं निश्चित स्थान है, क्योंकि "यह नाटक एक विशेष रचना पद्धति और शिल्प-विधान के अनुसार एक सुगठित और तर्क-संगत रूप-बंध (structure) का निर्माण करता है।"[1] एक दृश्यबंधीय इस नाटक में राकेश ने रंगमंच पर पात्रों को बराबर बदलते रहकर कथा स्थितियों को परस्पर जोड़ा है। पात्रों का एक दल जब स्थिति उत्पन्न करता है, तब तक उनमें से कुछ पात्र मंच से चले जाते हैं और उनके स्थान पर कुछ नए पात्र आ जाते हैं जो पहले वाले पात्रों द्वारा निर्मित कथा स्थिति को आगे ले जाते हैं। इस तरह की कथा-स्थितियों की श्रृंखला के माध्यम से कथानक को गति प्राप्त होती है।

यह राकेश का प्रतीक बहुल नाटक है। प्रत्येक घटना, स्थिति, मनःस्थिति के साथ लेखक ने एक न एक प्रतीक जोड़ दिया है। नामकरण से लेकर चरित्र

---

1. डॉ. सुरेश अवस्थी - लहरों के राजहंस (9वाँ संस्करण की भूमिका) - पृ. 12

सृष्टि, कथानक, दृश्यांकन, संवाद-योजना और मूल संवेदना तक प्रतीकात्मक है। "इस नाटक की प्रतीकात्मकता को लेकर काफी चर्चा हुई है। श्यामांग को नाटक में एक प्रतीक के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। श्यामांग नन्द की संशयग्रस्त मनःस्थिति को प्रकट करने वाला पात्र है। ....वह नन्द के मन की संकुलता को ही रेखांकित करता चलता है। उसका उन्माद बहुत सोचनेवाले मन का संभ्रम है।"[1] राजहंस नन्द और सुन्दरी को स्पष्ट करते हैं 'ओस से लदे कमलों' के बीच राजहंसों के जोड़े की किलोल सुन्दरी को अपने और नन्द के आकर्षक संबंध के आनन्द जैसी ही लगती है। सुन्दरी कहती है : "कोई गौतम बुद्ध से कहे कि कभी कमलताल के पास आकर इनसे भी वे निर्वाण और अमरत्व की बात कहें। ये चोंच से चोंच मिलाकर एकबार चकित दृष्टि से उनके ओर देखेंगे फिर काँपती हुई लहरों जिधर ले जायेंगी, उधर को तैर जायेंगे।"[2] इन शब्दों के द्वारा सुन्दरी अपने विश्वास और परस्पर संबंध का ही संकेत करती है। लहरें उन दोनों की परिस्थितियाँ हैं। इसे स्पष्ट करने वाले सुन्दरी के कथन है - "....परन्तु राजहंस आहत थे कम से कम एक उनमें अवश्य आहत था। क्या उनके पंखों में इतनी शक्ति रही होगी कि वे अपनी इच्छा से उड़कर कहीं चले जाते? फिर जिस ताल में इतने दिनों से थे, उसका अभ्यास, उसका आकर्षण क्या इतनी आसानी से छूट सकता था?"[3] यहाँ संकेतित आहत राजहंस नन्द का ही प्रतीक है।

---

1. गिरिश रस्ततोगी - मोहन राकेश और उनका नाटक - पृ. 71
2. मोहन राकेश - मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक - पृ. 135
3. वही - पृ. 174

दर्शन की दृष्टि से 'लहरों के राजहंस' का ऐतिहासिक वातावरण, मत्स्याकर आसन, मदिरा-कोष्ठ, श्रृंगार-कोष्ठ, पुरुष मूर्ति और स्त्री मूर्ति वाले दीपाधर, गवाक्ष साज सज्जा में कामोत्सव के स्पर्श आदि से युक्त वैभवपूर्ण रमणीय भव्य दृश्यबंध प्रस्तुत करता है। अंधेरे में नेपथ्य से सुनाई देता 'धर्मं शरणं गच्छामि' का स्वर तथा मंच पर रात उतरने के समय का आभास देती 'प्रकाश-योजना' अद्‌भुत प्रभाव डालती है। वह दर्शक-पाठक की कल्पना को बाँधकर वर्तमान से अतीत की ओर कुशलता से ले जाती है। कामोत्सव की असफलता से उत्पन्न निराशा में सुन्दरी किस तरह उत्तेजित होकर आवेशपूर्ण आक्रामक व्यवहार करती है उसका आभास नाटककार ने दूसरे अंक के दृश्यबंध के उपकरणों की अस्तव्यस्तता जैसे झूले में बिछावन अस्त-व्यस्त हैं, दो -एक ताकिए नीचे इधर-उधर पड़े हैं, चबूतरे पर तथा आसपास कुछ टूटी-फूटी फूलमालाएँ बिखरी हैं, एक मदिरा पात्र नीचे औधा पड़ा है; के माध्यम से व्यक्त की है। दृश्यबंध का यह रूप नन्द-सुन्दरी के पारस्परिक संबंधों के बीच होनेवाली उथल-पुथल को स्पष्ट कर देता है।

नाटककार की रंगमंचीय जानकारी का प्रभाव यह है कि मंच पर रखी गयी प्रत्येक वस्तु का पात्र-स्थिति के अनुकूल नाटकीय प्रयोग नाटक में नौ स्थानों पर किया गया है। पहले अंक के अंत में मैत्रेय के प्रस्थान के बाद नन्द का पुरुष दीपाधार की ओर एकटक देखना नन्द के अंतः करण को, उसकी कामना और विवशता को एक क्षण में उद्‌भाषित कर दिया है। नाटक का संपूर्ण दृश्य कार्य-व्यापार सुन्दरी के कक्ष में ही प्रस्तुत करके नाटककार ने स्थान और काल तथा कार्य की अन्विति को बनाए रखा है।

नाटक का आरंभ अंधकार से होता है, फिर तीनों अंकों में क्रमशः रात उतरने का समय, रात का अंतिम पहर, दीपाधर का प्रकाश, फिर प्रभात और रात्रि बीच का पहर कहकर प्रकाश व्यवस्था का स्थूल संकेत ही दिया है। 'ध्वनि' के विषय में नाटककार ने विस्तृत निर्देश दिए हैं। ध्वनियों में 'धर्मं शरणं गच्छामि', हंसों का स्वर, पंखों की फडफडाहट, पानी में पत्थर फेंकने के शब्द, हंसों का आहत क्रन्दन, बाहर से पैरों का शब्द, प्रभात की शंखध्वनि, हवा का शब्द, कबूतर की गुटरगूँ, इत्यादि का प्रभावपूर्ण प्रयोग हुआ है।

अनामिका, श्यामानन्द जालान, 21-23 अगस्त, 1966 को कलकत्ता में लगभग 2000 दर्शकों के समक्ष यह नाटक सर्वप्रथम मंचित हुआ। इसके उपरान्त अनेक शौकियाँ नाट्य दलों ने इसका उल्लेखनीय प्रदर्शन किए हैं। 'लहरों के राजहंस' को इस अंतिम रूप में लाने में राकेश का सतत परिश्रम रहा है और वह प्रयास व्यर्थ नहीं गया है। इस नाटक ने अपनी प्रभावशीलता के कारण राकेश की प्रतिष्ठा एक नाटककार के रूप में स्थायी कर दी। अपनी तमाम गंभीरता, साहित्यिकता, भाषा-संवाद संबंधी जीवन्तता और समस्या की रोचक प्रासंगिकता के बल पर यह 'हिन्दी नाटक की एक नई उपलब्धि' सिद्ध हुई।

मोहन राकेश का तीसरा नाटक 'आधे-अधूरे' समकालीन हिन्दी रंगमंच के लिए 'मील का पत्थर' माना जाता है। राकेश का प्रयत्न आज के मध्यवर्गीय जीवन में स्त्री-पुरुष संबंधों की विडम्बना, विषमता और त्रासदी का विश्लेषण-विवेचन करना रहा है। 'आधे-अधूरे' में पहली बार उन्होंने अपने कथ्य को समकालीन परिवेश चरित्र तथा जीवन को आज की जीवित भाषा में प्रभावशीलता के साथ

प्रस्तुत करने की सार्थक कोशिश की है। 'आधे-अधूरे' में पुरुष से हताश होकर संपूर्णता और संतोष की तलाश का काम राकेश ने स्त्री को सौंपा है। लेकिन यहाँ भी नतीजा वही है - बाहर और भीतर से जुड़ती टूटती सावित्री अंत तक उतनी ही अधूरी और असंतुष्ट बनी रहती है।

'आधे-अधूरे' में नाटककार ने रोजमर्रा की जिन्दगी में इस्तेमाल होनेवाली आम और बहुत साधारण चीज़ों को ही गहरी अर्थ काया देकर प्रतीक की गरिमा प्रदान कर दिया है। दृश्यबंध में प्रयुक्त सभी टूटी-अधटूटी और घिसी-पिटी चीज़ें इस घर की प्रत्यक्ष आर्थिक स्थिति का रेखांकन करने के साथ-साथ इस परिवार के सदस्यों के पारस्परिक विघटित संबंधों का परोक्ष संकेत भी देती है। इसी प्रकार तीन दरवाज़े तीन तरफ से कमरे में झाँकते हैं। कमरे को इस घर के जीवन और दरवाज़ों को उसमें ताक झाँक करने वाले सिंघानिया, जगमोहन, तथा जुनेजा का रूप दिया जा सकता है। प्रथम प्रवेश के साथ ही नाटककार स्त्री के व्यक्तित्व, संघर्ष और अंतर्द्वन्द्व की झलक यह कहकर दिखा देता है कि - स्त्री कई कुछ सँभाले बाहर से आती है। कई कुछ में कुछ घर का, कुछ दफ्तर का, कुछ अपना, चेहरे पर दिन भर के काम की थकान है और इतनी चीज़ों के साथ चलकर आने की उलझन। पारिवारिक, बाहरी और व्यक्तिगत जीवन के असामंजस्यपूर्ण स्थिति में तालमेल न बैठा पाना ही वास्तव में सावित्री की त्रासदी का मूल कारण है जिसका उल्लेख जुनेजा नाटक के अंत में यह कहकर करता है। "...तुम्हारे लिए जीने का मतलब रहा है कितना कुछ एक साथ होकर, कितना कुछ एक साथ पाकर और कितना

---

1. मोहन राकेश - मोहन राकेश का संपूर्ण नाटक - पृ. 320

कुछ एक साथ ओढ़कर जीना।"[1] यह सावित्री के चरित्र की ओर इंकित करते हैं। एक मध्यवर्गीय महत्वाकांक्षी स्त्री के चरित्र का उद्‌घाटन इन शब्दों में हुआ है। वस्तुतः सावित्री का चरित्र इन दोनों सीमाओं को एक साथ अपने में समाहित किये हुए हैं।

जगमोहन के प्रवेश से पूर्व सावित्री द्वारा बाहर जाने के लिए तैयार होते समय गले की माला को उँगली में लपेटते हुए झटका लगने से माला टूट जाती है। परेशान होकर वह माला को उतार देती है और जाकर कबर्ड से दूसरी माला निकाल लेती है। यहाँ 'माला' उसकी वर्तमान स्थिति का प्रतीक बन जाता है। इसके मोती 'घर' के एक-एक सदस्य हैं, जिन्हें अपनी व्यवस्था के धागे स्त्री ने एक साथ बाँध रखा है। ऐसे ही सावित्री द्वारा टटोलने और ढूँढने के बावजूद एक चप्पल का दूसरा पैर न मिलने पर सब जूतों-चप्पलों को ठोकरें लगाकर पीछे हटा देना भी पारिवारिक सामंजस्य की असफलता पर झुँझ लाहट की कोशिश का संकेत देता है। सावित्री को अपनी पसन्द और अपने पाँव के सही नाप की दूसरी चप्पल का न मिलना ही उसके जीवन की विडम्बना की ओर सीधा इशारा है। अतः राकेश ने इस नाटक में धूल, हवा, फाइल, रबड़-स्टैंप, जैसे अनेक शब्दों और मामूली सी चीज़ों को भी अतिरिक्त एवं नया अर्थ देकर रचनात्मक रूप में प्रयोग किया है।

"कथ्य की दृश्य-अभिव्यक्ति के लिए उल्लिखित जीवन-स्थिति के अभिनय, रंग-प्रतीकों के साभिप्राय प्रयोगों, बिम्ब-विधानों के अलावा नाटककार ने नितान्त भौतिक धरातल पर दृश्यमंच की जो कल्पना की है, वह भी नाटक के अन्तःस्थ रंगमंच को मूर्त अभिव्यक्ति दे सकने में समर्थ और उपयोगी है। दृश्य-विधान का

सोफासेट, टेबुल, कबर्ड नाटककार की दृष्टि में कमरे की सीमाओं के अनुसार किसी तरह अपने लिए जगह बनाये है (महेन्द्र और सावित्री की तरह), कमरे की एक चीज़ का रिश्ता दूसरी से टूट चुका है (महेन्द्र और सावित्री की तरह) फिर भी चीज़ें किसी समझौते के तहत रखी गई प्रतीत होती है। घिसे-फटे परदे और मेज़पोश - पलंगपोश साबित करते हैं मानो सावित्री और महेन्द्रनाथ की तरह उनका न होना होने से बेहतर होता।"[1] इस पूरे नाट की रंगमंचीय योजना का सही एवं सटीक मूल्यांकन डॉ. राय ने यहाँ प्रस्तुत की है।

विविध प्रकार की ध्वनियों का अर्थपूर्ण नाटकीय प्रयोग भी नाटककार ने किया है। ध्वनियाँ जैसे अशोक की कैंची की ध्वनि कपप्लैटों की या महेन्द्र के फाइल झटकने की आवाज़ें आदि जो एक ऐसा वातावरण निर्मित करती है जिससे चरित्रों की आंतरिकता अधिक मुखर हो उठी है। दृश्यबंध और मंच उपकरणों का प्रतीकात्मक प्रयोग, संकलन त्रय का निर्वाह और स्थितियों एवं मनःस्थितियों को रेखांकित करने के उद्देश्य से प्रकाश एवं ध्वनि का नाटकीय प्रयोग इस नाटक के रंग-शिल्प और इसकी संरचना की प्रमुख विशेषताएँ है। इसके साथ ही वेशभूषा संबंधी निर्देश भी बहुत संगत एवं प्रभावी है।

इस प्रकार 'आधे-अधूरे' नाटक शैली, शिल्प और कथ्य की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी नाटकों में एक ऐसा महत्त्वपूर्ण नाटक साबित होता है जो भविष्य के लिए प्रेरणादायक है। सूक्ष्म रंगमंच की यथार्थ एवं मूर्त अभिव्यक्ति, रंगोपकरणों का प्रतीकात्मक व्याख्या एवं सार्थक उपयोग, राकेश के नाट्यालेखन की इन

---

1. डॉ. नरनारायण राय - रंगशिल्पि मोहन राकेश - पृ. 105

खूबियों का अंकन इस एक नाटक में बखूबी हुआ है। यह नाक आधुनिक मध्यवर्गीय शहरी जीवन के प्रामाणिक अनुभव को मुखरित करता है। "इस नाटक में रंगमंचीय जागरूकता और कलात्मक गंभीरता मौजूद है। इस नाटक में प्रयुक्त नाट्यशास्त्र समस्त आधुनिक हिन्दी-नाटकों में विशिष्ट है।"[1] स्पष्टतः यह नाटक परम्परा और प्रयोग के सर्जनात्मक उपयोग से जीवन्त भाषा संवाद नये मुहावरे और अभिनव रंग-शिल्प में प्रभावी अभिव्यक्ति देने वाला हिन्दी का पहला महत्त्वपूर्ण नाटक है। इसने भारतीय रंगमंच के व्यापक परिदृश्य पर हिन्दी नाटक को प्रतिष्ठित तथा आधुनिक हिन्दी रंगान्दोलन की गति को बहुमुखी बनाने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

'पैर तले की ज़मीन' मोहन राकेश का अंतिम नाटक है। इस नाटक के संबंध में कुछ विवाद भी छिड़े थे। इसका कारण यह था कि इसका पहला अनुवर्तन तो स्वयं राकेश का पूरा किया हुआ है, जबकि दूसरा अनुवर्तन उनके नोट्स, दृश्य-बंध के रेखाचित्रों और इधर-उधर घसीटते हुए आधे-अधूरे संवादों के आधार पर उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके अभिन्न मित्र कथाकार कमलेश्वर द्वारा लिखा गया है। इस कारण कुछ समीक्षक गण इसे राकेश का मानने में आपत्ति उठाते हैं। यूँ तो अनिता राकेश ने इस नाटक की भूमिका में इसका स्पष्ट जवाब दे दिया है, फिर भी यह विवाद का विषय ही बना रहा।

".....पाश्चात्य चिन्तक विश्वयुद्धों की भीषण विभीषिका के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि व्यक्ति की वास्तविकता और उसके अस्तित्व की मूल पहचान

---

1. डॉ. नरनारायण राय - रंगशिल्पी मोहन राकेश - पृ. 109

संकट के समय ही होती है। आसन्न मृत्यु से बड़ा कोई संकट नहीं हो सकता। इसलिए राकेश अपने इस नाटक में व्यक्ति के पैर तले की ज़मीन को तलाशने के लिए भयानक बाढ़ में प्रतिकूल डूब रहे कश्मीर के एक क्लब में फँसे विभिन्न वर्गों, उम्रों और मानसिकताओं के स्त्री पुरुषों के व्यक्तित्वों और संबंधों का नाटक प्रस्तुत करते हैं।"[1] तनेजाजी ने इस नाटक की अर्थपूर्ण समीक्षा करते हुए इसके दार्शनिक धरातल को स्पष्ट किया है। आसन्न मृत्यु के सामने इस नाटक का हर एक पात्र अपने ढ़ंग से पलायन का प्रयास करता है। कोई शराब के माध्यम से तो कोई चेकबुक, ताश या संगीत के माध्यम से लेकिन जब पलायन संभव नहीं हो पाता तब किस तरह उसके तमाम मुखौटे अपने आप उतरने लगते हैं और व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार की स्थिति में पहुँचकर अपने असली चेहरे पहचानता और स्वीकारता है।

अन्य नाटकों के समान इस नाटक में भी प्रतीकात्मकता का विशेष महत्त्व है। 'पानी' आम तौर पर जन्म और जीवन का प्रतीक है किन्तु यहाँ नाटककार ने उसे बाढ़ और वर्षा से जोड़कर विध्वंसक बना दिया है और आसन्न मृत्यु के रूप में प्रस्तुत किया है। 'डेड टेलीफोन' संवाद और संपर्क से रहित 'संप्रेषणहीनता' का प्रतीक है तो टूटता हुआ पुल 'संबंधों की दरार और रिश्तों की टूटन बिखरन का। 'अंधेरा', निराशा और भविष्यहीनता को द्योतित करता है और 'घड़ी का खो जाना' काल निरपेक्ष क्षण को। 'ज़मीन का कटना' पारस्परिक संबंधों के विघटन का प्रतीक है।

---

1. डॉ. जयदेव तनेजा - मोहन राकेश : रंग शिल्प और प्रदर्शन - पृ. 327

राकेश अपने नाटकों में मंचीय उपकरणों का भी प्रतीकात्मक और गंभीर अर्थगर्भी प्रयोग करते रहे हैं। आयूब का एक संवाद दृष्टव्य है - "…. (टेलीफोन के पास जाकर उसके रिसीवर को हल्के से छेड़ता हुआ) क्या चाहता हूँ? किसी से बात करना? पर किसी से बात करना ही तो नहीं चाहता? (टेलीफोन के पास से हटकर) तो क्या चाहता हूँ?"[1] इसमें स्पष्टतः टेलीफोन संवाद और संप्रेषण का प्रतीक है और बात करना चाहने पर फोन को छूना-छेड़ना और न चाहने पर उससे दूर हट जाने की क्रिया उपरोक्त संवाद और टेलीफोन को अतिरिक्त सार्थकता प्रदान करती है। इस नाटक के संबंध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि राकेश के पहले नाटकों की तरह मंचीय उपकरणों की भरमार इसमें नहीं है।

इस नाटक के रंग-शिल्प के विषय में राकेश ने काफी विचार, चिन्तन-मनन किया था। इस नाटक के कथ्य को राकेश प्रकाश और अंधकार के रूप में भी गहराई से परिभाषित और संप्रेषित करने की बात सोच रहे थे। वे चाहते थे, "मंच का थोड़ा सा ही हिस्सा दिखाया जाए और पूरा मंच कभी न प्रकट हो तथा प्रकाश का क्षेत्र एक-एक चरण में कम होता जाता है। अंधकार का क्षेत्र एक-एक चरण में बढ़ता जाता है। यह क्षेत्र निश्चित नहीं है और विंग्स समेत पूरे क्षेत्र को घेरता है।"[2] इसके अतिरिक्त वे प्रकाश-व्यवस्था की परिकल्पना कर रहे थे - "रेखा के धुँधला पड़ने के साथ-साथ उपकरण गायब हो जाए। …..प्रकाश के क्षेत्र से द्वीप का आभास मिलना चाहिए।"[3] परन्दु इन विस्तृत नोट्स का कोई रचनात्मक

---

1. मोहन राकेश - मोहन राकेश का संपूर्ण नाटक - पृ. 394
2. मोहन राकेश - नटरंग (अक्तूबर-दिसंबर 1972) - पृ. 8
3. वही - पृ. 8

प्रतिफल नाटक के प्रकाशित रूप में दिखाई नहीं देता। अपने पहले नाटकों की तरह राकेश ने इस नाटक में भी प्रकाश और ध्वनि संबंधी विस्तृत एवं व्यापक रंग-निर्देश दिए हैं। लेकिन इस नाटक में इसकी अपेक्षा अभिनय संबंधी निर्देशों पर अधिक बल दिया गया है। रंगमंच की सीमाओं के और अयथार्थवादी रंग-शिल्प के कारण इस नाटक के मंचन में निर्देशकों को अनेक प्रकार की व्यावहारिक परेशानियों का सामना करना पड़ा है। प्रथम तीन नाटकों की तुलना में इस नाटक में कथ्य के बिखराव, चरित्रों की असंगति और अन्विति के अभाव को परिलक्षित किया जाता है जिसके कारण यह नाटक कोई उल्लेखनीय रचना नहीं बन पाई। संभवतः इसी कारण देश भर में अब तक इस नाटक के केवल तीन ही प्रमुख प्रदर्शन हुए हैं और वह बहुत सफल भी सिद्ध नहीं हुआ।

मोहन राकेश ने व्यापक स्तर पर हिन्दी नाट्य लेखन को प्रभावित किया है। राकेश के नाटकों के महत्त्व तथा उनके योगदान का कुछ अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि आधुनिक हिन्दी रंगमंच का शायद ही कोई जागरूक और सक्रिय नाट्य दल तथा महत्त्वपूर्ण नाट्य निर्देशक होगा जिसने राकेश का कोई न कोई नाटक न प्रस्तुत किया हो। संवेदनशून्य पड़े हिन्दी रंगमंच को नयी चेतना से भरकर सही अर्थों और संदर्भों में पुनः प्रतिष्ठित करने का श्रेय राकेश को है। अपने रंगप्रयोगों के कारण राकेश का नाट्य व्यक्तित्व आज भी आधुनिक भारतीय रंगपरिदृश्य में एक कालजयी कीर्ति स्तंभ के समान अटल खड़ा है।

निष्कर्ष

प्रदर्शन नाटक का सनातन धर्म है। इसका अनुपालन रंगमंच पर ही पूर्ण होता है। रंगमंच से अलग नाटक केवल एक संवादात्मक कला है। रंगमंच की अपनी असीम व्यापकता और गहराई है। इसी व्यापकता की समझ के बल पर नाटककार नाट्य सृजन करता है। नाटक की रंगमंचीयता में ही उसकी सफलता निहित है। वस्तुतः रंगमंच नाटक से बाहर होता ही नहीं। हर नाटक का रंगमंच नाटक के साथ ही जन्म लेता है। इन दोनों का अभिन्न संबंध है।

प्रसाद और राकेश के नाटकों के परिप्रेक्ष्य में इस संबंध का विश्लेषण किया गया है। दोनों नाटककारों के रंगमंचीय अवधारणा और उसके निष्पादन पर यहाँ विचार किया गया है। दो भिन्न कालखंडों का प्रतिनिधित्व करनेवाले नाटककार है - प्रसाद और राकेश। प्रसाद का आगमन हिन्दी रंगमंच की शैशवावस्था में हुआ था जब भारत में पारसी रंगमंच का आधिपत्य छाया हुआ था। इस काल में रचित होने के कारण प्रसाद के नाटकों पर संस्कृत के शास्त्रीय तत्त्वों, पारसी रंगमंच के तत्त्वों और पाश्चात्य रंगपद्धति का समान प्रभाव देखा जा सकता है। उस काल के सीमित रंगमंच में उनका प्रदर्शन असंभव कार्य था लेकिन यांत्रिक विकास के इस काल में यह सर्वथा संभव है और यह साबित हो चुका है।

राकेश का आविर्भाव स्वातंत्र्योत्तर काल में हुआ जब रंगमंच पर नवीन प्रयोग का आरंभ हो चला था। अपने समय के वे अकेले नाटककार है जिन्होंने नाट्य लेखन में कलात्मक रंग तत्त्वों की सही तलाश की है। उनका सारा नाट्य

लेखन गहरे रंगानुभव से जुड़ा है जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण है उनके सभी नाटकों का असंख्य प्रदर्शन। वस्तुतः दोनों ही नाटककारों ने अपनी मौलिकता का परिचय देते हुए हिन्दी रंगमंच को नया मोड़ देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है जो नाट्य साहित्य के इतिहास में सदा के लिए अमर और प्रासंगिक रहेगा।

प्रसाद और राकेश के नाटकों के विभिन्न नाट्य मंडलियों द्वारा प्रदर्शन कुछ झलकियाँ

ओम शिवपुरी निर्देशित रा.ना.वि. की प्रस्तुति

ओम शिवपुरी (नंद) और सुधा शर्मा (सुंदरी)

ओम शिवपुरी (नंद) और सविता बजाज (अलका)

चित्रपट कि 'सलाखें' अभिनेत्री माला सिन्हा

बेबाकाल संतोष सिंह (अ) सुधा सिंह (अ) (मिलने) डा. सिंह

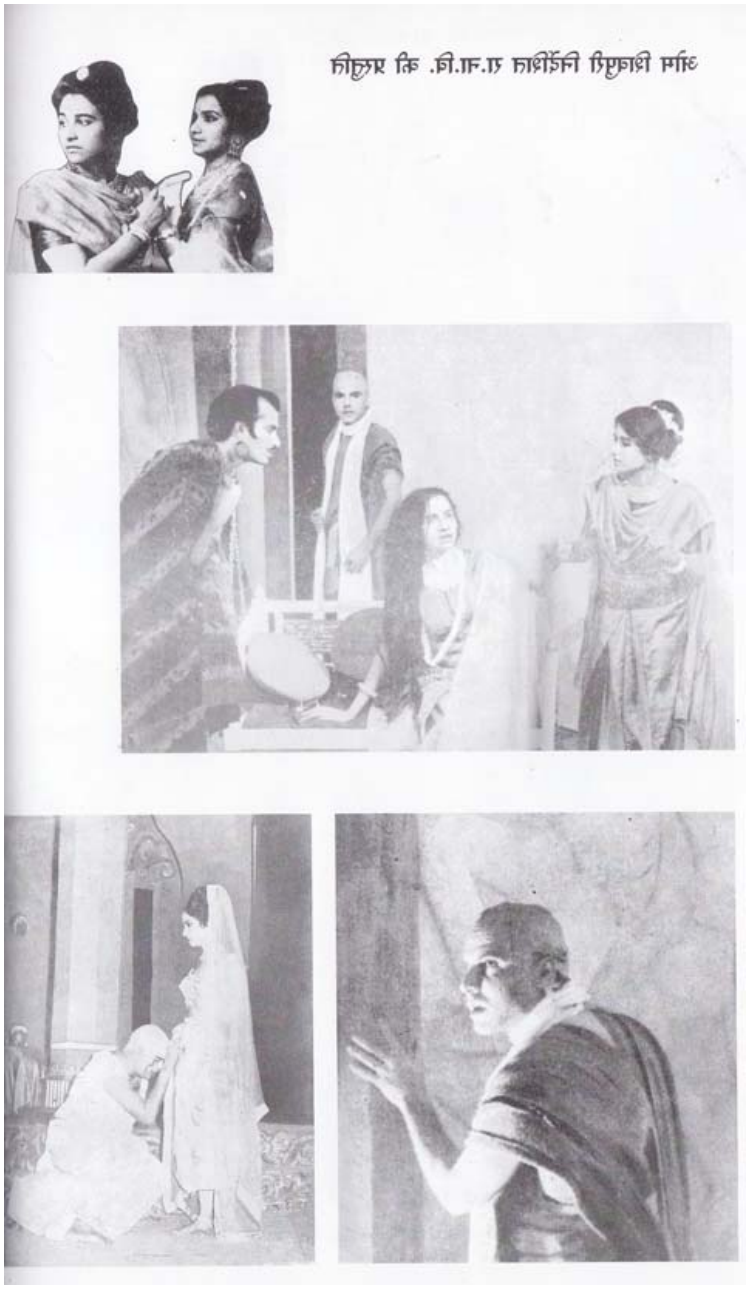

চিত্র ৪৮ : দেবিকা রানী ও মীনা কুমারী

চিত্র ৪৯ : দেবিকা রানী ও মীনা কুমারী

(ডিসেম্বর) মাসিক মর্মবাণী পত্রিকা (১৯৫) বিভাগ চন্দ্রিকা

চাঁচড়া কিং (চাকলাদার) 'নরসীমাদ' চাঁচড়ার নাটোর চলচ্চিত্র

(ডিসেম্বর) মাসিক মর্মবাণী পত্রিকা (১৯৫) নাটোর চলচ্চিত্র

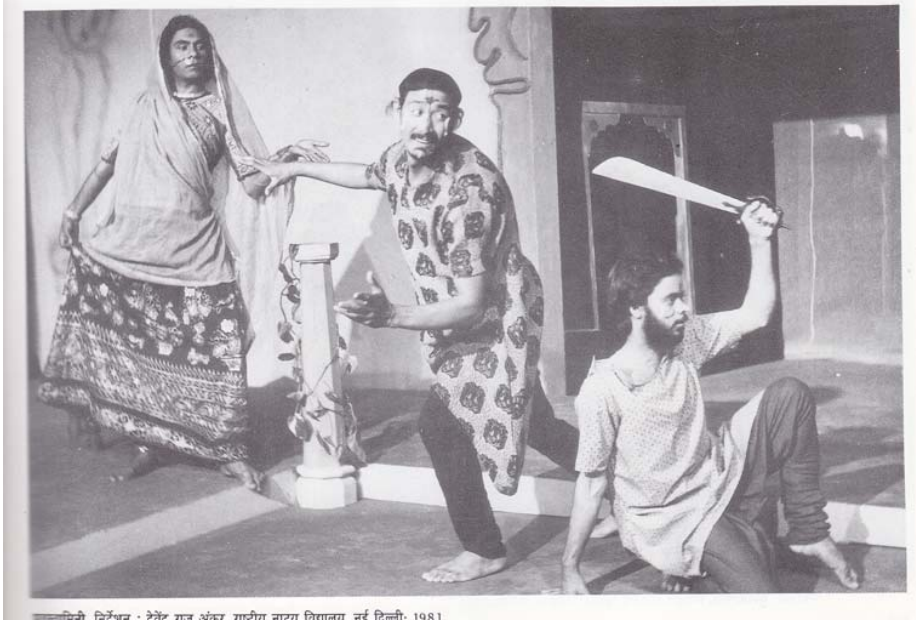

[illegible] निर्देशन : देवेंद्र राज अंकुर, भारतीय बाल्य विद्यालय, नई दिल्ली: 1981

पाँचवाँ अध्याय

जयशंकर प्रसाद और मोहन राकेश के नाटकों में अभिव्यक्त नाट्य चिन्तन का तुलनात्मक अध्ययन

पाँचवाँ अध्याय

प्रसाद और राकेश के नाटकों में अभिव्यक्त नाट्य चिन्तन का तुलनात्मक अनुशीलन

सारांश : उपर्युक्त अध्याय में गत पृष्ठों में चर्चित नाट्य पद्धतियों के आधार पर प्रसाद और राकेश के नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। प्रसाद और राकेश ने नाटक के पूर्वी एवं पश्चिमी परम्परा से प्रेरणा ग्रहण की है। इसी प्रेरणा से उन्होंने तत्कालीन जीवन संदर्भों का यथार्थ चित्रण अपने नाटकों में प्रस्तुत किए। दोनों ने ही आख्यान रूप में इतिहास को चुना और कल्पना का मिश्रण कर उसे काल्पनिक बनाया। द्वन्द्व और संघर्ष को दोनों ने अपनी नाट्य कृतियों में सशक्त रूप से उभारा है। शिल्प पक्ष पर संस्कृत निष्ठ भाषा, स्वगत कथन, सारगर्भित शैली का प्रयोग दोनों में मिलता है। साम्य पक्ष के रहते हुए भी इनमें काफी वैषम्य भी दृष्टव्य है। अंक विभाजन, दृश्य योजना, संकलन त्रय, पात्र-योजना, रंग-संकेत आदि पक्षों में इनमें असमानता दृष्टव्य है। दोनों ने ही अपने नाटकों के माध्यम से अपने समय के राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन से जुड़े प्रश्नों एवं समस्याओं को दर्शाते हुए उसकी प्रासंगिकता को कायम रखने की कोशिश की है जिसके कारण ही हिन्दी नाट्य जगत में उनका स्थान आज भी महफूस है।

पाँचवाँ अध्याय
जयशंकर प्रसाद और मोहन राकेश के नाटकों में अभिव्यक्त नाट्य चिन्तन का तुलनात्मक अध्ययन

प्रस्तावना

साहित्य परिवेश के प्रति लेखक की प्रतिक्रिया है क्योंकि परिवेश लेखक के भीतर युग-चेतना को जगाता है और लेखक उस चेतना को साहित्य रूप देता है। परिवेश के प्रति लेखक की प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति ही रचना है। हर संवेदनशील रचनाकार अपने परिवेश तथा अपनी परम्परा से संबद्ध होकर ही सृजन कार्य में संलग्न रहता है। अपने परिवेश की गति-विधियों, उसकी आशा-निराशा, सफलता-असफलता को तथा अपने भोगो हुए सत्य को ही अपनी रचना के विषय के रूप में सृजनशील लेखक स्वीकार करता है। कोई भी सृजनशील लेखक अपने इर्द-गिर्द के परिवेश से अपने समय के जीवन्त सत्य से संबद्ध होकर ही रचना करता है। इसीलिए कहा जाता है कि लेखक और परिवेश का संबंध अविच्छिन्न है।

आज से सम्बद्ध होने का अर्थ परम्परा को त्याग देना नहीं है। परम्परा हर लेखक की प्रेरणा शक्ति है। इसीलिए रचनाकार अपनी परम्परा और रचना-परिवेश के प्रति तटस्थ नहीं रह सकता। परम्परा से प्रेरणा ग्रहण करते हुए अपने समय के परिवेश को उसके साथ जोड़कर ही अपनी रचना को मूर्त्त रूप प्रदान करता है। यह जुड़ाव रचना को विस्तृत पहचान प्रदान करता है और रचनाकार की प्रतिष्ठा

विस्तृत फलक पर होती है। जयशंकर प्रसाद और मोहन राकेश के नाम हिन्दी नाट्य जगत में इसी ढ़ंग से विस्तृत फलक पर प्रतिष्ठित है।

प्रसाद और राकेश-सृजन की पृष्ठभूमि

हिन्दी नाट्य साहित्य में नये युग का सूत्रपात करने का श्रेय जयशंकर प्रसाद को है। वे युगान्तकारी नाटककार थे। उन्होंने अपने भावपूर्ण ऐतिहासिक नाटकों में राष्ट्रीय जागृति, नवीन आदर्श एवं भारतीय इतिहास के प्रति अगाध श्रद्धा के भाव जगाए। प्रसाद युग राष्ट्रीय आंदोलन का, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक दृष्टि से उथल-पुथल का, क्रान्ति का युग था। प्रसाद के समय में देश विदेशियों द्वारा आक्रांत और भारतीय जनमानस अपनी संस्कृति की उपेक्षा करके विदेशी सभ्यता से अत्यधिक प्रभावित हो रहे थे, बाह्याडंबर और अंग्रेज़ी भाषा तथा सभ्यता पर मुग्ध होकर वे भारतीय आदर्शों मातृभाषा और सभ्यता को हेय समझने लगे थे। दीर्घकालीन दासता के कारण भारतीय जाति अपनी पहचान खो चुकी थी। पश्चिमी संस्कृति के व्यामोह में जकड़े भारतीयों में हीनता की भावना बद्धमूल होती जा रही थी। इस हीनता की भावना को जड़ से उखाड़ने और भारतीय संस्कृति की पुनः प्रतिष्ठा के लिए उन्होंने भारत के प्राचीन इतिहास का गहन अध्ययन किया। उनका विश्वास था कि भारत का अतीत ही इन भारतीयों को अपने गौरव, सभ्यता-संस्कृति और आदर्शों का, मानवता के दर्शन करा सकते हैं, उन्हें पश्चिमी सभ्यता के खोखलेपन से हटा सकता है अतः उन्होंने इतिहास को नाट्याभिव्यक्ति का मुख्य माध्यम बनाया। ऐसा इतिहास जिसमें भारतीयों के वैभव, वीरत्व और पराक्रम के अपूर्व उदाहरण थे और विदेशियों के पराभव की गाथा थी। इन ऐतिहासिक

कथानकों द्वारा धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, सुन्दर-असुन्दर, हर्ष-विषाद, विजय-पराजय से युक्त मानव जीवन का चिरन्तन स्वरूप प्रस्तुत किया।

प्रसाद के नाटक हिन्दी नाट्य साहित्य में विषय तथा शिल्प की दृष्टि से नवीनता और प्रौढ़ता का संचार करते हैं। उन्होंने शास्त्रीय नियमों को प्रतिपादित करने वाली संस्कृत नाट्य शिल्प की धारा तथा शेक्सपीयर की स्वच्छंदतावादी धारा को अपनाकर अपने नाटक के कथ्य और शिल्प पक्ष का गढ़न किया। प्राचीन काल से चली आ रही शास्त्रीय धारा से सम्यक रूप से नवीन धारा को समन्वित करने का श्रेय प्रसाद को है। यही उनकी समन्वयात्मक शैली का प्रमाण है। आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी का इस संबंध में यह कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है - "प्रसाद जी ने नाट्य क्षेत्र में नाटक को नए चरित्र, नई घटनाएँ, नया ऐतिहासिक, देश-काल, नया आलाप-संलाप, संक्षेप में नया समारंभ दिया। हिन्दी नाटकों में नया युग प्रवर्तन होने लगा।"[1] वस्तुतः नवीनता के मार्ग को अपनाते हुए उन्होंने इतिहास के पृष्ठ खोलकर अप्रत्यक्ष रूप में ही उस युग की समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया, राष्ट्रीय जागरण का ही नहीं, मानवतावाद का शाश्वत आदर्श प्रसारित किया जो पाठक-दर्शक समूह पर चिरस्थायी प्रभाव छोड़ने में सक्षम था।

मानवतावाद प्रसाद युग की एक बहुत बड़ी उपलब्धि थी। प्रसाद ने अपने नाटकों में इसका निदर्शन करने के साथ देश-प्रेम और राष्ट्रीयता की सीमा का विस्तार कर विराट भावना के साथ मानवता को व्यापक अर्थ भी प्रदान किया। इस

---

1. आ. नन्द दुलारे वाजपेयी - नया साहित्य : नये प्रश्न - पृ. 156

युग में गाँधी और रवीन्द्र के पूरक व्यक्तित्व ने, पाश्चात्य भौतिक तथा यांत्रिक जीवन की कटुतापूर्ण प्रतिक्रिया ने तथा रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द और रामतीर्थ के अध्यात्मिक दर्शन ने प्रसाद तथा उनके सहयोगियों के लिए पुनरुत्थान की भावना के साथ मानवता का पथ प्रशस्त किया। उन्होंने गाँधी के सत्य-अहिंसा के प्रयोगों, रवीन्द्र के विश्व-बन्धुत्व के भावों तथा विवेकानन्द आदि के धर्म-समन्वय के विचारों से प्रेररणा ग्रहण कर नवीन विश्व-मानवता और विश्व-मैत्री के स्वप्न सँजोए।

प्रसाद के नाटकों में मानवतावाद का स्वर सर्वोच्च शिखर पर है। उनके प्रारंभिक नाटकों विशाख और अजातशत्रु में इसका समारंभ होता है और चन्द्रगुप्त तथा ध्रुवस्वामिनी में यह अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। 'विशाख' में मानव मात्र से प्रेरित होकर महात्मा प्रेमानन्द अपने को 'शाश्वत संघ का अनुयायी' मानता है और 'प्रेम' की सत्ता जगाने' में ही अपनी कर्त्तव्य निष्ठा का साक्षात्कार करता है। नाटक में सारा आक्रोश और संतोष ही मानवता की सिद्धि के लिए क्रियाशील दिखाई देता है। 'अजातशत्रु' में करुणा के समन्वय से मानवतावादी दृष्टि का रंग और गहरा हो गया है। प्रारंभ में ही लुब्धक जैसा सामान्य क्रूर यात्रा मृगशावक की करुण दृष्टि में मानवतावाद का पाठ पढ़ता है और अजातशत्रु के भीषण कोप से अविचलित होकर भी उसे उसके चित्रक की हिंस्र क्रीड़ा का उपकरण नहीं बनने देना चाहता। यह मानवता कुल और जाति तथा पद और स्थिति के विभेद में भी अपनी एक-सी मर्यादा का निर्वाह करती है।

'जनमेजय का नागयज्ञ' की शीला के शब्दों में "जो मनुष्य अपने को मनुष्य से कुछ अधिक समझते हैं उनसे मैं बहुत डरती हूँ"[1] यही भावना प्रकट हुई है और आत्मसाक्षात्कार के ऐसे ही क्षणों में बिम्बिसार 'सम्राट न होकर किसी विनम्र लता के कोमल किलयों के झुरमुट में एक अधखिला फूल' होने की कामना करता है। वह सम्राट कहलाने की अपेक्षा मनुष्य के नाम से पुकारा जाना अधिक पसंद करता है। इसी प्रकार 'चन्द्रगुप्त' में अलका जब गांधार - नरेश को 'पिता' की अपेक्षा 'महाराज' कहकर पुकारती है तो उसका राजा पिता उसे पिता कहकर सम्बोधित करने का आग्रह करता है। ध्रुवस्वामिनी की स्थिति भी ऐसी ही है। जब उसे रामगुप्त महादेवी होने की बात कहता है तो वह तीव्र स्वरों में उसका प्रतिवाद करती है ; "मैं मनुष्य की दी हुई उपाधि लौटा देती हूँ।"[2] सामान्य मानव की मानवता के प्रति यह विश्वास और शक्तिमानों के प्रति आशंका का यह भाव प्रसाद के नाटकों में युगीन परिस्थितियों का ही परिणाम है। फिर भी प्रसाद ने मानवता का अधिकार वर्गविशेष को न देकर संपूर्ण मानव जाति को प्रदान किया है।

प्रसाद के सभी प्रमुख नाटकों में ऐसे पात्रों का आधिक्य है जो मानवता के लिए संकीर्ण रुढ़ियों और प्राचीनता से पुष्ट संस्कारों के विरुद्ध उठ खड़े होते हैं। विश्व-मानवता और विश्व-मैत्री उनका मुख्य सिद्धान्त है। 'विशाख' में प्रेमानन्द, 'जनमेजय का नागयज्ञ' में व्यास, आस्तिक और सरमा, 'राज्यश्री' में दिवाकरमित्र, सुएनच्वांग तथा राज्यश्री, 'अजातशत्रु' में गौतम, वासवी, पद्मावती और मल्लिका,

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी - पृ. 321
2. वही - पृ. 779

'चन्द्रगुप्त' में दांड्यायन और ध्रुवस्वामिनी में आचार्य मिहिरदेव सही अर्थों में इसी भावना के प्रतीक हैं। इस भावना की विजय उदात्त पात्रों पर ही नहीं, वरन् मानवता को युद्ध की विभीषिका से आतंकित कर देने वाले सिकंदर पर भी होती है : "धन्य है आप, मैं तलवार खींचे हुए भारत आया, हृदय देकर जाता हूँ। विस्मय-विमुग्ध हूँ। जिनसे खड्ग परीक्षा हुई थी, युद्ध में जिनसे तलवारें मिली थीं, उनसे हाथ मिलाकर जाना चाहता हूँ।"[1] 'जनमेजय का नागयज्ञ' में हृदय के अतिवाद से वशीभूत दो क्रुद्ध जातियों में मैत्री स्थापित की गई है। 'अजातशत्रु' में वासवी गृहस्थ की मानवता के दर्शन कराती है और गौतम बुद्ध वाक्-संयम को ही नहीं, कर्म और व्यवहार के संयम को भी विश्व-मैत्री की पहली सीढ़ी मानते हैं : "यदि एक भी रोते हुए हृदय को तुमने हँसा दिया तो सहस्रों स्वर्ग तुम्हारे अंतर में विकसित होंगे। फिर.... विश्वमैत्री हो जाएगी। विश्वभर अपना कुटुम्ब दिखाई देगा।"[2]

प्रसाद के नाटकों में मानवता केवल एक ऊपर से थोपा हुआ तत्त्व नहीं है। वस्तुतः मानवता उनमें अपूर्ण मानवता के बीच से जन्म लेती है। कहीं भी प्रसाद ने जीवन के इस कटु यथार्थ को अस्वीकार नहीं किया है। विश्व में हत्या, संघर्ष, षड्यंत्र, राग, द्वेष, उत्थान, पतन, युद्ध, मैत्री सबको उन्होंने सहज भाव से स्वीकार किया है। वस्तुतः मानवता की रक्षा के लिए किये गए युद्ध उनके नाटकों के प्रिय विषय हैं। एक तो स्वयं अपने जीवनकाल में ही साम्राज्यवादी संहारक युद्ध देख चुके थे, इसके अतिरिक्त एक युद्ध उनकी आँखों के सामने ही देश की स्वतंत्रता के

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक - पृ. 689
2. वही - पृ. 281

लिए लड़ा जा रहा था। प्रसाद की दृष्टि में दोनों के दो विभिन्न चित्र थे। एक का प्रतीक सिकंदर और शक-हूण जाति का आक्रमण है और दूसरे का प्रतीक उनके विरुद्ध लोहा लेने वाली शक्ति, जिसके वाहक चन्द्रगुप्त, चाणक्य, स्कन्दगुप्त, बंधुवर्मा आदि है। इसी आधार पर वीर और वीरता के लक्षण दोनों के लिए अलग हो जाते हैं। ऐसे संघर्षशील क्षणों में 'क्रान्ति का विराट् वर्गीकरण' होता है, मानवता विराट् तत्व के दर्शन कराती है और व्यक्ति के आत्मप्रसार में सहायक होती है जिससे सर्वभूतहित की कामना अपना लक्ष्य प्राप्त कर पाती है। यहीं मानवता जीवन के युद्ध में विजयी होती है। प्रसाद के नाटकों में मनुष्य हार या जीत सकता है किन्तु मानवता सदा विजयी होकर आई है।

प्रसाद के नाटक बीसवीं सदी के भारतीय रचनाकार की उस भीतरी हलचल को सामने लाते हैं जो अपने समय के दबावों को सहती हुई पहचान के लिए रास्ता तलाश रही थी। प्रसाद ने औपनिवेशिक सीमाओं से कुंठित भारतीय परिवेश में अपनी संस्कृति के प्रति दर्शकों पाठकों के लगाव को जगाना चाहा है। अंग्रेज़ शासकों ने भारतीयों के मनोबल को तोड़ने के लिए उन्हें उनकी सांस्कृतिक चेतना से दूर रखने और उसे विकृत करने के लिए तरह-तरह के प्रयास किए थे। इसलिए प्रसाद अतीत की गौरवपूर्ण परम्पराओं के चित्रण द्वारा उनकी इस निष्क्रियता को दूर करते हुए एक नई राष्ट्रीय चेतना का प्रसार करने के अभिलाषी थे।

प्रयोगधर्मी नाट्य रचनाकार मोहन राकेश का हिन्दी नाट्य जगत में पदार्पण स्वातंत्र्योत्तर काल में हुआ। "अनुभूति परक रचनाकार किसी भी स्थिति का मौन साक्षी कभी नहीं रह सकता। वह अपनी अनुभूति को अनुभव की ईमानदारी के

धरातल पर प्रस्तुत करता है। अनुभूति के साथ-साथ संदर्भ रचना में अवश्य आ ही जाता है।"[1] राकेश के समस्त नाटकों का अध्ययन इस बात पर ज़ोर देता है कि वे एक अनुभूतिपरक रचनाकार की सृष्टि है, एक ऐसे रचनाकार की जो अपने समय के अनुभवों को ईमानदारी से अभिव्यक्त करने में विश्वास रखता है।

राकेश ने जो लिखा है उसमें उनके विलक्षण व्यक्तित्व, अनुभव, चिन्तन और प्रयोग का बहुत बड़ा हाथ है। यही उनके लेखन की निजता है। पाश्चात्य प्रभाव के कारण प्रगतिवाद के बाद हिन्दी में जो व्यक्तिवादी परम्परा पनपी, राकेश उसी के वाहक बने, पर सामाजिक जागरूकता भी अप्रत्यक्ष रूप से व्यंजित करने में वे समर्थ हुए। वे व्यक्ति और समाज को संबंध सापेक्ष मानकर चले। इसीलिए व्यक्ति की समाज को झेलने की पीड़ा में समाज भी मुखर हुआ है। उनके नाटकों में समाज का युग सत्य और लेखक का व्यक्ति रूप में युग सत्य दोनों का भरपूर सामंजस्य है। हिन्दी में वे पहले नाटककार हुए जिसने नाटक को आधुनिक परिप्रेक्ष्य दिया।

राकेश ने हिन्दी नाटक में पहली बार अस्तित्व के प्रश्न उठाए और उनको नई भंगिमाएँ दीं। जीवन की विसंगतियों और उनके प्रति आक्रोश के बीच से उनके नाटकों के अर्थ उभरते हैं। राकेश ने जो कुछ लिखा है उसके केन्द्र में व्यक्ति और उसकी स्थितियाँ हैं। उनके नाटक प्रतीति के नाटक हैं। वे मानवीय स्थिति के भयावह संकट, संबंधों के विघटन तथा व्यक्ति के संत्रास की प्रतीति कराते हैं।

---

1. घनानन्द एम. शर्मा - मोहन राकेश का नाट्य साहित्य - पृ. 14

राकेश ने अपने नाटकों में व्यक्ति को स्थापित किया और उसके अकेले कंठ की आवाज़ को बुलन्द किया। उन्होंने मानव को उसके परिवेश के बीच सही दृष्टि से देखा और फिर उसकी पीड़ा, अजनबीपन और फालतू होने के अनुभव को वाणी दी। पहले मानव और मानव के बीच केवल सत् -असत् का एक कृत्रिम विभाजन था। राकेश ने जीवन के अन्तर्विरोध को एक भिन्न स्तर पर समझा और कटु अनुभव ने उनका मोहभंग किया।

असुरक्षा, निर्वासन, अकेलेपन, अधूरेपन और जीवन की शून्यता के अहसास को उन्होंने कहीं अंदर से भोगा था। बहुत से अनुभव बाल्यकाल के थे। इसी प्रकार स्त्री-पुरुष की संबंधहीनता को उन्होंने किसी समय वैवाहिक जीवन में झेला था। आत्मीयता की भूख उनमें प्रबल थी, निजी अहं उन्हें सर्वथा भटकाता रहा। 'घर' उनकी आवश्यकता थी - वह सुरक्षा का प्रतीक था। उसमें उन्हें जिस सांत्वना और सुख की लाश न थी, वह उन्हें कभी न मिली। अन्ततः कालिदास, नन्द या महेन्द्रनाथ जैसे उनके अंदर घिर आए थे। यह परिणति एक दिन में पैदा होनेवाले अनुभव की न थी - स्थितियों और चिंतन की मिली - जुली संचित अभिव्यक्ति थी।

उनका साहित्य एक तरह से उनकी भीतरी और बाहरी आकुलता की देन है। कालिदास राकेश का ही प्रतिनिधि है। भोगे हुए यथार्थ के कारण राकेश का साहित्य प्रामाणिक अनुभव देता है। उनका साहित्य उनके जीवन के अनुभवों पर खड़ा किया गया है। 'आषाढ़ का एक दिन' में कालिदास मल्लिका से कहता है : "मैंने जब-जब लिखने का प्रयत्न किया, तुम्हारे और अपने जीवन के इतिहास को फिर-फिर दुहाराया।" यह बात राकेश पर भी अक्षरशः लागू होती है। वे कालिदास

में भी हैं, नन्द और महेन्द्रनाथ में भी। उन्होंने मल्लिका को भी देखा, सुन्दरी और सावित्री को भी। कालिदास की तरह आश्रित लेखन को उन्होंने झेला था। सर्जन की क्षमता के लिए उन्होंने एक के बाद एक नौकरियाँ छोड़ी थीं। अपनी आंतरिक स्वतंत्रता के वे इतने हामी थे कि दूसरे कलेवर में जीने के बजाए अपने वास्तविक में जीना उन्हें प्रिय था।

उन्होंने अपने लेखन को वास्तविक स्थितियों का पर्याय नहीं माना वरन् उसे विशिष्ट अर्थ में ढालने का प्रयास किया। उनके नाटकों में उनके भोगे हुए जीवन और परिचितों के चेहरों को देखा जा सकता है किन्तु सब कुछ उन्होंने प्रतिबिम्ब रूप में ग्रहण नहीं किया। उसे अपना चिन्तन अर्थ और व्याख्या प्रदान की और समसामयिक जीवन और भाव-बोध से जोड़ने का प्रयास किया। उन्होंने हिन्दी नाटक को आधुनिकता का बोध प्रदान किया।

राकेश के लेखन के समय में राजनीतिक-सामाजिक चेतना बोध के स्तर पर देश में स्वाधीनता ने नई आशाओं को जन्म दिया लेकिन योजना, विकास, आयोग, उद्योग आदि शब्द - जाल के नीचे से जो रूप सामने आया वह बहुत ही घिनौना और विकृत था। महायुद्ध के बाद पश्चिम ने जिस मानसिकता को पाया उसी प्रकार की मानसिकता भारत को आज़ादी ने विरासत के रूप में दी। इसी मानसिकता की उपज है - उनके नाटक। इसी कारण हम इसमें अस्तित्ववादी चिन्तन की अमिट छाप देख सकते हैं। राकेश ने अस्तित्ववादी चिन्तन की दिशा में भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप वैयक्तिक चेतना, सूक्ष्मता और प्रतीक पद्धति

अपनाकर एक नया मोड दिया। इस नवीन मोड़ के निर्माण में स्वतंत्रता के बाद की गतिविधियों और प्रवृत्तियों का राकेश पर यथेष्ट प्रभाव रहा है।

अस्तित्व के संकट के बीच उन्होंने मानव की निजता की तलाश की। आंतरिक जीवन की तलाश तथा स्व के अनुभव का लक्ष्य लेकर उन्होंने उस आदमी को देखने-परखने की कोशिश की जो अपने लिए स्वयं एक प्रश्न बन चुका है। इस आदमी की जो पहचान उन्होंने की है वह यथार्थ है जो कहीं-न-कहीं अपनी मार्मिकता और अनुभव की सच्चाई में हृदय को छूती है। मानवीय सीमाओं, समस्त दुर्बलताओं, के बावजूद आदमी को दुलारने-पुचकारने की क्षमता उनमें सर्वत्र दिखाई देती है। अपनी अभिशप्त नियति से घिरे उनके पात्र इसलिए हमसे सहानुभूति छीन लेते हैं।

उनके नाटक सुगठित और सुरचित नाटक हैं। शिल्प के स्तर पर इतना श्रम शायद ही किसी ने किया हो और इतनी जागरूकता शायद ही किसी में रही हो। प्रतीकों, बिम्बों, संवादों और स्थितियों के आयोजन में वे एक जागरूक कलात्मक दृष्टि का परिचय देते हैं। इसका मुख्य कारण अपने लेखन के प्रति ईमादारी थी। यह ईमानदारी कथ्य और शिल्प दोनों स्तर पर थी। अनुभूति की तीव्रता, भोगे हुए जीवन-क्षणों की प्रामाणिकता और सृजन में उभरी उसकी शिल्प-क्षमता इसी की देन कही जा सकती है।

स्वयं अपने जीवन में अस्तित्व संकट झेलने के साथ ही राकेश को भारतीय जन जीवन भी अस्तित्ववादी रुझानों में दिखाई दिया। इस नाते अपनी

रचनाओं में वे समसामयिकता बोध से जुड़े मिलते हैं, जो पूर्णतः भारतीय है। "इसी प्रकार वे एकदम रंगमंच की पाश्चात्य परम्परा के हामी नहीं थे। भारतीय रंगमंच का रूप-विधान सही अर्थों में 'नाटकीय प्रयोगों के अभ्यन्तर से जन्म लेगा वे ऐसा विश्वास लेकर नाट्य-लेखन के क्षेत्र में उतरे थे।"[1] इस प्रकार राकेश ने पूर्व और पश्चिम के बीच अस्तित्ववादी संतु पर अपने लेखन को टिकाया और उसे सच्ची निजता प्रदान की। इसके साथ ही प्राचीन और अधुनातन भारतीय चिन्तन और नाट्य परम्परा से अनुप्राणित होकर अपने व्यक्तित्व की निजता से अपने नाट्य शिल्प की अवधारणा की।

जयशंकर प्रसाद और मोहन राकेश के नाटकों में अभिलक्षित साम्य और वैषम्य

क्र.सं.	साम्य	वैषम्य
1.	इतिहास एवं कल्पना का प्रयोग	दृश्य योजना एवं अंक विभाजन
2.	ऐतिहासिक एवं काल्पनिक पात्र	पात्रों की संख्या-प्रधान एवं गौण पात्र
3.	संवाद योजना स्वगत कथन	भाषा - संस्कृतनिष्ठ / यथार्थपरख
4.	पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व	देश-काल की योजना में भिन्नता
5.	रस योजना	उद्देश्य - फल प्राप्ति. मंचीयता एवं रंग संकेत की सूचना।

1. गोविन्द चातक - आधुनिक हिन्दी नाटक का अग्रदूत : मोहन राकेश - पृ. 39

प्रसाद और राकेश के नाटकों का वैषम्य तत्त्व

तत्त्व	ज. प्रसाद	मो. राकेश
1) दृश्य योजना एवं अंक विभाजन	दृश्य एवं अंक विभाजन में एकता नहीं है, हर नाटक में इसकी संख्या अलग-अलग है।	सभी नाटक तीन अंक वाले हैं। दृश्य योजना नहीं की गई है।
2) देशकाल विभाजन	ऐतिहासिक कथानक होने के कारण विभिन्न काल की कहानी कहीं गई है।	चार नाटकों में प्रथम दो इतिहास सम्मत है तथा आखिर दो में आधुनिक जीवन पर नाट्य रचना की है।
3) संकलन त्रय	किसी भी नाटक में इसका पालन नहीं हुआ है, 'ध्रुवस्वामिनी' इसका अपवाद है।	'आषाढ़ का एक दिन' में काल की अन्विनि नहीं है शेष तीन में पूर्णतः निर्वाह की गई है।
4) रंग-संकेत एवं मंचीयता	दृश्यों के बीच में दिया गया है। स्पष्ट रंग-संकेत का उल्लेख नहीं है अतः इस कारण मंचीयता में कठिनाई है।	हर नाटक में अंक के प्रारंभ में रंग संकेत विस्तृत रूप से दिया गया है। चारों नाटकों का कई बार सफल मंचन किया गया है।

प्रसाद और राकेश के नाटकों का साम्य तत्त्व

तत्व	ज. प्रसाद	मो. राकेश
1) कथानक स्रोत इतिहास एवं कल्पना	इतिहास आख्यान के साथ कल्पना का भी सहारा	प्रथम दो नाटकों में इतिहास के साथ कल्पना का सहारा लिया है।
2) पात्र एवं चरित्र चित्रण	मुख्य पात्रों की संख्या-कम गौण। अप्रधान पात्रों की संख्या - अधिक	सभी नाटकों में पात्रों की संख्या कम है।
3) स्वगत कथन	दृश्यं के प्रारंभ अथवा अंत में प्रयुक्त है	अंकों के प्रारंभ एवं अंत में ही प्रयुक्त है।
4) भाषा-शैली	ऐतिहासिक कथानक के अनुकूल संस्कृतनिष्ठ भाषा एवं शैली काव्यात्मक है।	प्रथम दो नाटकों में कथानक के अनुकूल संस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग किया गया है।

प्रसाद और राकेश - तुलनात्मक विवेचन

जयशंकर प्रसाद और मोहन राकेश आधुनिक हिन्दी नाट्य जगत में प्रतिभावान प्रतिमान है। प्रसाद और राकेश क्रमशः स्वतंत्रता पूर्व और स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाट्य साहित्य के आधार स्तंभ है। देश की राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियों ने दोनों के लेखन को प्रभावित किया है। दोनों ने परम्परा का भंजन किया और नई दिशा का निर्माण एवं निर्देशन किया। वे आधुनिक हिन्दी रंगमंच के परस्पर पूरक है। रंगमंचीय जड़ता को उन्होंने अपनी ताकत से तोड़ा।

दोनों नाटककारों ने विभिन्न कोणों से नाट्यसृजन की तंतु को बुनाया है। प्रसाद नवोत्थान युग के नेता थे और राकेश सृजनशीलता के। प्रसाद ने मंच को साहित्य के स्तर तक उठाने की चेष्टा की तो राकेश ने मंच की अपेक्षाओं को सामने रखकर नाटक लिखे। उन्होंने स्थूलता का निराकरण करके हिन्दी क्षेत्र की रंगमंचीय संभावनाओं को उजागर किया। दोनों ने अपने लेखन के माध्यम से नये रंग प्रयोग किये जिसमें एक ओर भारतीय और पाश्चात्य रंग-परम्पराओं का अन्वेषण हैं तो दूसरी और मौलिक दृष्टि और गहरा युगबोध है। दोनों ने इसी मौलिक दृष्टि और गहरे युगबोध के द्वारा नाट्य साहित्य के स्तर पर अपने प्रयोग की दिशाओं का संधान किया। ये नाटक प्रयोग के धरातल पर परम्परा का अनुगमन न कर उसके द्वारा समकालीन यथार्थ के साथ सीधे साक्षात्कार द्वारा कुछ न कुछ नया देने की कोशिश करते हैं।

इन नाट्य प्रयोगों की दिशाएँ बहुमुखी हैं और इनमें रंगमंच या नाटक के नये रूपों की खोज के विविध प्रयास दिखते हैं। इस प्रकार दोनों नाटककारों के

नाटकों का, वैज्ञानिक पद्धति के स्तर पर, साहित्यिक रूप में साम्य और वैषम्य पक्ष का विवेचन आगे प्रस्तुत है। अतः हिन्दी के दो महान नाटककारों की नाट्य कृतियों के अभिव्यक्ति पक्ष के संदर्भ में तुलनात्मक मूल्यांकन करने की कोशिश की गई है।

ऐतिहासिक और काल्पनिकता

भारतीय एवं पाश्चात्य मतों के अनुसार इतिहास घटित सत्यों का अंकन है जिसमें कार्य-कारण संबंधों के आधार पर तात्कालिक संदर्भों की कल्पना की जाती है। संभाव्यता की सीमा तक इतिहास में कल्पना का सम्मिश्रण उचित माना जाता है। ऐतिहासिक कथानकों के आधार पर श्रेष्ठ और सशक्त नाटकों की रचना तभी संभव है जब नाटककार ऐतिहासिक पात्रों और कथा अभिप्रायों को ऐताहासिकता के स्थान पर युगीन बना देता है तथा इतिहास के संघर्ष को आधुनिक अर्थव्यवस्था प्रदान करता है। इसी तथ्य को दृष्टि पथ में रखकर प्रसाद और राकेश ने इतिहास की नींव पर अपना नाट्य सृजन किया और इस अर्थ में प्रसाद और राकेश की नाट्य कृतियाँ सशक्त है।

प्रसाद मूलतः ऐतिहासिक नाटककार हैं। भारतीय इतिहास के एक सुविस्तृत काल को प्रदर्शित करने के लिए उन्होंने घोर परिश्रम कर अनेक स्रोतों से उपकरण एकत्र किए। 'राज्यश्री', 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त', चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' उनके प्रमुख ऐतिहासिक नाटक हैं। काल की दृष्टि से इन नाटकों में मुख्यतः प्राचीन भारत का चित्रण हैं जिसमें विदेशी आततायियों को मुँह की खानी पड़ी। कहीं यूनानी आक्रमणकारियों को चन्द्रगुप्त मौर्य का लोहा मानना पड़ता है, कहीं राज्यवर्द्धन

हूणों पर विजय प्राप्त कर अपनी यशोध्वजा फहराता है तो कहीं स्कन्दगुप्त शक और हूणों के कुचक्रों को कुचलते हुए भारतीय स्वाभिमान की रक्षा करता है।

प्रसाद ने उन्हीं पात्रों और घटनाओं को अपने नाटकों का आधार बनाया जो प्रख्यात होने के साथ-साथ अनेक दृष्टियों से आकर्षक तथा जिनके विषय में इतिहास मौन है। वस्तुतः उनके ऐतिहासिक नाटकों में हमारे देश का आकर्षक तथा लुप्त इतिहास प्राप्त होता है। उनके 'राज्यश्री', 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त' तथा 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक शुद्ध ऐतिहासिक है। शुद्ध ऐतिहासिक रचनाएं वे हैं जहाँ नाटककार मूल कथानक का आदान इतिहास से करें एवं उसके सभी प्रधान पात्र इतिहास विश्रुत हो। घटनाओं एवं चरित्रों में ऐतिहासिक संभाव्यता के अंतर्गत ही परिवर्तन किए जाए। ऊपर कथित चारों नाटक इस कसौटी पर खरी उतरती हैं। अर्थात् इसका कथानक प्रामाणिक एवं इतिहास सम्मत हैं।

बौद्ध इतिहास में 'अजातशत्रु' की सत्ता को और उसके क्रिया कलापों को कौन अस्वीकार कर सकता है। मौर्य काल का तो इतिहास ही चन्द्रगुप्त से आरंभ होता है। वह भारत का प्रथम ऐतिहासिक सम्राट है। 'ध्रुवस्वामिनी' संबंधी घटनाओं को ऐतिहासिक मान्यता प्राप्त है और 'राज्यश्री' की घटनाओं के लिये 'हर्षचरित' आदि का सशक्त आधार उपलब्ध है। इन सभी नाट्य रचनाओं के नायक इतिहास-विश्रुत व्यक्ति है। केवल कुछ पात्रों को छोड़कर अन्य सभी पात्र भी ऐतिहासिक हैं। कल्पित पात्रों का निर्माण भी ऐतिहासिक कल्पना एवं परिस्थिति जन्य संभाव्यता के आधार पर किया गया है, जिसका ऐतिहासिक नाटककार को पूर्ण अधिकार है।

प्रसाद ने उन स्थलों के लिए जहाँ इतिहास में कोई उल्लेख नहीं या फिर किसी पात्र का केवल उल्लेखमात्र है, लोकमत, पुराण, आदि इतिहास के उत्सों का स्वतंत्र प्रयोग किया है। 'राज्यश्री' नाटक की घटनाएँ ऐतिहासिक हैं फिर भी नाटककार ने उसे इस प्रकार से संयोजित किया कि राज्यश्री की महानता, उदारता, पति-परायणता, दान-प्रियता और त्याग भावना मुखरित हो सकें। साथ ही इस चरित्र के विकास के लिए 'प्रसाद' ने घटनाओं के संयोजन में अपनी कल्पना-शक्ति का भी प्रयोग किया।

'अजातशत्रु' में युगीन धार्मिक स्थिति का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया कि तब बौद्ध धर्म और उसके विरोधियों में किस प्रकार की खींचातानी चल रही थी, यह दिखाकर प्रसाद ने नाटक की ऐतिहासिकता को और भी गहरा कर दिया। अजात और बाजिरा का प्रेम-भाव और उन दोनों का सरस मिलन कल्पना प्रसूत होते हुए भी ऐतिहासिक लगता है। 'स्कन्दगुप्त' नाटक का रचनाकाल सन् 1928ई. है। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में यह अवसाद और निराशा का समय था। गाँधीजी का असहयोग आंदोलन असफल हो चुका था। 1924-26ई. के साम्प्रदायिक दंगों के कारण गाँधीजी में गहरी निराशा का भाव जाग रहा था। कुल मिलकर यह समय राजनीतिक अवसाद, उदासीनता, साम्प्रदायिक विद्वेष और विघटन का काल था। गाँधी जी राजनीति के प्रति उदासीन थे। नेतृत्व ढ़ीला पड़ जाने के कारण देशवासियों में भी निराशा व्याप्त हो रही थी। अपने युग की इन्हीं अवसादमयी स्थितियों को प्रसाद ने स्कंदगुप्त के चरित्र में दर्शाया है।

नाटक की प्रथम पंक्ति 'अधिकतर सुख कितना मादक और सारहीय हैं। इसी युग-अवसाद की छाया है। अधिकारों के प्रति उदासीन और अनासत होने पर भी स्कंदगुप्त देश के प्रति अपने कर्त्तव्यों को लेकर जागरूक है। देश को आसन्न संकट और शत्रुओं से उन्मुक्त रखने का यह भाव युगीन प्रभाव ही है। स्कंद अधिकारों के प्रति अनासक्त होने पर भी कर्म के प्रति जागरूक है। यह 'अनासक्त कर्म' गाँधी के व्यक्तित्व की छाप है। गाँधी भी स्वतंत्रता की लड़ाई में अधिकारों के प्रति कहीं भी लालायित नहीं थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी उन्होंने अधिकार और स्थानों को दूसरे को सौंप दी और स्वयं सत्ता से दूर ही रहे। अतः स्कंदगुप्त गाँधी जी के व्यक्तित्व का प्रतीक जान पड़ता है।

हूण आतातयी और आतंककारी जाति ही नहीं थी अपितु क्रूर और निर्दय भी थी। धन-धान्य नष्ट करना और नगरवासियों को लूटना इनका काम था। जिससे गुप्त साम्राज्य का पश्चिमी प्रान्त त्रस्त था। स्कन्दगुप्त ने पुष्यमित्र और हूण दोनों विदेशी ताकतों से राष्ट्र को एक साथ मुक्ति दिलाई। इस प्रकार यह नाटक राष्ट्र उद्धार के मूल चिंतन को लेकर लिखा गया नाटक है। इसमें गुप्तकालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक महत्त्व के साथ-साथ सामायिकता की भी गहरी छाप झलकती है। देश-रक्षा का सर्वाधिक आकर्षक स्वर इस नाटक में सुनाई पड़ता है। देश की रक्षा के लिए आत्म बलिदान का भाव अत्यंत तीव्रता के साथ उभरता है। पृथ्वीसेन, पर्णदत्त, बन्धुवर्मा, देवसेना जैसे पात्रों में वर्णित शौर्य, बलिदान, क्षमा, प्रेम, राष्ट्र-एकता आदि आदर्शों के पीछे युगीन स्वातंत्र्य आंदोलन की अपेक्षाएँ अन्तर्निहित दिखाई देती हैं। प्रसाद की दृष्टि इतिहास की अपेक्षा अपने युग को विचार रूप में अभिव्यक्त करने में संलग्न जान पड़ती है।

'चन्द्रगुप्त' नाटक प्रसाद द्वारा रचित राष्ट्रीय एकता का संवाहक है। प्रसाद ने इतिहास के पृष्ठों से एक युग का चयन किया जो उनके अपने युग की स्थितियों से मेल खाता हुआ युगाकांक्षाओं को पुरावृत्त के आवरण में अभिव्यक्त कर सके। 'चन्द्रगुप्त' नाटक के इतिहास का फलक जिस सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक स्थितियों को प्रस्तुत करता है, वे प्रसाद के समय की स्थितियों से भिन्न नहीं थी। पश्चिमोत्तर सीमा के गणाधीश पर्वतेश्वर और आंभीक एक-दूसरे के विरोधी हैं। आंभीक पर्वतेश्वर के विरोध में सिकंदर का स्वागत करता है। मगध जो भारत के केन्द्र में सबसे बड़ा राज्य हैं उसमें आंतरिक अशान्ति का वातावरण है, शासक विलासी और कामुक है। जनता उसके अत्याचारों से उत्पीड़ित है। ऐसी अवस्था में चाणक्य और चन्द्रगुप्त देश को एक सूत्र में बाँधने के प्रयासों में लगे हुए हैं। देश के इतिहास में यह एक बहुत बड़ी घटना है जो बार-बार हमें इस बात की चेतावनी देती है कि पारस्परिक एकता की हमें कितनी बड़ी आवश्यकता है और देश का शासन ठीक न होने पर जनता में किस प्रकार असंतोष फैल सकता है। देश को एकता के सूत्र में बाँधने और एक विराट साम्राज्य की स्थापना के लिए जो प्रयत्न चाणक्य ने किया उसके पीछे देश-प्रेम और राष्ट्र के प्रति जो कर्त्तव्य की भावना है, वह आज के युग में भी हमें प्रेरणा देती हैं। प्रसाद ने इस नाटक में जिन समस्याओं को उठाया है उनमें एक प्रधान समस्या है राष्ट्र की एकता की समस्या जो प्रसाद के युग में भी प्रासंगिक थी और आज के युग में भी उतनी ही प्रासंगिक है।

प्रसाद का समय सामाजिक पुनरुत्थान का समय था। समाज और देश के उत्थान के लिए अनेक विषयों पर विचार हो रहा था। यह भावना भी विस्तार पा

रही थी कि समाज का निर्माण करने वाली शक्तिरूपा स्त्री की दशा को सुधारे बिना देश का हित नहीं हो सकता। राजाराममोहन राय इस सुधारवादी दृष्टि के अग्रणी थे। विधवा-विवाह और अयोग्य पुरुष से नारी की मुक्ति सम्बन्धी अनेक विचार समाज में उठे थे। स्वयं गाँधीजी चाहते थे कि स्त्रियाँ घर की चारदिवारी से बाहर आकर देश-निर्माण के कामों में सहयोग दे। यह तभी संभव था, जब नारी का अपना अस्तित्व स्वतंत्र हो। इसी विचारधारा का परिणाम 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक नारी जाति के प्रति उनके नवीन दृष्टिकोण का सूचक है। प्रसाद ने पहली बार एक ऐसे नारी चरित्र की सृष्टि की जो पुरुषों के अधिकार से अपनी मुक्ति का उद्‌घोष करती है। अतः प्रसाद के ध्रुवस्वामिनी में इतिहासवृत्त के ब्याज से नारी के मोक्ष की युगीन समस्या को उठाया गया है और यह भी बताया है कि विवाह एक ऐसी संस्था है जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों समान अधिकारों के भागीदार है। यदि ऐसा न हो तो धर्म और विवाह खेल है।

वस्तुतः प्रसाद के लिए इतिहास अतीत घटना न होकर काल का मिथक है। उनके पुरावृत्ताश्रित नाटकों में राष्ट्र का सांस्कृतिक संकट उनके चिन्तन और विचार का मुख्य विषय है। प्रसाद वर्तमान की भूमि पर खड़े होकर अतीत और भविष्य दोनों का समानांतर देखने में समर्थ थे। प्रसाद वर्तमान के प्रसंग से जुड़कर ही अतीत इतिहास को ग्रहण करते हैं। उन्होंने परतंत्रता के वातावरण में राष्ट्र पर पड़े सांस्कृतिक संकट को पहचान लिया था, इसीलिए अतीत से वर्तमान स्थितियों के समरूप संकटापन्न और संघर्षशील स्थितियों वाले परिदृश्य चुने। विदेशी आक्रान्त, राजनीतिक संघर्ष, धार्मिक उद्वेलन और सामाजिक क्रान्ति और सामाजिक धार्मिक

परिवर्तनों के समानांतर रखे जा सकते थे। उन्होंने अपने ऐतिहासिक कथानकों में जो कल्पनाएं की हैं, उनसे या तो इतिहास को बल मिलता है या फिर इतिहास में प्राणों का संचरण होता है। प्रसाद ने यथासंभव इतिहास की रक्षा करते हुए कल्पना का प्रयोग उन सुरक्षित दायरों में खड़े होकर किया जिनके बाहर जाने पर इतिहास की हत्या हो सकती थी।

'आषाढ़ का एक दिन' में राकेश ने कालिदास के वृत्त को उनकी रचनाओं तथा उनसे संबद्ध दंत कथाओं एवं ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर नये ढ़ंग से प्रस्तुत किया है। इतिहास प्रसिद्ध कालिदास को एक साधारण पुरुष व साहित्यकार के रूप में अपने प्रस्तुत किया है। उनमें एक कलाकार की सभी दुर्बलताएँ हैं। उनका व्यक्तित्व खंडित है। मोहन राकेश ने कालिदास को नवीन संवेदना एवं आधुनिक भावबोध के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। कालिदास के माध्यम से नाटककार ने किसी भी काल में सृजनशील प्रतिभा को आंदोलित करने वाले अन्तर्द्वन्द्व की ओर संकेत किया है।

कालिदास का कवि के रूप में उज्जयिनी जाना इतिहास सम्मत प्रसंग है। इस नाटक में प्राकृतिक दृश्यों के सुंदर वर्णन भी मिलते हैं। कालिदास का जन्म पर्वतीय प्रान्त के किसी गाँव में हुआ था। वह अपनी जन्मभूमि से खूब प्यार करता था। इसलिए वह राजकवि बनने के बाद अपनी पत्नी प्रियंगुमंजुरी और दो अनुचरों को अपने गाँव की ओर भेज देता है। यह स्थान उज्जयिनी और कश्मीर के बीच में पड़ा हुआ है। इस नाटक में कालिदासकालीन भारत का चित्रण भी हुआ है। घोड़े की टाप् के बारे में भी इधर उल्लेख हुआ है। कालिदास का प्रारंभिक जीवन

दुःखपूर्ण एवं तिरस्कृत रहा। बाद में चन्द्रगुप्त के राजसदस्यों के नवरत्नों में कालिदास का नाम गिना जाने लगा। कालिदास उज्जयिनी जाता है और वहाँ राजकवि बन जाता है, राजदुहिता से ब्याह करता है, मातृगुप्त नाम स्वीकार कर कश्मीर का शासक बनता है। इन कथानकों में ऐतिहासिकता की झलक है।

कालिदास जैसे राजकवि को एक आधुनिक साधारण धरातल पर उतारा गया है। इसमें राज्याश्रित साहित्यकार के राजकर्त्तव्य और साहित्यिक अपेक्षाओं से उत्पन्न विषमताओं के जाल में फँसे हुए कालिदास के अन्तर्मन के द्वन्द्व का चित्रण किया गया है। अतः यही वह बिन्दु है जहाँ से नाटककार पर से कालिदास संबंधी ऐतिहासिक वृत्तों के निर्वहण का दायित्व हट जाता है और अनुभूति संपन्न कल्पना का जाल बुन जाता है।

'लहरों के राजहंस' नाटक का आधार अश्वघोष का 'सौन्दरनन्द' काव्य है। राकेश ने अश्वघोष की इस कथा को पहले एक कहानी के रूप में प्रस्तुत किया। फिर उन्होंने इस कथा को 'सुन्दरी' नामक रेडियो नाटक के रूप में प्रस्तुत किया। इसमें रूपगर्वित नारी का चित्रण प्रमुख था। इससे भी वे संतुष्ट नहीं हुए। उनके मन में एक आधुनिकता से युक्त नाटक की रचना करने की इच्छा थी। इस प्रकार राकेश ने नन्द और सुन्दरी का नाम लेकर आधुनिक संवेदनाओं से युक्त नाटक की रचना की।

नाटक की कथा में ही ऐतिहासिकता की सूचना है। ऐतिहासिक घटनाएँ निमित्त के रूप में आयी है। राकेश ने नन्द और सुन्दरी की कथा को आधुनिकता

से जोड़कर प्रस्तुत किया है। इस नाटक के द्वारा आधुनिक द्वन्द्व ग्रस्त मानव-जीवन के संघर्ष और उलझनों को मुखरित करने की कोशिश की गई है। यह एक उलझन भरा नाटक है। इस नाटक के सभी पात्र दुविधाग्रस्त वातावरण से गुजरने वाले हैं। नन्द दो विभिन्न शक्तियों के बीच में पड़कर दम घुटता है। यह आधुनिक मनुष्य की नियति है। निरन्तर आंदोलित आधुनिक मानव का यथार्थ है। यहाँ राजहंस-नन्द और सुन्दरी समानरूप से चंचल हैं। चुनाव की यातना ही इस नाटक का मूल द्वन्द्व है। इस तरह ऐतिहासिक आधार पर रचित इस नाटक को नाटककार ने काल्पनिक अन्विति से विस्तार दिया है।

प्रसाद और राकेश ने ऐतिहासिक नाटकों के कथानकों में पर्याप्त काल्पनिक अंशों का प्रयोग किया। उनकी कल्पना इतिहास के सत्य को सौन्दर्य देने का महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। मात्र इतिहास के सत्य को नहीं, युगीन यथार्थ को भी। मानवीय भावों, परिस्थितियों एवं विचारणाओं के आधार पर खड़ी उनकी कल्पना ऐतिहासिक संभाव्यता की सीमा में रहती है। निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि प्रसाद और राकेश की कल्पना, इतिहास के अंतराल को भरने के लिए, वर्तमान युगीन परिस्थितियों को यथार्थ के ढाँचे में ढलने के लिए तथा उनका इतिहास काल्पनिक चित्रों को विश्वसनीय बनाने के लिए क्रियाशील है। अतः उन दोनों के नाटकों में इतिहास और कल्पना का मणिकांचन संयोग देखने को मिलता है।

पात्रयोजना

प्रसाद की रचना के पीछे एक नवनिर्माण की भावना सक्रिय रही जिसे उनकी पात्र योजना में स्पष्ट देखा जा सकता है। उनके नाट्य साहित्य में प्रायः दो

सौ पात्रों को ग्रहण किया गया है लेकिन इनमें से 50 पात्र तो दौवारिक, सैनिक, दासी आदि हैं। शेष 150 पात्रों में से 100 पुरुष पात्र हैं तथा 50 स्त्री पात्र। इनमें से भी कुछ पात्रों के चरित्र का चित्रण या तो हुआ ही नहीं और यदि हुआ है तो वह अधूरा है। कुछ पात्र तो केवल घटनाओं का क्रम बैठाने तथा कार्यव्यापार को सुसम्बद्ध करने के लिए ही निर्मित है। जिन पात्रों के चरित्र-चित्रण की रेखाएँ उभरी हैं तथा लेखक के अपने मनोयोग का कुछ अंश जिनके लिए मिल है वे 100 पात्र हैं जिनमें नारी पात्रों की संख्या 33 है। इनमें परम्परागत पात्रों की संख्या 60 एवं प्रयोग प्रवण पात्रों की संख्या 50 है।

परम्परागत पात्रों की श्रेणी में मुख्यतः हर्षवर्द्धन, देवगुप्त, दिवाकर मित्र, हवेनसांग, राज्यश्री, विशाख, नरदेव, चन्द्रलेखा, अजातशत्रु, बिम्बिसार, प्रसेनजित, विरुद्धक, गौतम, वासवी, देवदत्त, जनमेजय, काश्यप, उत्तंक, वासुकि, वेदव्यास, स्कन्दगुप्त, पुरगुप्त, बन्धुवर्मा, भीमवर्मा, पर्णदत्त, भटार्क, अनन्तदेवी, देवकी, चन्द्रगुप्त, चाणक्य, पर्वतेश्वर, सिकन्दर, आंभीक, कार्नेलिया, सुवासिनी, रामगुप्त, शकराज, ध्रुवस्वामिनी आदि की गणनना की जा सकती है। शान्तिभिक्षु, सुरमा, प्रेमानन्द, महापिंगल, मागंधी, मल्लिका, सरमा, मनसा, मणिमाला, मातृगुप्त, प्रपंचबुद्धि, मुद्गल, देवसेना, विजया, सिंहरण, अलका, मालविका, शिखरस्वामी, मिहिरदेव आदि प्रसाद के प्रयोगशील पात्रों में प्रमुख हैं।

प्रसाद ने सभी पात्रों का आधार उनकी मनोवैज्ञानिक स्थिति एवं सामाजिक परिस्थितियों को माना है। इन्हीं गुणों के कारण उनके पात्र सजीव, सशक्त एवं सक्रिय हो उठे हैं। इस वैविध्य का प्रसाद ने सामरस्य में सुन्दर संयोजन किया है।

उनके नाटकों में एक महा उद्देश्य के दर्शन होते हैं और उस उद्देश्य की पूर्ति के लिये एक महत्वकार्य का आयोजन होता है। सभी पात्र अपनी मनःस्थिति और परिस्थिति के अनुसार साधक या बाधक के रूप में उस उद्देश्य की ओर बढ़ते हैं। यही कारण है कि प्रसाद के कुछ पात्र जहाँ दैवीक गुणों से युक्त हैं वहाँ अन्य पात्र अपनी दुर्बलताओं के होते हुए भी मानवत्व की सच्ची मूर्ति प्रस्तुत करते हैं।

प्रसाद जी ने अपने नाटकों में रसानुकूल पात्र योजना के साथ ही साथ बहिर्द्वन्द्व एवं अन्तर्द्वन्द्व की सृष्टि के लिए भी पात्रों का चयन किया है। उनके पात्रों में परम्परागत जीवन-मूल्यों के साथ-साथ प्रयोग प्रवण आवश्यकताओं की पूर्ति का भी सुन्दर विधान है। भारतीय नाट्य शास्त्र के नायक, नायिका एवं प्रतिनायक आदि पात्रों के सदृश रसोपयोगी चरित्रों के निर्माण के अतिरिक्त उनके नाटकों में प्रयोगशील पात्रों द्वारा आधुनिक समस्याओं के परोक्ष समाधान की प्रवृत्ति भी उपलब्ध होती है। उन्होंने ऐतिहासिक प्रश्नों के सांस्कृतिक समाधान के लिए कुछ ऐसे पात्रों का सृजन भी किया है जो दार्शनिक एवं संत के रूप में अवतरित होते हैं तथा पात्रों के अन्तर्द्वन्द्वों का शमन एवं बहिर्द्वन्द्वों का समन्वय उपस्थित करते हैं। इस प्रकार प्रसाद के प्रमुख पात्रों के जीवन में सुख-दुःख के मनोविकारों से उठकर एक सामरस्य दशा में जीवन की जटिल समस्याओं का समाधान होता है।

मोहन राकेश के नाटकों के पात्र अपनी जीवन्तता के लिए विशेष ख्यात हैं। उनके नाटकों के पात्र आधुनिक तथा किसी न किसी तनाव से पीड़ित हैं। राकेश के नाटकों के पात्र कथावस्तु के अनुकूल और समकालीन समस्याओं को भोगने वाले हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' के दो पात्र इतिहास से संबंधित हैं। बाकी

सभी पात्र कल्पना प्रसूत है। कालिदास और प्रियुंगुमंजुरी ऐतिहासिक नाम मात्र है। उनके सभी तनाव और संवेदना एक साधारण मनुष्य के जैसे हैं। 'लहरों के राजहंस' का पात्र नन्द इतिहास पुरुष है लेकिन प्रस्तुत नाटक का नन्द एक साधारण मनुष्य के समान मानसिक द्वन्द्व में पड़कर दम घुटता है। 'आधे-अधूरे' नाटक राकेश का यथार्थवादी नाटक है जिसमें सभी पात्र मध्यवर्गीय परिवार के हैं। इस नाटक के समस्त पात्रों को एक साधारण परिवार के सारे तनावों का शिकार होना पड़ता है। 'पैर तले की ज़मीन' भी एक यथार्थवादी नाटक है जिसके पात्र भी यथार्थ धरातल के हैं। उनके चारों नाटकों में चरित्रों की संख्या बारह या तेरह ही है। आधुनिक युग की संवेदनाओं के अनुकूल वैविध्यपूर्ण पात्रों की सृष्टि करने में नाटककार मोहन राकेश को बड़ी सफलता मिली है। समसामयिक संवेदनाओं से युक्त पात्रों की सृष्टि करने में राकेश की दक्षता अपूर्व है।

प्रसाद और राकेश ने मनोविज्ञान से प्रेरित होकर पात्रों के सूक्ष्म अंकन पर ज़ोर दिया है। पात्रों द्वारा भोगे जा रहे अंतर्द्वन्द्व का अंकन दोनों ने सशक्त रूप में अभिव्यक्त किया है। स्कंदगुप्त और कालिदास इसके प्रमाण है। नारी पात्रों को आत्म निर्भर, सशक्त, स्वाभिमानी, स्नेहिल और कर्त्तव्य परायण रूप में ही दोनों ने दर्शाया है। राज्यश्री हो या अम्बिका, देवसेना हो या मल्लिका नारी के आदर्श को ही उजागर करते हैं। कई संदर्भों में पुरुष पात्रों की तुलना में स्त्री पात्रों की अभिव्यक्ति दोनों नाटककारों ने सशक्त रूप में की है। हास्य उत्पन्न करने की दृष्टि से भी पात्रों का प्रणयन हुआ है। विदूषक, अनुस्वार-अनुनासिक, रंगिनी-सांगिनी आदि इसी कोटि के हैं। वस्तुतः दोनों नाटककारों ने एक ओर परम्परागत प्रख्यात

ऐतिहासिक पात्रों का चयन किया और दूसरी तरफ कथानुकूल कल्पित पात्रों का भी चयन किया जो अपने चारित्रिक गुणों के आधार पर नाटकीय कथावस्तु को आच्छादिन किये रहते हैं। प्रसाद के चरित्र-चित्रण में भारतीय एवं पाश्चात्य पद्धति का अनुसरण किया गया है लकिन राकेश ने पाश्चात्य पद्धति को स्वीकार करते हुए तनावग्रस्त, अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित, युगानुकूल पात्रों का चयन किया है। इस संदर्भ में प्रसाद के नायक भी इसी कोटि में गिने जायेंगे।

दोनों के पात्र अन्तर्द्वन्द्व से ग्रस्त थे लेकिन उनको द्वन्द्व ग्रस्त करने वाली परिस्थितियाँ भिन्न थी, उनका समाधान भी भिन्न ढ़ंग से प्रस्तुत किया गया है, या फिर यों कहा जा सकता है कि प्रसाद ने इसका समाधान प्रस्तुत किया है जबकि राकेश ने उसे एक अंत प्रदान न करते हुए तनाव की स्थिति को बरकरार रखा है। दोनों ही नाटककारों के चरित्र शिल्प आधुनिकतम मनोविज्ञान की कसौटी पर खरे उतरते हैं। पात्र योजना की दृष्टि से आंकने पर एक तरफ दोनों में साम्य दृष्टव्य है और दूसरी तरफ वैषम्य।

नाट्य भाषा एवं संवाद योजना

प्रसाद जी ने महाभारत काल से लेकर हर्ष के राज्यकाल तक के भारतवर्ष का इतिहास अपने नाटकों के माध्यम से रूपायित किया है। भारतवर्ष में यह युग संस्कृत भाषा के प्रभुत्व का युग रहा है। संस्कृत भाषा में काव्य, नाटक, दर्शन, धर्म-ग्रन्थ आदि का निर्माण इस युग में अधिकांश संभव हुआ। अतः इस युग के पात्रों की भाषा में संस्कृत-निष्ठता का होना देश-काल की दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त

है। प्रसादजी की यह मान्यता है कि देश और काल के अनुसार भी सांस्कृतिक दृष्टि से भाषा में पूर्ण अभिव्यक्ति होनी चाहिए। इस सिद्धान्त का उन्होंने अक्षरशः पालन किया है। उनकी भाषा शैली अपने स्थल पर सर्वथा उपयुक्त है क्योंकि काल-साम्य का निर्वाह होना ही चाहिये। भाषा के क्षेत्र में विभिन्न परम्पराओं का पालन करते हुए भी प्रसाद ने हिन्दी नाटक साहित्य में कुछ क्रान्तिकारी परिवर्तनों को जन्म दिया जिनके कारण प्रसाद के साहित्य के प्रति अध्येताओं की जिज्ञासा वृत्ति सदैव जागरूक रहेगी।

प्रसाद जी अपनी नाट्य कृतियों में एक जीवन दर्शन को मूर्त्त करना चाहते हैं। उनका यह जीवन-दर्शन जीवन के विभिन्न अनुभवों एवं इतिहास के अध्ययन और मनन से इतना सारवान् हो गया था कि उसे भाषा के बंधनों में आबद्ध करने के लिये वे व्याकुल रहते थे। उनके इस प्रयास का फल उनके प्रायः सभी नाटकों में अत्यन्त सारवान् किन्तु उतने ही संक्षिप्त कथनों से प्रकट हुआ है। नाटक की भाषा में संक्षिप्त कसावट के प्रयास ने तो इसे सूक्ति की कोटि तक पहुँच दिया है। किसी भी भाषा में ऐसी सूक्तियों का जन्म लेखक की प्रतिभा एवं परिपक्वता का परिचायक है। प्रसाद के भाषा कौशल का यह रूप दर्शन, प्रेम, नीति, आदि से सम्बद्ध सूक्तियों में व्यंजित हुआ है। उदाहरण के लिए दर्शन से अनुप्राणित सूक्तियाँ हैं:

- वाक् संयम विश्व-मैत्री की पहली सीढ़ी है। (गौतम-अजातशत्रु)
- मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है। (जगत्कारु-ज.का. नागयज्ञ)
- आत्म-सम्मान के लिए मर मिटना ही जीवन है। (चन्द्रगुप्त-चन्द्रगुप्तः)

जीवन के अर्थ-गाम्भीर्य का समर्थ भाषा में इतनी संक्षिप्तता एवं कसावट के साथ कथन हिन्दी के नाटक साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। यह निःसंदेह हिन्दी के गौरव की वस्तु एवं प्रसाद की हिन्दी साहित्य को अप्रतिम देन है। प्रसाद की भाषागत मौलिकता का दूसरा बड़ा क्षेत्र उनके गीतों में उपलब्ध होता है। प्रसाद ने नाटकों की भाषा में पद्य की रचना की गिरती हुई लोकप्रियता को देखकर एवं संगीत के प्रति जनमानस की रुचि का पर्यवेक्षण कर अपनी नाट्य-रचना में संगीतमयी भाषा का संयोजन किया। उनके नाटकों में मुख्यतः प्रेम परक, राष्ट्रीय गीत तथा वर्णनात्मक कविताओं का प्रणयन हुआ है जो भावोद्घाटन का सशक्त माध्यम था। प्रसाद की नाट्य भाषा में भी ध्वन्यात्मकता के प्रयोग देखे जा सकते हैं जो यह स्वतः सिद्ध करता है कि भाषा पर उनका अद्भुत अधिकार था।

भाषा के विवेचन के उपरान्त उनके संवाद - शिल्प के स्तर पर किये गए प्रयोगों की समीक्षा करना भी समीचीन होगा। कथावस्तु तथा चरित्र को गतिशील करने का माध्यम संवाद ही है। अन्य नाट्य-अवयवों की संगति भी संवाद की गति-शीलता, सहजता एवं तार्किकता पर निर्भर करती है। प्रसाद के नाटकों में नाटकीय कथावस्तु का विकास बहिर्द्वन्द्व से अन्तर्द्वन्द्व की ओर उत्तरोत्तर संक्रमण करता हुआ लक्षित होता है। यह अन्तर्द्वन्द्व संवाद मात्र में अनुस्यूत है। अन्तर्द्वन्द्व का यह चित्रण मनोविश्लेषण के सूक्ष्मबिन्दु तक अत्यन्त तीव्रता के साथ अग्रसर होता है।

इसका एक उदाहरण 'स्कन्दगुप्त' की देवसेना के इस कथन में दृष्टव्य है - "परन्तु.... कापालिक! एक ओर भी आशा मेरे हृदय में है, वह पूर्ण नहीं हुई है। मैं डरती नहीं हूँ, केवल उसके पूर्ण होने की प्रतिक्षा है। विजया के स्थान को मैं

कदापि न ग्रहण करूँगी। उसे भ्रम है, यदि वह छूट जाता....।'' प्रपंचबुद्धि राजबलि के रूप में देवसेना को बलि चढ़ाने के लिए उद्यत है। मृत्यु सम्मुख है। देवसेना मृत्यु से नहीं डरती किन्तु वह अपने हृदय का विश्लेषण कर विजया के सम्मुख पहले रख देना चाहती है, फिर मृत्यु आये तो कोई चिन्ता नहीं। उसके हृदय की इस ग्रन्थि को प्रसाद की उदात्त भाषा ने बहुत कम शब्दों में खोलकर रख दिया है।

अन्तर्द्वन्द्व का इससे भी कहीं मार्मिक स्थल 'चन्द्रगुप्त' नाटक की मालविका के इन शब्दों में मुखरित हो उठा है - "यह चन्द्रगुप्त की शैय्या है? ओह आज प्राणों में कितनी मादकता है? मैं....कहाँ हूँ? कहाँ? स्मृति तू मेरी तरह सो जा। अनुराग तू रक्त से भी रंगीन बन जा।"[2] मालविका की चेतना सरिता में गहरी हिलोरें उठती हैं। उसका प्रियतम की शैय्या पर प्रियतम से भाव-रूप में मिलन और सामने खड़ी हुई मृत्यु दोनों के बीच - उसे स्वयं ज्ञात नहीं है कि वह कहाँ है? किन्तु उसका प्रेम, अन्त में विजयी होता है। उसकी मृत्यु में उसके अनुराग की अमरता मूर्त हो जायेगी, यह उसे आश्वासन है और यही आश्वासन वह अपने प्रेम को देती है। वस्तुतः प्रसाद ने नारी के बाह्य रूप और आंतरिक रूप के बीच के पर्तों को ब्याज के छिलकों की तरह अनावृत्त कर नारी हृदय की नग्न प्रतिमा-प्रेम को आलोकित कर दिखाया है।

प्रसाद के संवाद-शिल्प की दूसरी प्रयोगशीलता उनकी इस प्रज्ञा में है कि वे यह भली भांति समझते हैं कि नाट्य कला एक मिश्रित कला है। प्रसाद ने अपने

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक - पृ. 516
2. वही - पृ. 714

संवादों के द्वारा केवल घटना व्यापार की रेलपेल एवं पात्रों की उछलकूद को ही चित्रित नहीं किया, अपितु जीवन के कोमल पक्ष को गीतों की मृदु झंकार में अभिव्यक्ति प्रदान की। उनके गीतों के द्वारा उनके नाटकों में एक ऐसे वातावरण की सृष्टि हुई है जिसमें देश काल आदि से अविच्छिन्न होकर अन्तरात्मा कुछ क्षण के लिये रमण करना चाहती है। अन्ततः उसका लक्ष्य भी आनन्द ही है।

'स्वगत कथन' अश्राव्य संवाद का भेद है। नाटक के पात्र अनेक स्थलों पर अकेले में स्वयं अपने से ही वार्तालाप करते दृष्टिगत होते हैं जिसे 'स्वगत कथन' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। 'स्वगत-कथनों' की सहायता से पाठक अथवा दर्शक नाटक के पात्रों के आंतरिक विचारों से अवगत हो जाते हैं। जब पात्रों की अन्तर्दशाओं को सामान्य संवादों द्वारा प्रेषित नहीं किया जा सकता तब स्वगत कथनों के माध्यम से चरित्रगत मनोदशाओं को अभिव्यक्त किया जाता है। पात्रों के चरित्र को उद्‌घाटित करने, उनकी चारित्रिक विशेषताओं और आंतरिक संघर्ष से पाठकों को अवगत कराने का इससे सशक्त उपादान दूसरा नहीं है। प्रसाद के नाटकों के लगभग सभी प्रमुख पात्र चारित्रिक अन्तर्द्वन्द्व से घिरे हुए हैं और उनका चरित्र उनके सामान्य संवादों से स्पष्ट नहीं हो पाता। सहृदय उनके स्वगत कथनों की सहायता से ही उनके चारित्रिक अन्तर्द्वन्द्व से अवगत हो कर उनसे आत्मीय संबंध स्थापित कर पाते हैं। स्वगत कथनों द्वारा ही उनके नाटकों में पात्रों का द्वन्द्व और चरित्र की मनोदशाओं का चित्रण सफलतापूर्वक हुआ है।

उदाहरणार्थ, 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में 'ध्रुवस्वामिनी' के इस 'स्वगत-कथन' में मार्मिक मनोदशा का चित्रण है - "सीधा तना हुआ, अपने प्रभुत्व की साकार

कठोरता, अभ्रभेदी उन्मुक्त शिखर और इन क्षुद्र कोमल निरीह लताओं और पौधों को इसके चरण में लौटना ही चाहिए न।"[1] ध्रुवस्वामिनी के हृदय की व्यथा और विक्षोभ उपर्युक्त स्वगत-कथन में व्यक्त हुए हैं। इसी प्रकार 'स्कन्दगुप्त' नाटक में 'देवसेना' की वैयक्तिक संवेदनाओं का करुण स्वर निम्न स्वगत कथन में देखा जा सकता है - "हृदय की कोमल कल्पना, सो जा। जीवन में जिसकी संभावना नहीं, जिसे द्वार पर आए हुए लौटा दिया था, उसके लिए पुकार मचाना क्या तेरे लिए कोई अच्छी बात है? आज जीवन के भावी सुख, आशा, और आकांक्षा - सबसे मैं विदा लेती हूँ।"[2] वहाँ देवसेना के वियोग स्थिति का चित्रण किया गया है।

भारतीय परम्परा के अनुरूप प्रसाद ने कहीं तो पात्र द्वारा 'स्वगत-कथन का प्रयोग भावी अथवा अतीत की घटनाओं की सूचना देने के लिए अन्य पात्रों की उपस्थिति में ही किया है और कहीं पश्चिमी विधान के अनुरूप पात्र की मनोदशाओं के स्पष्टीकरण के लिए। मनोविज्ञान की दृष्टि से तो इन स्वगत कथनों का महत्त्व स्वयं सिद्ध है। इनके माध्यम से सहज ही पाठकों अथवा दर्शकों का पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व एवं चरित्र से तालमेल बैठ जाता है। प्रसाद के नाटकों में जो चरित्र उभरे हैं वे शील, शक्ति और औदात्य के प्राणवन्त उदाहरण हैं और स्वगत-कथनों द्वारा पात्रों के शील स्वभाव की व्यंजना अत्यंत सफल ढंग से की गई है। 'स्कन्दगुप्त' नाटक के प्रारंभ में ही स्कन्दगुप्त के स्वगत कथन में नायक की स्वाभाविक उदासीनता एवं वीरता के साथ-साथ उसकी कर्त्तव्य-भावना, शिष्टता और विनय

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी - पृ. 747
2. वही - पृ. 556

का परिचय मिल जाता है - "अधिकार सुख कितना मादक और सारहीन है। अपने नियामक और कर्त्ता समझने की बलवती स्पृहा उससे बेगार कराती है। उत्सवों में परिचारक और अस्त्रों में ढाल से भी अधिकार - लोलुप मनुष्य क्या अच्छे हैं? ऊँह! जो कुछ हो हम तो साम्राज्य के एक सैनिक हैं।"[1] इस प्रकार के स्वगत कथनों द्वारा स्कंदगुप्त की चरित्रगत विशेषताओं का सुन्दर स्पष्टीकरण हुआ है। आन्तरिक भावना और विचारों के क्षणों में प्रसाद अपने पात्रों को मंच पर आत्म-विश्लेषण के लिए तैयार करते हैं। आत्म-विश्लेषण के लिए प्रसाद ने स्वगत-कथनों का ही सहारा मुख्य रूप से ग्रहण किया है। वस्तुतः प्रसाद के नाटकों में स्वगत कथन चरित्रांकन की महत्वपूर्ण विधि हैं। उनके नाटकों के पात्र चाहे वे गंभीर पात्र ही क्यों न हो, इस प्रवृत्ति से बच नहीं पाए है और यथावसर स्वगत-कथनों द्वारा अपने अन्तर्द्वन्द्व व मनोविज्ञान से दर्शकों एवं पाठकों का परिचय करा देते हैं।

ध्रुवस्वामिनी के मन का ऊहापोह, स्कन्दगुप्त का विरक्ति मिश्रित अवसाद, देवसेना की आत्मयातना, मालविका की मर्मान्तक करुणा, कोमा के कोमल मन का उद्वेग आदि विलक्षण मानसिक स्थितियों का वास्तविक प्रत्यक्षीकरण 'स्वगत कथनों के माध्यम से ही संभव हो पाया है। इन 'स्वगत-कथनों के माध्यम से ही जयशंकर प्रसाद पात्रों की चारित्रिक ग्रंथियों को दर्शकों एवं पाठकों के समक्ष रख पाने में समर्थ हो पाए हैं।

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी - पृ. 461

मोहन राकेश ने नाट्य-भाषा के क्षेत्र में अनेक नये प्रयोग किए। उन्होंने अपने नाटकों में स्वाभाविक एवं पात्रानुकूल साधारण भाषा का प्रयोग किया है। उन्होंने भाषा के स्वाभाविक संवेदनात्मक प्रयोगों से नाटक को समकालीन संवेदनाओं से जुड़ाने का प्रयत्न किया है। इसके लिए उन्होंने शब्द, ध्वनि, बिम्ब, प्रतीक आदि अनेक माध्यमों को अपनाया। उनकी भाषा में रंगमंचीयता के सारे गुण विद्यमान हैं। वे नये नाट्य शब्दों का प्रयोग करने में भी सजग हैं। 'आषाढ़ का एक दिन', एवं 'लहरों के राजहंस' की भाषा नाट्यानुभूति से युक्त है। 'आधे-अधूरे' और 'पैर तले की ज़मीन' की भाषा टूटी-फूटी है।

'आषाढ़ का एक दिन' की भाषा में संस्कृत की झलंक इधर-उधर है। इसका कारण यही है कि एक काल विशेष की पृष्ठभूमि रखने के कारण अपेक्षित यथार्थ भ्रम की सृष्टि के लिए ही ऐसा किया गया है। इसमें राकेश ने कालिदास के द्वारा जिस भाषा का प्रयोग कराया है वह अत्यंत प्रासंगिक एवं पात्रानुकूल है। कालिदास की भाषा अत्यन्त प्रौढ़ एवं व्यंग्य रूप से प्रस्तुत है। नाटक में सर्वत्र प्रेम भावना से ओतप्रोत भाषा का प्रयोग देखा जा सकता है। मल्लिका और कालिदास, मल्लिका और अम्बिका, विलोम और मल्लिका आदि पात्रों के बीच प्रयुक्त भाषा बहुत ही भावना समृद्ध है।

नाटक की भाषा में व्यंग्य की झलक भी है। विलोम और अम्बिका इस प्रयोग में सफल निकले हैं। इन दोनों की उक्तियाँ व्यंग्यरूप में ही प्रकट है। नाटक में कई स्थानों पर श्लेष का भी प्रयोग हुआ है। इसमें लक्षण और व्यंजना भी प्राप्त

होती है। विलोम और कालिदास के बीच की भाषा द्वन्द्वात्मक है। वे निकट मित्र के रूप में बाहर से देखने पर भी अन्दर से वे मीलों दूरी पर है।

"कालिदास : आजकल किस नये छन्द का अभ्यास कर रहे हो?

विलोम : छन्दों का अभ्यास मेरी वृत्ति नहीं है।

कालिदास : मैं जानता हूँ तुम्हारी वृत्ति दूसरी है।... छन्दों का अभ्यास सर्वथा छुड़ा दिया है।

विलोम : आज निःसन्देह तुम छन्दों के अभ्यास पर गर्व कर सकते हो। ....सुना है राजधानी से निमंत्रण आया है।

कालिदास : सुना मैंने भी है। तुम्हें दुःख हुआ।"[1]

इन भाषा - प्रयोगों द्वारा कालिदास और विलोम के बीच का मानसिक द्वन्द्व व्यक्त होता है। इस नाटक की भाषा जीवन्त, परिष्कृत, सहज और प्रवाहमयी है। इसके बारे में यह कहना उचित है कि प्रस्तुत नाटक की भाषा कथ्यानुकूल, प्रसंगानुकूल तथा युगानुकूल है।

'लहरों के राजहंस' नाटक में भी राकेश का अपूर्व शब्द प्रयोग उपलब्ध है। इस नाटक की मूल संवेदना के अनुकूल भावों और विचारों का वहन भाषा करती है। नाटक की शब्दावली अर्थ व्यंजक है। राकेश ने संस्कृत शब्द का प्रयोग भी इधर-उधर किया है। इस नाटक में शब्दों और ध्वनियों का खूब संयोजन हुआ है।

---

1. नेमिचन्द्र जैन (सं) - मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक - पृ. 50

इसमें नेपथ्य की भी एक भाषा है। श्यामांग की कराह नेपथ्य में सुनकर मन की विवशता को करुण बिम्बों की सर्जना अभिव्यक्त करती है। यह इस नाटक को अधिक प्रभावोत्पादक बनाते हैं।

सुन्दरी की भाषा प्रश्न संकुल है। यह भाषा प्रयोग उसकी आंतरिक तनाव, द्वन्द्व और दर्प की अनुभूति व्यक्त करती है। इसमें प्रणय प्रसंग अत्यन्त प्रभावोत्पादक भाषा से प्रकट होते हैं। यहाँ भिन्न मनःस्थितियों वाली परिस्थिति को व्यक्त करने वाली शब्दावली का प्रयोग हुआ है। भाषा की दृष्टि से यह एक जीवन्त नाटक है। राकेश ने पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व को ध्वनित करने के कारण भाषा सजीवता, आत्मीयता और जीवन्तता को प्रस्तुत करने में सफल निकली है।

'आधे-अधूरे' राकेश का तीसरा महत्वपूर्ण नाटक है जिसमें राकेश की नाट्य भाषा की तलाश का अंतिम रूप प्रकट है। राकेश ने इस नाटक में जीवन्त भाषा का प्रयोग किया है। राकेश ने पहले दो नाटकों में संस्कृत युक्त एवं काव्यमयी भाषा का प्रयोग किया है लेकिन तीसरे नाटक में आकर परम्पराओं से दूर हटकर जीवन व्यवहार की भाषा को प्रस्तुत किया है। एक मध्यवर्गीय परिवार के लोगों के लिए अनुयोज्य रोचक भाषा का प्रयोग इसमें हुआ है।

इस नाटक में इधर-उधर मुहावरों का प्रयोग भी मिलता है। समकालीन मुहावरों के द्वारा पात्रों की यथार्थ स्थिति का चित्रण हुआ है। महेन्द्रनाथ इस नाटक का प्रमुख पुरुष पात्र होते हुए भी उसे 'सिर्फ एक रबड़ का टुकड़ा' कहा गया है। आज मनुष्य भीड में पड़कर पिस रहा है। उसे अपने बारे में भी सोचने के लिए

समय नहीं। अब मनुष्य में इन्सानियत नहीं है। इन सभी कारणों से रबड़ स्टैंब कहा है। महेन्द्र आधुनिक मानव का यथार्थ प्रतीक है। पात्रों के तनाव आक्रोश, भ्रम, संघर्ष, द्वन्द्व, कुंठा आदि प्रकट करने में जिस भाषा का प्रयोग किया है वह अत्यन्त रोचक है। इसमें शब्द प्रयोग ही नाटक की रचना प्रक्रिया की आधारशिला है। इसकी भाषा बोलचाल की होने के कारण अकृत्रिम एवं प्रवाहमयी है। साधारण भाषा होने पर भी उसका अर्थ अत्यन्त सार्थक है। नाटक में 'होड़' और 'हूँ' आदि शब्द प्रयोग मात्र ध्वनि नहीं बल्कि पात्रों के मन के बिखराव और आक्रोश को प्रकट करता है। इसकी भाषा आधुनिक जीवन के एक गहन अनुभव खंड को मूर्त करती है।

इस नाटक की शब्द शक्ति के संबंध में डॉ. गोविन्द चातक का कथन है - "एक-एक शब्द मनःस्थितियों का पुंज सा बना हुआ अवचेतन में पड़ा है; जुबान पर आते ही वह अर्थ के कई स्तरों को खोलने लगता है। आधे-अधूरे में ऐसे भावगर्भित शब्दों की प्रचुरता है। सामान्य से शब्द जैसे वह (वह आज फिर आएगा), कहीं (तुम कहीं जा रहे हो?... क्या पता कहीं और से आ रही हो), नहीं (नहीं जाता) आदमी (अच्छा.... वह आदमी), और (कोई और भी आनेवाला है), हूँ आदि ऐसे ही कुछ शब्द हैं जो सम्बोधित और सम्बोधनकर्ता के अन्तर्निहित व्यंग्य को उभारते हैं। इस प्रकार शब्द मानवीय सम्बन्धों की भाषा का निर्माण करते हैं।"[1]

"पैर तले की ज़मीन' में व्यावहारिक भाषा का प्रयोग अधिक हुआ है। नाटक के कथानक को सफलतापूर्वक व्यक्त करने में भाषा अत्यन्त सहायक हुई है।

---

1. गोविन्द चातक - आधुनिक हिन्दी नाटक का अग्रदूत : मोहन राकेश - पृ. 160

इस नाटक की एक सविशेषता भाषा की क्रियात्मकता है। मृत्यु को सामने देखनेवालों की सम्पूर्ण मनःस्थितियाँ व्यक्त करने में राकेश की भाषा सफल हुई है।

राकेश के नाटकों में छोटे-छोटे संवादों द्वारा ही पात्रों की मनःस्थिति की पूरी व्यंजना हुई है। नाटक के संवादों में चुस्त शब्द प्रयोग नाटक को नये सोपान पर पहुँचा देता है। इस प्रकार के छोटे संवादों से पात्रों का मानसिक संत्रास व्यक्त होता है। मन के बीच मतभेद होने के कारण छोटे संवाद का सहारा लेते हैं। राकेश ने संवाद योजना में अनेक नये-नये प्रयोग किए हैं।

'आषाढ़ का एक दिन' में कालिदास का स्वगत कथन अत्यंत सहज एवं मार्मिक है। वर्षों के वियोग के बाद एक परिवर्तित परिवेश में अपने प्रियतम को देखकर मल्लिका का वह स्वगत कथन है - "आज वर्षों के बाद तुम लौटकर आये हो! सोचती थी तुम आओगे तो उसी तरह मेघ घिरे होंगे, वैसा ही अँधेरा-सा दिन होगा, वैसे ही एक बार वर्षा में भीगूँगी और तुमसे कहूँगी कि देखों मैंने तुम्हारी सब रचनाएं पढ़ी हैं.... सोचती थी तुम्हें 'मेघदूत' की पंक्तियाँ गा-गाकर सुनाऊँगी। पर्वत शिखर से घण्टा ध्वनियाँ गूँज उठेंगी और मैं अपनी यह भेंट तुम्हारे हाथों में रख दूँगी....।"[1] स्वगत कथन से मल्लिका की हृदय गति सहज ही अभिव्यक्त हो जाती है।

'लहरों के राजहंस' नाटक में पात्रों की व्यक्तिगत मनःस्थिति को उजागर करने में स्वगत कथन अत्यंत सहायक हैं। इसमें स्वगत कथन दो रूपों में प्रस्तुत

---

1. नेमिचन्द्र जैन (सं) - मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक - पृ. 65

हैं। एक संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत है। दूसरे लम्बे भाषण के रूप में। श्यामांग उद्‌भ्रान्त सा स्वगत रूप में कहता है- "....पत्तियाँ श्यामांग के लिए छोड़ दो! श्यामांग से पत्तियाँ न सुलझी; तो कामोत्सव नहीं होगा!.... श्वेतांग कहता है कुछ सोचो नहीं। ....पर सोचना न सोचना अपने बस की बात है?.... पिछले वसन्त में आम कैसे बौराये थे। पेड़ों की डालियाँ अपने आप हाथों पर झुक आती थी। ....परन्तु तब यहाँ कामोत्सव का आयोजन नहीं किया गया। आयोजन किया गया है इस बार.... जब आम के वृक्षों ने भिक्षुओं का वेश धारण कर रखा है! ....कल प्रातः देवी यशोधरा भिक्षुणी के रूप में दीक्षा ग्रहण करेंगी और यहाँ... रात भर, नृत्य होगा, आपानक चलेगा....।"[1] श्यामांग का प्रलाप प्रसंग इस नाटक का मुख्य प्रसंग है। यह स्वगत उसकी आंतरिक पीड़ा का द्योतक है। नन्द भी स्वगत कथन का द्वारा उसके हृदय की व्यथा प्रकट करता है। इसके साथ उसके मन की अस्वस्थता, चुनाव की व्यथा आदि व्यक्त होती है। स्वगत-कथन का प्रयोग राकेश ने 'आधे-अधूरे' में भी किया है। स्वगत में भी गहन नाटकीयता लाने का राकेश का प्रयत्न श्लाघनीय है।

वाक् अभिनय की दृष्टि से दोनों (प्रसाद एवं राकेश) के पात्र स्वगत का प्रभावशाली मंचीय प्रयोग करते हैं। वे खाली मंच पर पात्र को स्थापित ही नहीं करते वरन् दृश्य के काव्यात्मक प्रभाव के निर्माण तथा चरम की सिद्धि में भी सहायक होते हैं। अधिकांश स्वगत कथनों की योजना या तो दृश्य के प्रारंभ में हुई

---

1. नेमिचन्द्र जैन (सं) - मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक - पृ 131

है जब पात्र एकांकी होता है या फिर अंत में जब उसे सब छोड़कर चले जाते हैं। 'अजातशत्रु' में बिम्बिसार का स्वगत (1/5), मागंधी का स्वगत (1/5), जीवक का (1/6) विरुद्धक का (1/8) तथा राकेश के प्रथम नाटक के तीसरे अंक में कालिदास का तथा तीसरे नाटक के प्रारंभ में पुरुष एक का स्वगत इसी श्रेणी के हैं।

प्रसाद और राकेश के नाटकों में स्वगत कथन का प्रयोग सशक्त रूप में हुआ है। दोनों के नाटकों के पात्र अन्तर्द्वन्द्व से युक्त हैं, फिर भी उनका व्यक्तित्व स्पष्ट प्रभावशाली है और यह स्पष्टता स्वगत कथनों के कारण आई है। स्वगत-कथनों ने पात्रों के चरित्र एवं चारित्रिक अन्तर्द्वन्द्व को उजागर करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। पात्रों के चरित्रों में मानव अन्तः करण की विविध मनोवृत्तियों का विश्लेषण है। जीवन की आदर्श स्थिति के साथ उसकी यथार्थता का मनोहर रूप भी मनोवैज्ञानिक रूप में अंकित है। पात्रों की चारित्रिक महत्ता अथवा हीनता उनके स्वगत कथनों द्वारा पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है।

अतः निस्संदेह यह कहा जा सकता है कि स्वगत कथनों की सहायता से नाटक के पात्रों का चरित्र, चाहे देवसेना हो या स्कन्दगुप्त, कालिदास हो या मल्लिका, स्पष्टतर होता गया है और उनके चारित्रिक संघर्ष ने स्वगत कथनों द्वारा व्यक्त होकर पात्रों के चरित्र को और अधिक सबलता प्रदान की है।

अन्तर्द्वन्द्व

अन्तर्द्वन्द्व मानव मन की यथार्थता का परिचायक है। जब हम विषम परिस्थितियों में पड़ जाते हैं, तब स्वभावतः हमारे मस्तिष्क में अनेक प्रकार के

विचार उठने लगते हैं और हम आसन्न विषमता को सुलझाने के लिए विभिन्न रूपों में सोचते हैं। नाटक में जब विशिष्ट पात्रों में अन्तर्द्वन्द्व की सृष्टि की जाती है तब वे अपनी स्वाभाविक स्थिति में दिखाई पड़ते हैं और उनका प्रभाव दर्शकों के हृदय पर विशेष रूप से पड़ता है। नाटक की प्रभावोत्पादकता एवं यथार्थता के लिए पात्रों में स्वाभाविक अन्तर्द्वन्द्व की सृष्टि नितान्त आवश्यक है।

प्रसाद को जहाँ भी अवसर मिला है, अपने नाटकीय पात्रों में उन्होंने अन्तर्द्वन्द्व दिखाने का प्रयत्न किया है। 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' और 'अजातशत्रु' नाटकों के अनेक स्थल उत्कृष्ट अन्तर्द्वन्द्व के परिचायक हैं। प्रथम दो नाटक तो अन्तर्द्वन्द्व प्रधान ही है। अन्तर्द्वन्द्व की सृष्टि ने प्रसाद के नाटकों को अत्यधिक प्राणवान, स्वाभाविक और प्रभावपूर्ण बना दिया है।

'अजातशत्रु' नाटक में अन्तर्द्वन्द्व के कई स्थल है। श्यामा गौतम बुद्ध से प्रतिशोध लेना चाहती है क्योंकि गौतम बुद्ध ने उसे स्वीकार नहीं किया। श्यामा अपने रूप का अपमान सह नहीं सकती। इसीलिये वह गौतम बुद्ध को चरित्रहीन सिद्ध करने का षड्यंत्र रचती है। जब षड्यंत्र सफल नहीं हो पाता, तब वह महल में आग लगाकर, अपने जल जाने का झूठा प्रचार कर महल से भाग जाती है और शैलेन्द्र की शरण में आती है। अब वह उदयन की रानी मागन्धी नहीं रही, अब वह श्यामा वेश्या बन गयी है। श्यामा के रूप में उसके विचारों का द्वन्द्व दृष्यव्य है - "संसार किसी भयानक समस्या में निमग्न सा प्रतीत होता है। किन्तु मैं शैलेन्द्र से मिलने आयी हूँ - वह डाकू है तो क्या, मेरी भी अतृप्त वासना है। मागन्धी! चुप, वह नाम क्यों लेती है। मागन्धी कौशाम्बी के महल में आग लगाकर जल मरी-अब

तो मैं श्यामा, काशी की प्रसिद्ध वार-विलासिनी हूँ। बड़े-बड़े राजपुरुष और श्रेष्ठी इसी चरणों को छूकर अपने को धन्य समझते हैं। धन की कमी नहीं, मान का कुछ ठिकाना नहीं, राजरानी होकर और क्या मिलना था, केवल सापत्य ज्वाला की पीड़ा।"[1] यहाँ प्रतिशोध की भावना से श्यामा अत्यधिक नीचे गिर गई है। उसके हृदय में अपने मागंधी रूप और श्यामा रूप को लेकर अन्तर्द्वन्द्व चलता है, पर उद्देश्यपूर्ति के हेतु वह अपने श्यामा रूप को ही अधिक महत्त्व देती है।

प्रसाद के सर्वश्रेष्ठ नाटक 'चन्द्रगुप्त' तो अन्तर्द्वन्द्व का अक्षय कोश है। इसके प्रायः सभी अन्तर्द्वन्द्व से ग्रस्त हैं। महान प्रतिभाशाली चाणक्य तक कई स्थानों पर अन्तर्द्वन्द्व से आक्रान्त है। जब वह अपने जन्म स्थान को उजड़ा हुआ देखता है, तो उसका हृदय दुःख से भर जाता है। वह सोचता है - "पिता का पता नहीं, झोपड़ी भी न रह गई। सुवासिनी अभिनेत्री हो गई - संभवतः पेट की ज्वाला से। एक साथ दो-दो कुटुम्बों का सर्वनाश और कुसुमपुर फूलों की सेज में ऊँघ रहा है। क्या इसलिए राष्ट्र की शीतल छाया का संगठन मनुष्य ने किया था? मगध! मगध! सावधान! इतना अत्याचार सहना असंभव है। तुझे उलट दूँगा। नया बनाऊँगा, नहीं तो नाश ही करूँगा। (ठहरकर) एक बार चलूँ नन्द से कहूँ। परन्तु मेरी भूमि, मेरी वृत्ति, वही मिल जाये, मैं शास्त्र व्यवसायी न रहूँगा, मैं कृषक बनूँगा। मुझे राष्ट्र की भलाई-बुराई से क्या? तो चलूँ।"[1] चाणक्य अपने ऐसे कथनों में ही स्वाभाविक मानव प्रतीत होता है। यदि प्रसाद उनमें अन्तर्द्वन्द्व न दिखाते, तो वह महामानव के रूप में होता और दर्शक उससे अपना तादात्म्य स्थापित न कर पाते।

---

1. प्रसाद - प्रसाद के सम्पूर्ण नाटक एवं एकांकी - पृ. 631

नाटक का नायक चन्द्रगुप्त कई स्थलों पर अन्तर्द्वन्द्व से जूझता है। जिस समय उसके माता-पिता असंतुष्ट होकर चले जाते हैं, उस समय वह चाणक्य के अत्यधिक हस्तक्षेप का विरोध करने लगता है - "जागरण का अर्थ है कर्मक्षेत्र में अवतीर्ण होना और कर्मक्षेत्र क्या है? जीवन संग्राम! किन्तु भीषण संघर्ष करके भी मैं कुछ नहीं हूँ। मेरी सत्ता एक कठपुतली सी बन गई है। तो फिर मेरे पिता, मेरी माता, इनका तो सम्मान आवश्यक था। वे चले गये, मैं देखता हूँ कि नागरिक तो क्या, मेरे आत्मीय भी आनन्द मनाने से वंचित किये गये। वह परतंत्रता कब तक चलेगी?"[1] चन्द्रगुप्त एक वीर एवं साहसी योद्धा है, उपर्युक्त अन्तर्द्वन्द्व उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व का परिचायक है।

पुरुष पात्रों के साथ ही नारी पात्रों में भी प्रसाद अन्तर्द्वन्द्व की सृष्टि करते चलते हैं। नारी स्वभाव से, कोमल एवं सहृदय होती है, इसलिए विषम परिस्थिति आने पर वह बहुत ही शीघ्र अन्तर्द्वन्द्व से ग्रस्त हो जाती है। अलका जैसी विदुषी भी अन्तर्द्वन्द्व से आक्रान्त है। जिस समय वह चन्द्रगुप्त और चाणक्य को सिल्यूकस के साथ देखती है, उसका हृदय संदेह से भर जाता है। वह सोचती है - "जब आँधी और करका - 'वृष्टि' अवर्षण और दावाग्नि का प्रकोप हो, तब देश की हरी-भरी खेती का रक्षक कौन है? शून्य व्योम प्रश्न को बिना उत्तर दिये लौटा देता है। ऐसे लोग भी आक्रमणकारियों के चंगुल में फंस रहे हो तब रक्षा की क्या आशा ? झेलम के पार सेना उतरना चाहती है। उन्मत्त पर्वतेश्वर अपने विचारों में मग्न है।

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी - पृ. 715

गांधार छोड़कर चलूँ, नहीं, एक बार महात्मा दाण्डयायन को नमस्कार कर लूँ, उस शान्ति-संदेह से कुछ प्रसाद लेकर तब अन्यत्र जाऊँगी।"[1] सही-गलत के चुनाव करने में असमर्थ अलाका के भीतरी द्वन्द्व को यहाँ चित्रित किया गया है।

'स्कन्दगुप्त' नाटक के भी प्रायः सभी प्रमुख पात्र अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति से गुज़रते हैं। नायक स्कन्दगुप्त कई स्थलों पर अन्तर्द्वन्द्व से युक्त है। एक स्थल पर वह चारों ओर अशान्ति का वातावरण देखकर, स्वयं अपने विगत कार्यों और जीवन पर विचार करता है - "इस साम्राज्य का बोझ किसके लिए? हृदय में अशांति, राज्य में अशान्ति, परिवार में अशान्ति। केवल मेरे अस्तित्व से? मालूम होता कि सबकी विश्व भर की शान्ति रजनी में मैं ही धूमकेतु हूँ, यदि मैं न होता तो यह संसार अपनी स्वाभाविक गति से, आनन्द से, चला करता। परन्तु मेरा निज का कोई स्वार्थ नहीं, हृदय के एक-एक कोने को छान डाला-कहीं भी कामना की वन्या नहीं। बलवती आशा की आँधी नहीं चल रही है। केवल गुप्त सम्राट के वंशधर होने की दयनीय दशा ने मुझे इस रहस्यपूर्ण क्रिया-कलाप में संलग्न रखा है। कोई भी मेरे अन्तः करण का आलिंगन करके न रो सका है, और न तो हँस सका है। तब भी विजया....? ओह! उसे स्मरण करके क्या होगा? जिसे हमने सुख-शर्वरी की संध्या तारा के समान पहले देखा, वही उल्कापिण्ड होकर दिगन्त दाह करना चाहती है। विजया! तूने क्या किया?"[2]

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी - पृ. 650
2. वही - पृ. 514

इस कथन में एक और वह अपने को ही अशान्ति का कारण समझता है, पर दूसरी ओर जब वह यह सोचता है कि मेरे कार्यों में कहीं भी मेरा स्वार्थ नहीं है - तब वह अपने को दोष मुक्त पाता है। इसके बाद वह अपने जीवन पर दृष्टि डालता हुआ सोचता है कि मेरा कोई आत्मीय नहीं। इसी क्रम में विजया के विषय में भी सोचने लगता है। उसके विचार कई ओर जाते हैं और वह अपनी एक निश्चित धारणा में निबद्ध नहीं रह पाता।

'स्कन्दगुप्त' नाटक की विजया ऐश्वर्य - अभिलाषिनी पात्र है। यह महत्वाकांक्षी पुरुष को ही अपना जीवन साथी बनाना चाहती है - पहले वह स्कन्दगुप्त की ओर आकृष्ट होती है, पर जब उसमें साम्राज्य के प्रति विरक्ति देखती है, तब वह भटार्क से अपने को जोड़ लेती है। विजया यह समझती है कि वह देश - सेवा नहीं कर सकती, पर उसे स्कन्दगुप्त को आकृष्ट करना है, इसलिए वह राष्ट्रप्रेम का ढोंग रचना चाहती है। बीच में देवसेना को बाधक समझकर उसमें प्रतिहिंसा की भावना भी जागृत होती है। यह अन्तर्द्वन्द्व ऐश्वर्य अभिलाषिनी नारी की बड़ी स्वाभाविक मनःस्थिति को हमारे सामने प्रस्तुत करता है।

प्रसाद के नाटकों में निहित अन्तर्द्वन्द्व पात्र को मानवीय भूमिका प्रदान करता है। अन्तर्द्वन्द्व में उलझा हुआ पात्र दर्शकों को अपने बीच का सदस्य प्रतीत होता है। सुख-दुःख का प्रभाव जिस प्रकार सामान्य व्यक्ति पर पड़ता है, उसी प्रकार नाटकों के पात्र पर पड़ता हुआ देखकर दर्शक उससे अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है और उसकी भावना पात्र के साथ जुड़ जाती है।

मोहन राकेश में द्वन्द्व के विविध आयाम मिलते हैं। कहीं व्यक्ति का सत्ता से द्वन्द्व है तो कहीं धार्मिक संस्था अथवा परिवार नामक संस्था से। कहीं वह स्वयं से ही संघर्षरत है। वस्तुतः नाटकों में राजव्यवस्था और कलाकार का द्वन्द्व, व्यक्ति और विवाह संस्था का द्वन्द्व, व्यक्ति और समाज संस्था का द्वन्द्व, समय और इच्छा का द्वन्द्व, स्त्री-पुरुथ संबंधों का द्वन्द्व, यथार्थ और भावना का द्वन्द्व, आध्यात्मिक आकर्षण (निवृत्ति) और प्रवृत्ति का मूल्यांत्मक द्वन्द्व, अनस्तित्व और अस्तित्व का द्वन्द्व, आस्था और अनास्था का द्वन्द्व, आधुनिक व्यक्ति और परिवार संस्था का द्वन्द्व, व्यक्ति स्वातंत्र्य और परम्परागत स्थापित मूल्यों में द्वन्द्व, परम्परागत नैतिकता और आधुनिक जीवन मूल्यों का द्वन्द्व उभर कर आया है।

'आषाढ़ का एक दिन' में राकेश व्यक्ति के विभाजित मन को दर्शाकर लेखक की दुविधा को व्यंजित करना चाहते थे। स्वयं नाटककार का कथन है - "मैं इस नाटक में आज के लेखक की दुविधा को चित्रित करना चाहता था - लेखक, जो राज्य या इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं द्वारा प्रस्तापित लोभ के प्रति आकर्षित होता है और दूसरी ओर कहीं अपने प्रति भी प्रतिबद्ध होता है।"[1]

जीवन जीने के लिए बहुत कुछ चाहिए, उस बहुत कुछ का ही अंग है - भावना और बाह्य उपलब्धि। मल्लिका ने भावना को सर्वस्व मान लिया और कालिदास ने बाह्य अलंकरण को। दोनों ने ही दो भिन्न-भिन्न धरातलों को जीवन का पाथेय मान शेष से आँखें मूंद ली, जिसका परिणाम दोनों के लिए विनाशकारी

---

1. मोहन राकेश - साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि - पृ. 164

साबित हुआ। व्यक्ति भावशून्यता की स्थिति में बहुत अधिक समय तक नहीं जी सकता। उसके लिए भावलोक की बहुत अधिक उपेक्षा हितकर नहीं। दोनों में सामंजस्य की आवश्यकता है और इसी सामंजस्य को स्थापित न कर पाने के कारण मल्लिका, कालिदास निरन्तर द्वन्द्वग्रस्त रहते हैं।

'लहरों के राजहंस' नाटक का सारा ताना-बाना मनुष्य की दो भिन्न-भिन्न प्रकार की आंतरिक आवश्यकताओं में से किसी एक का चयन न कर पाने की दुविधा को रेखांकित करने का प्रयास है। भोगवादी संस्थान का प्रतीक सुन्दरी का सारा प्रयास ऐसी स्थितियाँ निर्मित करने का रहता है जिससे नंद उसी के आकर्षण में बँधा रहे। सुन्दरी का अहं भाव उसे नन्द पर अधिकार स्थापित करने के लिए प्रेरित करता है, उसकी यह अधिकार लालसा ही संघर्ष को जन्म देती है। दर्पगर्विता सुन्दरी अपनी निजी सत्ता स्थापित करने के प्रयास में निरन्तर टूटती है क्योंकि उसकी सार्थकता नन्द के ही संदर्भ में है, उसका संपूर्ण प्रयास नन्द को अपने तक सीमित रखने का ही है जबकि नन्द के लिए उससे बाहर भी जगत की सत्ता है। नन्द तमाम तरह की सांस्थानिकता का निषेध करते हुए अपने लिए एक सार्थक जीवन की खोज करना चाहता है। उसकी एकमात्र अपेक्षा है उसे उसके रूप में समझा जाए। नन्द की यह मनोदशा अंत तक चलती है - वह इस अन्तर्मथन से गुज़रता रहता है।

'आधे-अधूरे' नाटक के संबंध में मोहन राकेश का मत है "यह शहर के एक मध्यवर्गीय परिवार की कहानी है, जिसे परिस्थितियाँ निचले वर्ग की ओर धकेल रही हैं, उनके जोश, पराजय, इच्छाएं, संघर्ष और इसके साथ-साथ स्थिति

का हाथ से फिसलते जाना सब कुछ इसमें दिखाने की कोशिश की है।"[1] नाटक में प्रश्न 'घर की तलाश' के साथ-साथ उसके स्थायित्व का है, आत्मीयता के निरंतर गहन होते रहने का है, उसके चूक जाने की स्थिति घातक है जिसका परिणाम 'आधे-अधूरे' का परिवार है। घर से मिलने वाली सुरक्षा, संपृक्ति, स्नेह, अपनेपन का प्रश्न है जिसके द्वारा व्यक्ति के संस्कार निर्मित होते हैं, उसका व्यक्तित्व एक निश्चित आकार ग्रहण करता है। 'घर' विपरीत परिस्थिति से उसकी रक्षा कर उसे आश्रय देता है, उसे उसके वास्तविक रूप में स्वीकार करता है, उसे अपनी सामर्थ्य एवं शक्ति से समाज के एक जागरूक सदस्य की भूमिका निभाने की प्रेरणा देता है। इस नाटक में संबंधों में द्वन्द्व उभरा है जिसका मूल कारण आपसी समझदारी, समझौते का अभाव आदि है और जब तक परिस्थितियों को परिवर्तित करने का प्रयास नहीं किया जायेगा तब तक द्वन्द्व अपरिहार्य है।

कमलेश्वर द्वारा पूर्ण 'पैर तले की ज़मीन' नाटक मोहन राकेश की प्रयोगधर्मिता का नवीन आयाम उद्‌घाटित करता है। आधुनिक सभ्यता के प्रतीक तथाकथित संभ्रांत वर्ग के लोग जो कि स्वच्छंद जीवन जीने की आकांक्षा लिए हैं, 'बार' में आते हैं अपने अपने जीवन की रिक्तता, कडुवाहट को मिटाने के लिए, भुलाने के लिए। बाढ़ के कारण क्लब के चारों ओर पानी ही पानी है, ऐसे में सबको अपने जीवन रक्षा की चिन्ता है, इसी घटना को विशिष्टता देकर व्यक्तियों के ढोंग को उभारा है। मृत्यु को निकट पाकर वे आत्म स्वीकृति के क्षणों से गुज़रते हैं। नाटक

---

1. मोहन राकेश - साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि - पृ. 172

जीवन के व्यक्तित्व के दोहरेपन, को उजागर करते हुए व्यक्ति की निम्नतर वृत्तियों, विसंगति, निरर्थकता, भय, बेबसी, पीड़ा का परिचय देती है। यहाँ सभी पात्र आस्तित्विक संकट झेल रहे हैं क्योंकि व्यक्ति को स्थिरता देने वाली 'पैर तले की ज़मीन' खिसकती प्रतीत हो रही है।

एक नाटककार के रूप में राकेश ने अनेक वर्गों के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण कर मनुष्य के मनोलोक का यथार्थ प्रत्यांकन किया है। अन्तर्द्वन्द्व का यह अंकन कथा के विस्तार में, व्यक्ति के सामाजिक विकास में स्पष्टतः लक्षित किया जा सकता है। आधुनिक मनुष्य की समस्याओं तथा व्यक्ति के मनोलोक में पूर्व पश्चिम के द्वन्द्व का वास्तविक अंकन राकेश के नाटकों की विशेषता है।

प्रसाद एवं राकेश ने मानव के भीतर उत्पन्न होने वाले अन्तर्द्वन्द्वों को विभिन्न परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में आंकने का प्रयास किया है। नारी एवं पुरुष के मन को मथने वाली अनेक समस्याओं पर विभिन्न कोणों से दोनों नाटककारों में नज़र दौड़ाई है। दोनों नाटककारों द्वारा नियोजित सभी अन्दर्द्वन्द्व पूर्ण मनोवैज्ञानिक होने के कारण दर्शकों पर अपना गहरा प्रभाव तो डालते ही है साथ ही अनेक हृदय में आगामी वस्तु के प्रति कुतूहल की सृष्टि भी करते हैं। प्रसाद और राकेश ने अन्तर्द्वन्द्व के माध्यम से अपने नाटकों को विशेष उपादेयता प्रदान की है।

रस योजना

नाटक के तत्त्वों में भारतीय परम्परा रस को ही सर्वश्रेष्ठ मानती आई है। भारतीय नाट्य शिल्प के इस मूल सिद्धान्त का प्रसाद ने अपने नाटकों में भरपुर

प्रयोग किया है। उन्होंने अपने नाटकों में रस की महत्ता का प्रतिपादन किया है। 'राज्यश्री' में वीर रस की अवस्थिति है, जिसके दो रूपों का विकास दो प्रमुख पात्रों के माध्यम से किया गया है - हर्षवर्धन युद्ध वीर का आश्रय है और राज्यश्री दानवीर की। दानवीर का आश्रय राज्यश्री ही एवं आलम्बन है भिक्षुवर्ग। राज्यश्री के इस दान व्रत को नाटक में आद्योपान्त देखा जा सकता है। विकटतम परिस्थितियों में वीर रस के विभिन्न रूपों युद्ध वीर, दानवीर, दयावीर आदि का सृजन होता है। इसमें सेवा भावना के साग्रह अभिव्यंजन में नाटककार दो युगबोध एवं प्रयोगशील व्यक्तित्व की स्पष्ट झाँकी प्रस्तुत करता है।

'विशाख' नाटक का अंगी रस 'श्रृंगार' है। विशाख आश्रय है तथा चन्द्रलेखा आलम्बन है। आलम्बन की दैन्यमयी स्थिति तथा उसके प्रति कानीर विहार के महन्त एवं राजा नरदेव द्वारा किये गए अत्याचार उदार प्रेमी को उद्दीप्त करते हैं। विशाख का महंत सत्यशील से चन्द्रलेखा को छुड़ाने के लिये नरदेव के पास जाना, चन्द्रलेखा के साथ मधुरालाप, कविता आदि का सुनाना आदि अनुभाव है, जो आलम्बन के प्रति आश्रय के रतिभाव को मूर्त रूप देते हैं। संचारी के रूप में घृणा, शेष, चिन्ता, धृति आदि संचारी भावों की यथोचित योजना की गई है।

'अजातशत्रु' नाटक का नायक अजातशत्रु है तथा फलयोग की दृष्टि से भी उसी को साफल्य की प्राप्ति होती है। अजातशत्रु के हृदय में प्रारंभ से ही उत्साह के भाव का जागरण मगध राज्य की प्राप्ति एवं मगध राष्ट्र के प्रभा विस्तार के लिए होता है। आलम्बन के रूप में महाराज बिम्बसार, वासवी, प्रसेनजित्, आदि को ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि आश्रय की इच्छापूर्ति में द्वितीय पक्ष में ये सभी किसी

न किसी रूप में अन्तर्भुक्त हैं। अतः इस नाटक का अंगीरस वीर है। श्रृंगार उसका अंग है। इसके अतिरिक्त वसन्तक, जीवक आदि के वार्तालाप में हास्य की तथा गौतम बुद्ध, मल्लिका आदि के कार्य व्यापार में शान्त रस की भी सुन्दर व्यंजना हुई है किन्तु ये सभी वीर रस के संचारी है।

'जनमेजय का नागयज्ञ' का आश्रय जनमेजय है तथा आलम्बन के रूप में तक्षक एवं नाग जाति को मानना होगा, यद्यपि जनमेजय की कार्य सिद्धि में व्यवधान उत्पन्न करने वालों में काश्यप का स्थान गौण नहीं है फिर भी नागों द्वारा जनमेजय के पिता परीक्षित का छलपूर्ण वध सदैव उद्दीपन का कार्य करता रहता है। इस नाटक का अंगी रस वीर है एवं अंग के रूप में श्रृंगार, भयानक, करुणा आदि रसों की योजना की गई है। अंग रस की सिद्धि के लिए प्रसाद ने प्रणय-प्रसंगों की योजना के अतिरिक्त नागजाति के दारुण दहन की मनसा के शब्दों में भय एवं करुणा मिश्रित सुंदर व्यंजना की है - "बेटी! सचमुच यह बड़ा भयानक दृश्य है। इसे देखकर तो मेरा भी हृदय काँप उठा है।"[1]

'स्कन्दगुप्त' में आश्रय 'स्कन्दगुप्त' है। आलम्बन के रूप में भारतवर्ष पर आक्रमण करने वाले शक एवं हूणों तथा उन्हें सहयोग देने वाले पुरगुप्त, अनन्तदेवी, भटार्क, प्रपंचबुद्धि इत्यादि है। प्रसाद ने आश्रय के परम उत्साह को उद्रिक्त करने के लिए आलम्बन को अत्यन्त शक्तिशाली चित्रित किया है। इसमें वीर रस का स्वदेशाभिमान से अनुप्राणित रूप का अत्यंत परिपाक प्रदर्शन हुआ है। इस नाटक

---

1. जयशंकर प्रसाद - प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी - पृ. 346

में वीर रस के अंग-रूप में अन्य सभी रस समाविष्ट है, जिससे नाटक की रोचकता और बढ़ जाती है। स्कन्दगुप्त और देवसेना, भटार्क और विजया, मातृगुप्त और मालिनी आदि की प्रेम कथाओं में श्रृंगार - रस की व्यंजना हुई है। प्रपंच बुद्धि के द्वारा देवसेना की राजबलि का श्मशान दृश्य भयानक रस का उत्तम उदाहरण है। मुद्गल एवं धातुसेन की उक्तियों में हास्य रस की सुन्दर व्यंजना है। निःसंदेह वीर रस ही स्कन्दगुप्त का अंगी रस है।

'चन्द्रगुप्त' नाटक का भी अंगी रस वीर ही है, जिसका आश्रय चन्द्रगुप्त है। 'चन्द्रगुप्त' ही प्रसाद का ऐसा नाटक है, जिसमें रस की स्थिति सर्वथा स्पष्ट है। आरंभ, मध्य और अंत में वीर रस ही है। मध्य में नन्द के वध में करुणा की झलक तो है पर आततायी के वध के रूप में वह घटना वीर-रस की ही पोषक बनती है। इस नाटक की तीन मुख्य घटनाएं हैं - सिकन्दर की पराजय और निष्कासन, नन्द का वध, सिल्यूकस का पराभव। इन तीनों में पृथक रूप से भी वीर रस है और आर्यावर्त्ता के अखण्ड साम्राज्य की स्थापना के उद्देश्य की दृष्टि से विचार करें तो वीर ही सिद्ध होता है।

'ध्रुवस्वामिनी' में श्रृंगार से अनुप्राणित वीर रस की व्यंजना की गई है। वीर रस का आश्रय चन्द्रगुप्त है जो अपने शौर्य के बल पर ध्रुवस्वामिनी को आत्महत्या करने से रोकता है। आलम्बन के रूप में गुप्त कुल के गौरव की प्रतिमा ध्रुवस्वामिनी को अपनी अंक कामिनी बनाने के इच्छुक शकराज है। इसमें ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त के प्रणय की कथा भी परिणय में परिणित होकर श्रृंगार रस की सृष्टि करती है। नाटक का अंगी रस वीर है क्योंकि चन्द्रगुप्त नारी गौरव की रक्षा एवं

राष्ट्रीय सम्मान की भावना से प्रेरित हो सर्वस्व बलि करने के लिए संकट का सामना करता है तथा उस पर अपने वीरतापूर्ण कृत्यों के कारण विजयी होता है।

प्रसाद ने भारतीय इतिहास एवं पुराणों से विषय एवं पात्रों का चयनकर रस परम्परा का अपनी सभी प्रमुख कृतियों में पूर्ण रूप से निर्वाह किया है।

'आषाढ़ का एक दिन' में श्रृंगार और करुण रस की निष्पत्ति होती है। विवाह के पूर्व मल्लिका और कालिदास का, नाटक के प्रारंभ में आषाढ़ की प्रथम वर्षा में भीगना एवं प्रणय-व्यापार श्रृंगार रस की सृष्टि करता है। मल्लिका कहती है, 'मैं उसे छू सकती थी, देख सकती थी, पी सकती थी, तभी मुझे अनुभव हुआ कि वह क्या है जो भावना को कविता का रूप देता है।"[1] द्वितीय अंक में मल्लिका मूक होकर कालिदास के वियोग की वेदना सहन करती है। वहाँ वियोग श्रृंगार है। नाटक का अंत भी इसी वियोग को लेकर करुण रस में होता है।

'लहरों के राजहंस' का अंगी रस विप्रलंभ श्रृंगार ही है। श्रृंगार रस के साथ ही करुण रस का भी इसमें समावेश हुआ है। सुन्दरी के द्वारा कामोत्सव का आयोजन, नन्द का गौतम बुद्ध के पास जाना और केश काटकर दीक्षित लौटना, सुन्दरी की आकुल प्रतीक्षा और नन्द के लौटने पर उसे न पहचानना, नन्द का आखिर में अनजान दिशा की ओर लौट जाना अंततः नाटक को करुण विप्रलंभ की ओर मोड़ देता है।

---

1. नेमिचन्द्र जैन (सं) - मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक - पृ. 29

'आधे-अधूरे' में तो 'श्रृंगाराभास' अपने चरम पर है। नाटक में आदि से अंत तक घुटन, ऊब, टूटन आदि सर्वत्र हैं। ऐसी स्थिति में रस का प्रश्न हीं खड़ा नहीं होता जहाँ सावित्री, जुनेजा, जगमोहन आदि पात्रों के साथ संबंध स्थापित करती है वहाँ असामाजिक संबंधों के कारण रस निरूपण नहीं होता। नाटक घटना रहित है परन्तु सघन परिवेश से युक्त है अतः ऐसी स्थिति में रस का परिपाक होना संभव नहीं है। मनोवैज्ञानिक धरातल पर व्यक्ति को रखकर रचित राकेश की अंतिम नाट्य कृति 'पैर तले की ज़मीन' की स्थिति भी इसके समान है। इसमें भी कोई घटना घटित नहीं होती है। नाटक का कार्य क्रिया रूप धारण नहीं करती जिससे रस उत्पन्न हो।

मोहन राकेश के प्रथम दो नाटकों में हम रस-निष्पित्ति का आभास ले सकते हैं परन्तु अंतिम दो नाट्य कृतियों में इस तत्त्व का प्रयोग नहीं उआ है। प्रसाद के समान राकेश ने भी श्रृंगार एवं करुण रस को अंगी रूप में प्रस्तुत किया है। साथ ही हास्य रस का समर्थन भी दोनों नाटककारों की नाट्य रचनाओं में हुआ है। प्रसाद ने जहाँ वीर रस का प्रदर्शन अधिक किया है, वहीं राकेश ने विप्रलंभ श्रृंगार को प्राधान्य दिया है। दोनों ने ही भारतीय नाट्य चिन्तन पद्धति के इस तत्त्व का प्रयोग अपने नाटकों में करके इसकी महत्ता को रेखांकित किया है।

वस्तुतः प्रसाद और राकेश के नाटकों के साम्य पक्ष का विवेचन करते हुए देखने पर यह स्पष्ट होता है कि दोनों ने ऐतिहासिक कथानक का अंश लेते हुए अपनी सृजनात्मक प्रतिभा के बल पर सामाजिक जीवन के प्रश्नों को कल्पना का चादर ओढे अत्यंत सशक्त ढ़ंग से अभिव्यक्त किया है। इसके लिए दोनों ने

काल्पनिक पात्रों की निर्मिति भी की। साथ ही नाटकीय तत्वों जैसे अन्तर्द्वन्द्व एवं रस योजना का भी आश्रय लिया। इस अन्तर्द्वन्द्व को पात्रों के मनोवैज्ञानिक स्तर पर प्रदर्शित करने के लिए दोनों ने स्वगत कथन का भी समर्थन किया है। आगे इनके नाटकों के वैषम्य पक्ष की ओर से भी गुज़रेंगे।

प्रसाद और राकेश के नाट्य सृजन के संबंध में सबसे बड़ा वैषम्य देशकाल योजना में लक्षित की जा सकती है। प्रसाद स्वतंत्रता पूर्व के नाटककार हैं। उनके नाटकों में इतिहास एवं कल्पना का अविच्छिन्न संबंध है। अपनी ऐतिहासिक अन्तर्दृष्टि के द्वारा इतिहास के अस्थिपंजर में मांसलता एवं सौन्दर्य का सामंजस्य किया है। उनके नाटकों में देश संबंधी उल्लेखों में एशिया के अर्थ में जम्बू द्वीप, भारत के लिए भारतवर्ष, आर्यावर्त्त, उत्तरा पथ, दक्षिणापथ आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। तदयुगीन सामाजिक स्थितियों एवं राजनीतिक परिस्थितियों का यथा तथ्य सही अंकन उनके नाटकों में हुआ है। उन्होंने देशकाल का चित्रण यथासंभव प्रामाणिकता के साथ किया है। राकेश के नाटक स्वातंत्र्योत्तर काल की उपज है। अतः उसमें तत्कालीन भारतीय परिवेश का अंकन है। यों तो उनके प्रथम दो नाटक ऐतिहासिक धरातल पर रचित है फिर भी उसमें उठाई गई समस्या कालातीत है। दोनों ने ही अलग ढ़ंग से इसका अंकन अपने नाटकों में किया है।

वस्तु-संगठन एवं दृश्य योजना के स्तर पर भी दोनों में भिन्नता देखी जा सकती है। प्रसाद के लगभग सभी नाटकों में पाँच अंक हैं और प्रत्येक में ग्यारह से सत्रह तक दृश्य होते हैं लेकिन राकेश ने पाश्चात्य पद्धति के अनुरूप तीन अंक वाले नाटकों का सृजन किया है और दृश्य योजना का संकेत भी नहीं है। राकेश

के नाटकों में इसी कारण संकलन त्रय का सफल निर्वाह हुआ है। जबकि प्रसाद के नाटकों में इसका बिल्कुल पालन नहीं किया गया है।

राकेश के नाटक रंगमंच एवं अभिनेयता की दृष्टि से भी सफल है। उनमें विस्तृत रूप से मंचीय संकेत, ध्वनि, प्रकाश संकेत दी गई है जबकि प्रसाद के नाटक में यह निर्देशक की ज़िम्मेदारी बन जाती है। यही कारण है कि प्रसाद के नाटक रंगमंच पर कम और राकेश के नाटक अधिक खेले गए हैं। इस भिन्नता को आधुनिक रंगमंचीय व्यवस्था से अतिक्रमण किया जा सकता है।

नाटक के कार्य का फल प्राप्ति के संबंध में भारतीय आचार्यों ने विचार किया है। उनके अनुसार धर्म, अर्थ, और काम में से किसी एक की प्राप्ति नाटक का उद्देश्य होना चाहिए। 'राज्यश्री' के नायक हर्षवर्धन का सम्पूर्ण प्रयास राज्यवर्धन के साथ छल करनेवाले नरेन्द्रगुप्त का विनाश एवं विपादग्रस्त राज्यश्री के प्राणों की रक्षा रूपी अर्थ के लिये होता है, किन्तु इस नाटक का अन्त भी धार्मिक वातावरण में ही होता है। अंत में राज्यवर्धन की हत्या करने वाले विकटघोष को भी क्षमा कर दिया जाता है। राज्यश्री हर्ष का आग्रह करती है। तथा महाश्रमण धर्मराज का शासन करने के हेतु मुकुट धारण करने का अनुरोध करते हैं। अतः इस नाटक का उद्देश्य धर्म एवं अर्थ की प्राप्ति है।

'विशाख' एवं 'अजातशत्रु' में नायक एवं नायिका को काम की उपलब्धि होती है। दोनों में मार्ग के विपुल व्यवधानों को पार कर अंत में गृहस्थ जीवन का आनन्द प्राप्त करते हैं। 'अजातशत्रु' में अजात को बाजिरा की प्राप्ति के साथ ही

काशी राज्य दहेज में मिल जाता है यह अर्थ की उपलब्धि है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' नाटक का फल भी धर्म, अर्थ और काम के समन्वय से युक्त है। कामना का उद्देश्य काम व धर्म प्रधान है। इन दोनों के बीच अर्थ विप्लव मचाती है किन्तु अन्त में कामना का पाणिग्रहण संतोष के साथ होता है और स्वर्ण को लोग विलास की नौका में फेंकने में लगते हैं। यह धर्मानुप्राणित काम की विजय है तथा अर्थ लोलुप काम की पराजय। 'स्कन्दगुप्त' अर्थ एवं धर्म प्रधान रचना है क्योंकि आर्य साम्राज्य का रक्षा रूपी धर्म अंत में नायक के घोर, प्रयास से उपलब्ध होता है चाहे नायक स्वयं सम्राट पद ग्रहण नहीं करता। नायक के चरित्र में निष्काम कर्म की धर्म भावना अनुस्यूत है।

'चन्द्रगुप्त' के नायक को अर्थ एवं काम की उपलब्धि होती है तथा इसके चाणक्य देश सेवा रूपी धर्म की पूर्ति के उपरान्त मोक्ष की भावनाओं से ओत-प्रोत हो जाता है। वस्तुतः इसमें धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष सभी पुरुषार्थों की प्रतिष्ठा प्रसाद ने सफलता से किया है। 'ध्रुवस्वामिनी' में नायिका ध्रुवस्वामिनी को अपने मनोनीत प्रियतम चन्द्रगुप्त की उपलब्धि होती है तथा रामगुप्त के वध के उपरान्त चन्द्रगुप्त को सम्राटत्व की प्राप्ति होती है किन्तु काम एवं अर्थ फलों की यह प्राप्ति परम्परागत धर्म से संघर्ष करने पर ही संभव हुई है, यही इस नाटक की प्रयोगशीलता है।

भारतीय दर्शन एवं संस्कृति में गहरी निष्ठा रखने वाले प्रसाद ने अपने नाटकों में चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति को दर्शाया है। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष में से किसी एक या दो या फिर चारों की उपलब्धि को प्रसाद ने अपने नाटकों में स्थान

दिया है। उन्होंने अपने नाटक के घटना व्यापार का संयोजन ही इस ढंग से किया है कि अंत में समस्त घटना इन पुरुषार्थों की उपलब्धि में ही सहयोग देती है और इस तरह नाटक के उद्देश्य की प्राप्ति होती है।

मोहन राकेश के नाटकों की स्थिति इससे भिन्न है। राकेश ने उद्देश्य सम्बन्धी भारतीय शास्त्रीय पद्धति को न स्वीकार कर पाश्चात्य पद्धति को स्वीकारा है जिसके अनुसार सामाजिक - राजनीतिक परिस्थितियों से उत्पन्न समस्याओं में उलझा साधारण मानव और उसके अन्तर्द्वन्द्वों का अंकन ही नाटक का उद्देश्य है। वस्तुतः राकेश के नाटकों में नारी-पुरुष के भीतरी अन्तर्द्वन्द्व को ही शब्दबद्ध किया गया है।

'आषाढ़ का एक दिन' में कालिदास के अन्तर्द्वन्द्व के द्वारा राज्याश्रय साहित्यकार की सृजनशील प्रतिभा में स्थापित बंधन को सिद्ध किया है। साथ ही पुरुष की अहम्‌वृत्ति का शिकार बनी मल्लिका की विवश स्थितियों का निरूपण किया गया है। 'लहरों के राजहंस' में निवृत्ति और प्रवृत्ति के बीच पिसता आज के दुविधाग्रस्त मानव को चित्रित किया गया है। नन्द और सुन्दरी के माध्यम से चेतन मन के अन्तर्द्वन्द्व को और श्यामांग के माध्यम से अचेतन मन के उन्माद को व्यक्त किया है। नाटक का मूल द्वन्द्व पार्थिव - आपार्थिव मूल्यों का द्वन्द्व है।

'आधे-अधूरे' राकेश की सबसे अर्थवान एवं सोद्देश्य रचना है। इसमें आज के जीवन के एक गहन अनुभव खण्ड को मूर्त किया है। मानवीय संबंधों के बीच बढ़ती दूरियों को इस नाटक के परिवार के माध्यम से चित्रित किया है। 'पैर तले की ज़मीन' में मनोवैज्ञानिक धरातल पर व्यक्ति की असली शाख्सियत को बनेकाब

कर दिया है। मृत्यु-भय के आगे व्यक्ति अपनी सीमा सवीकार कर लेता है, यहीं इसका प्रतिपाद्य लक्ष्य है।

समग्रतः प्रसाद ने भारतीय नाट्य चिन्तन को और राकेश ने पाश्चात्य नाट्य पद्धति के अनुरूप उद्देश्य का गठन किया हैं जिसका प्रधान कारण उनका रचनाकाल ही है।

निष्कर्ष

बहुमुखी प्रतिभा के धनी जयशंकर प्रसाद और मोहन राकेश ने साहित्य के लगभग सभी विधाओं में अपनी लेखनी चलाई है और सर्वोपरि हिन्दी नाट्य क्षेत्र में अपनी अमिट छाप छोडने मे दोनों ही नाटककार समान रूप से सफल सिद्ध हुए। प्रसाद और राकेश दोनों ही प्राचीन भारतीय संस्कृति के एवं पाश्चात्य नाट्य पद्धति के संवेदनशील अध्येता रहे हैं परंतु दोनों की अध्ययन प्रक्रिया और तत्संबन्धी अवधारणा में पर्याप्त अंतर है। स्वतंत्रता पूर्व के ऐतिहासिक नाटक का मुख्य स्वर देश में राष्ट्रीय चेतना को उद्‌बुद्ध करना या जबकि स्वातंत्र्योत्तर नाटकों में देश को पतन के गर्त में ढ़केलने वाले उपकरणों के प्रति सचेतता और तोड़े गये वादों एवं टूटे सपनों को भोगने से जन्मे संत्रास और पीड़ा की भावना पर बल दिया गया।

इन भिन्नताओं एवं वैषम्य के बावजूद दोनों नाटककारों के अभिव्यक्ति पक्ष की या नाट्य चिन्तन के तत्त्वों की योजना की समानताओं को ढूँढने का इसमें प्रयास किया गया है। उनके नाटकों का विवेचन-विश्लेषण तुलनात्मक पद्धति को अपनाते हुए किया गया है।

उपसंहार

उपसंहार

लगभग दो हज़ार वर्षों तक संस्कृत तथा ग्रीक के विभिन्न आचार्यों ने नाट्य सिद्धान्त के विभिन्न विषयों पर गहन अध्ययन - चिन्तन किया है। भरत, धनंजय, शारदातनय, विश्वनाथ जैसे अनेक आचार्यों ने संस्कृत में तथा अरस्तू, होरेस, ह्यूगो, गेटे जैसे आचार्यों ने ग्रीक भाषा में विभिन्न नाट्य तत्त्वों पर गंभीरतापूर्वक लिखा है। इनके गहन अध्ययन और चिन्तन के परिणामस्वरूप नाटक के शास्त्रीय तत्त्वों के रूप में कथानक, पात्र एवं चरित्र चित्रण, संवाद, देशकाल और वातावरण, भाषा एवं शैली तथा उद्देश्य की प्रतिष्ठा की। प्रसाद और राकेश के नाटकों के तुलनात्मक अध्ययन के मूल भूत आधार के रूप में तत्त्वों की दृष्टि से इन्हें ही अपनाया है। स्पष्ट है कि नाटक विषयक दो प्रकार की मान्यताएँ प्रचलित हैं। अपने शोध-प्रबंध में दोनों प्रकार के मतों को ध्यान में रखा गया है।

भारतीय मतों के अनुसार नाट्य के प्रथम चरण का शुभारंभ वैदिक काल में हुआ। नाट्य के विभिन्न तत्त्वों के बीज वेदों में उपलब्ध थे। ऋग्वेद से आख्यान, यदुर्वेद से अभिनय सामवेद से गीत और अथर्ववेद से रस का संग्रह करते हुए नाट्य अपने आदि रूप में पल्लिवित हुआ। भरत के इस सिद्धान्त का समर्थन पाश्चात्य मनीषियों ने भी किया है। पश्चिम में अरस्तू के 'पोयटिक्स' नामक ग्रंथ के साथ नाट्य शास्त्र की नींव पड़ी। भारतीय आचार्यों ने नाटक के

स्थूल तत्त्वों जैसे वस्तु, नेता आदि का विस्तृत वर्णन करने के साथ ही नाटक की मूल आत्मा के रूप में भाव और रस को मान्यता दी। वस्तु और नेता रस के साधन मात्र हैं। अरस्तू का पाश्चात्य चिन्तन भी संघर्ष को नाटक का मुख्य तत्त्व मानते है। संघर्ष और भाव मूलतः एक दूसरे पर निर्भर करते हैं। वस्तुतः पूर्व और पश्चिम में सृजित नाट्यशास्त्रीय ग्रंथ रस की निष्पत्ति को ही नाटक का अंतिम ध्येय समझती है।

जयशंकर प्रसाद द्वारा रचित आठ नाट्य कृतियों के संरचनात्मक पहलू पर सैद्धान्तिक दृष्टि से दूसरे अध्याय में विश्लेषण किया गया है। प्रचलित नाटक संबन्धी मान्यताओं का खंडन न करते हुए उन्होंने नूतन विषयों को उपस्थित करना अपना लक्ष्य बनाया। भारतीय नाट्य-सिद्धांत वस्तु, नेता और रस को प्रधान मानते हैं। प्रसाद, ने यथाविधि इन तीनों अंगों का विनियाग करते हुए भारतीयता का, संस्कृति का पूर्ण दर्शन कराया है। पाश्चात्य आचार्य संघर्ष, सक्रियता और समष्टि को ही नाटक का प्राण मानते हैं। 'स्कंदगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' जैसे नाटकों में आद्यन्त संघर्षमयी स्थितियों की श्रृंखला, सक्रियता का वेग और समष्टि प्रभाव की स्थापना की प्रवृत्ति मिलती है। पात्रों के द्वन्द्वात्मक चरित्र-वैचित्र्य के उद्‌घाटन की जो प्रवृत्ति पाश्चात्य नाटककारों में दिखाई पड़ती है उसका अनुसरण भी प्रसाद ने यथास्थान अपने नाटकों में किया है। इस प्रकार प्रसाद के नाटकों में भारतीय और पाश्चात्य पद्धति का अद्‌भुत सम्मिश्रण देखने को मिलता है। उनके विचारों को उदात्त शैली में प्रस्तुत करने में उनकी भाषा एवं उसका रूप धारण करने वाले संवादों का महत्त्व अधिक है।

परम्परागत काल की कथा होने पर भी उनके नाटकों में ध्वनित सत्य का संदेश कालातीत है। राष्ट्रीयता के स्वर को मुखरित करने वाले इन नाटकों के ज़रिये दर्शन और संस्कृति का अनुगमन करते हुए युगानुरूप बदलाव को अपनाने की बात प्रसाद ने उठाई है।

मोहन राकेश का नाटककार रूप उनकी सृजनात्मक प्रतिभा का प्रौढ़तम रूप है। उन्होंने अपने चारों नाटकों में अपने समय के मानव जीवन तथा मूल्यों का चित्रण किया है। उनके चारों नाटक उनकी वस्तु-संगठन-कुशलता का प्रमाण प्रस्तुत करने वाले हैं। राकेश ने अपने पहले दो नाट्य कृतियों - 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' का सृजन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में किया है तथा अंतिम दो 'आधे अधूरे' और 'पैर तले की ज़मीन' में आधुनिक परिवेश को स्वीकारा है। इन दोनों ही। भिन्न पृष्ठ-भूमि को अपनाते हुए राकेश ने आधुनिक मानव-जीवन तथा उसके मूल्यों का संक्रमण, बिखराव, व्यर्थता-बोध, एवं अजनबीपन की कथा कही है। उनके नाटकों के कथानकों को एक साथ रखकर देखें तो परिलक्षित होगा कि उनकी कथानकों का केन्द्रबिन्दु स्त्री-पुरुष संबंधों का चित्रण है। प्रथम दोनों नाटकों में नायक-नायिका विलग हो जाते हैं। आखिरी दो नाटकों में नायक नायिका के पास लौट आने को विवश होता है। स्त्री-पुरुष संबन्धों की तनावपूर्ण स्थितियों के सटीक अंकन के अनुकूल वस्तु संगठन करने में राकेश को अपूर्व सफलता मिली है। पहले दो नाटकों के पात्र सृजन में प्राचीन सामग्रियों का सहारा लिया है जिससे उसमें विश्वसनीयता आ गई है। शेष दो नाटकों के पात्र साधारण ज़िन्दगी बितानेवाले आम आदमी है।

इन सबके चरित्र-चित्रण में पाश्चात्य चिन्तन से अभिप्रेरित अस्तित्ववाद जैसे आधुनिक चिन्तन का प्रतिष्ठान किया है।

राकेश के नाटकों की सफलता के मूल में उनकी भाषा का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने भाषा के स्वाभाविक संवेदनात्मक प्रयोगों से अपने नाटकों को समकालीन संवेदनाओं से जोड़ने का प्रयत्न किया है। इसके लिए शब्द, ध्वनि, बिम्ब, प्रतीक, नृत्य, संगीत आदि अनेक माध्यमों को उन्होंने स्वीकार किया। उन्होंने नाट्य भाषा के क्षेत्र में भी कई नये प्रयोग किए। 'आषाढ़ का एक दिन' की भाषा साहित्यिक, संस्कृतिनिष्ठ एवं काव्यमय है। बौद्धकालीन पृष्ठभूमि पर आधारित 'लहरों के राजहंस' में भी साहित्यिक एवं संस्कृत गर्भित भाषा का ही प्रयोग किया गया है। 'आधे-अधूरे' और 'पैर तले की ज़मीन' में बोलचाल की भाषा का प्रयोग हुआ है जो गंभीर विचारों की अभिव्यक्ति में सर्वथा सक्षम है। आधुनिक जीवन की समस्त तनावों और संघर्षों की अभिव्यक्ति में बोलचाल की यह भाषा समर्थ निकली है। राकेश की संवाद योजना सर्वत्र नाटकीय एवं प्रभावपूर्ण है। उनके नाटकों में छोटे-छोटे संवादों द्वारा पात्रों की मनःस्थिति की पूरी व्यंजना हुई है। संवाद-योजना में बीच-बीच में बिन्दुओं का प्रयोग करके राकेश ने अपने नाटकों में नवीन प्रयोग किए हैं। पात्रों के मानसिक तनावों की मार्मिक अभिव्यक्ति में बिन्दुओं का यह प्रयोग अत्यन्त सक्षम निकला है। तत्कालीन व्यक्ति जीवन की विसंगतियाँ रेखांकित करने के लिए तदनुरूप वातावरण की सृष्टि भी उनके नाटकों की उल्लेखनीय खूबी हैं। उन्होंने अपने नाट्य-शिल्प की तलाश प्राचीन भारतीय नाट्य-शास्त्र एवं पाश्चात्य नाट्य-

शास्त्र के सिद्धान्तों के बीच से की है। किसी एक अवधारणा का अनुकरण न करके उन्होंने हिन्दी में नये नाटक और नये नाट्य शिल्प की आधार शिला स्थापित की।

रंगमंचीय आयाम पर विचार करने पर प्रसाद के नाटकों का मंचन व्यय साध्य और कष्ट साध्य कार्य माना जाता था फिर भी वे मंचित किये गये। ब.व. कारंत, रामगोपाल बजाज, कुँवरजी अग्रवाल आदि के नेतृत्व में कई बार कई जगह प्रसाद के नाटकों की प्रस्तुति सफलता के साथ की गई है। इसी से इन नाटकों की प्रासंगिकता स्वयं सिद्ध होती है। जब राष्ट्र की आत्मा से नाटक जुड़ जाता है तो वह अपनी प्रासंगिकता सिद्ध करता है। प्रसाद के नाटकों में राष्ट्र की आत्मा धड़कती है, उसमें एक खास युग, एक खास वातावरण और खास किस्म के समाज के संघर्ष को वाणी दी गई है जो उसकी शक्ति है, जो उसकी प्रासंगिकता को रेखांकित करती है जिससे वह रंगमंच पर पुनर्जीवित होते हैं।

प्रसाद के नाटकों के कुछ दुर्बल पक्ष भी हैं। लम्बे कथोपकथन, अनावश्यक गीत योजना, भाषा गांभीर्य, आनुषंगिक इतिहास प्रियता, घटनाओं एवं पात्रों के बाहुल्य आदि पक्षों को लेकर उनके नाटकों की कटु आलोचना की गई किन्तु मात्र इन आधारों पर प्रसाद के नाटकों को अनभिनेय घोषित नहीं किया जा सकता। इन पक्षों पर विचार करते हुए यथा-संभव रंगमंच की सीमाओं का ध्यान रखते हुए प्रसाद के नाटकों का संपादन किया जा सकता है। दोष मात्र लेखन का नहीं है, अभाव एक विस्तृत रंगाशाला का है। महत्तर उद्देश्यों, प्रबल भावों एवं क्रिया-व्यापारों को उभारकर जीवन का महत्तर चित्र प्रस्तुत करने

योग्य विशाल मंच की ज़रूरत है जिसपर प्रसाद के नाटक निश्चित रूप से मंचित हो पायेंगी।

स्वातंत्र्योत्तर युग में हिन्दी नाटकों को रंगमंचीयता से जोड़कर प्रस्तुत करने वाले नाटककारों में मोहन राकेश का महत्वपूर्ण स्थान है। यह तो सर्वविदित है कि राकेश के सभी नाटक रंगमंचीयता के व्यापक गुणों से सम्पन्न है। उन्होंने अपने नाटकों द्वारा रंगमंच के नये आयामों की खोज की। उन्होंने आधुनिक, रंगमंच को साधारण लोगों की पकड़ में पहुँचा दिया। उन्होंने रंगमंच के क्षेत्र में कई नए प्रयोग किए हैं। ऐसा करके हिन्दी नाटकों के साथ-साथ हिन्दी रंगमंच को भी नूतन आयाम देने की ओर राकेश ने सराहनीय प्रयत्न किया है। राकेश ने यथार्थवादी दृश्यबंध की सीमाओं में अपने नाटकों की रचना की और उनका सफल मंचन कराया। वस्तुतः राकेश के नाटक और रंगमंच ने हिन्दी नाट्य साहित्य को समृद्ध किया है और नाटक और रंगमंच की दूरी खत्म कर दी है।

आधुनिक काल में हिन्दी नाट्य साहित्य में यथार्थवादी नाटकों के चयन का श्रीगणेश राकेश ने ही किया है। इसी यथार्थवादी शैली को स्वीकार करने के कारण उनकी रंग सृष्टि में नवीनता है। उनके नाटकों का दृश्य-विधान अपने ढंग का अनूठा है। उनके चारों नाटकों में एक ही दृश्यबंध में सारा कार्य-व्यापार चलता है। सेटिंग में उन्होंने नए-नए संकेत भी दिए हैं। उन्होंने नाटकों के पात्रों की वेशभूषा, दृश्य-सज्जीकरण आदि के साथ-साथ रंग-निर्देश भी विशद रूप से दिया है। उनके सभी नाटकों के रंगशिल्प में नयापन और प्रयोगात्मकता है।

नाटक को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने अपने नाटकों में ध्वनि और प्रकाश का काफी उपयोग किया है जैसे 'आषाढ का एक दिन' नाटक के प्रारंभ और समाप्ति में मेघ गर्जन के लिए ध्वनि और बिजली कौंधने के लिए प्रकाश का उपयोग किया है। 'लहरों के राजहंस' में सुन्दरी के अलंकृत कक्ष के सज्जीकरण में प्रकाश सहायक होता है तथा कमलताल पर हंसों के पंख फड़फड़ाने का शब्द ध्वनि द्वारा ही दर्शकों को सूचित किया जाता है। इस तरह राकेश ने चारों नाटकों में ध्वनि और प्रकाश की योजना प्रसंगानुकूल की है। राकेश ने 'आधे-अधूरे' में और एक नये प्रयोग का उद्‌घाटन किया है। इसमें राकेश ने एक अभिनेता के द्वारा चार पात्रों का अभिनय कराया है। इस नाटक ने मंचन की सफलता के कारम खूब ख्याति प्राप्त कर ली। विभिन्न भारतीय और अंग्रेज़ी, भाषाओं में इसका अनुवाद और मंचन हुआ है।

हिन्दी रंगमंच को नये आयाम और नयी दिशा देने के लिए राकेश ने कई नूतन प्रयोग की हैं। इन्हीं रंग प्रयोगों के कारण मोहन राकेश आधुनिक हिन्दी नाटक के प्रथम समर्थ रंग शिल्पी माने जाते हैं। इन रंगमंचीय प्रयोगों द्वारा मोहन राकेश ने अपने नाटकों को जनता के निकट पहुँचाने का प्रयास किया है। इस प्रयास की सराहना करते हुए आगामी नाटककारों ने नूतन प्रयोगों की प्रेरणा भी उनसे ग्रहण की है। राकेश के नाटकों के संबंध में उल्लेखनीय बात यह है कि ये नाटक भारतीय रंगमंच पर उपलब्ध सार्थक नाटकों की सूची में अपना अनोखा स्थान रखते हैं।

जयशंकर प्रसाद और मोहन राकेश की नाट्यकृतियों का तुलनात्मक विश्लेषण करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दी नाट्य जगत को जीवन्त बनाने का श्रेय इन दोनों नाटककारों की कृतियों पर समान रूप से है। परम्परा और परिवेश, साहित्यकार को हमेशा प्रेरित करने वाले दो महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं। इनसे संबद्ध होकर साहित्यकार सार्थक लेखन में संलग्न होता है। इसलिए लेखक इन दोनों से तटस्थ नहीं रह सकता। इनसे जुड़कर रचनाकार अपनी रचना को विस्तृत फलक पर प्रस्तुत करता है। जब प्रसाद और राकेश के नाटकों का विश्लेषण किया गया तब ये सारी बातें अक्षरांशतः उन रचनाओं को सार्थक साबित करने में मददगार सिद्ध हुई। परम्परा से प्रेरणा ग्रहण करते हुए तत्कालीन परिवेश को उसके साथ जोड़कर इन नाट्य कृतियों को विस्तृत पहचान प्रदान की है। अंतिम अध्याय में, वैज्ञानिक दृष्टि से इन नाट्य कृतियों के समान एवं असमान पहलू पर विचार किया गया है। इनके साम्य एवं वैषम्य पक्ष पर दृष्टिपात करना इस अध्याय का लक्ष्य है।

सबसे पहले कथावस्तु के स्रोत की दृष्टि से दोनों में समानता परिलक्षित होती है। दोनों ने ही ऐतिहासिक कथानकों का चुनाव करते हुए उसमें आधुनिक अर्थ संदर्भ जोडे जिससे वह सशक्त बन पड़ा। इतिहास का सहारा लेते हुए दोनों नाटककारों ने युगीन राष्ट्रीय एवं सामाजिक समस्याओं को अपने नाटकों में वाणी दी। उन्होंने इतिहास सम्मत प्रामाणिक कथानकों के माध्यम से अपने समय के समाज को आंदोलित करने वाली समस्याओं को उठाया और उसका समाधान पेश किया। इस प्रस्तुतीकरण के लिए उन्होंने कल्पना का आश्रय

लिया। कल्पना का दामन पकड़ते हुए उन्होंने इतिहास में प्राणों का संचरण किया। इसका तात्पर्य यह है कि दोनों नाटककारों ने ऐतिहासिक नाटकों के कथानकों में पर्याप्त काल्पनिक अंशों का प्रयोग किया है। उनकी कल्पना, इतिहास के सत्य को सौन्दर्य देने का महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। उनकी कल्पना इतिहास के अंतराल भरने के लिए तथा उनका इतिहास काल्पनिक चित्रों को विश्वसनीय बनाने के लिए क्रियाशील है। वस्तुतः दोनों के नाटकों में इतिहास और कल्पना का संयमित समन्वय देखने को मिलता है।

पात्र योजना की दृष्टि से दोनों नाटककारों के नाटकों में मुख्य पात्रों की संख्या कम और गौण पात्रों की संख्या ज़्यादा है। दोनों ही नाटककारों ने हास्य रस को उभारने की दृष्टि से विदूषक पात्रों का सृजन किया है। दोनों नाटककारों ने नारी एवं पुरुष के आत्मसंघर्ष को वाणी दी है। इसके लिए मनोविज्ञान का आश्रय लेते हुए चरित्रों द्वारा भोगे जा रहे अन्तर्द्वन्द्व का सूक्ष्म चित्रण किया है। इस अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति के लिए दोनों नाटककारों ने स्वगत कथन को स्वीकारा है। द्वन्द्व से पीड़ित पात्र अपने मन के दर्द को आत्म कथन द्वारा अभिव्यक्त करते हैं। इन स्वगत कथनों की योजना दोनों नाटककारों ने या तो दृश्य के प्रारंभ में की है या फिर अंत में जिससे ये दृश्य के काव्यात्मक प्रभाव के निर्माण में तथा चरम की सिद्धि में सहायक साबित हुई।

भाषा-शैली की दृष्टि से प्रसाद और राकेश ने कथ्य के अनुसार भाषा का चयन किया है। प्रसाद ने अपने नाटकों के लिए संस्कृतनिष्ठ शुद्ध साहित्यिक हिन्दी का प्रयोग किया है। राकेश ने अपने प्रथम दो नाटकों में इसी ढ़ंग की

भाषा का प्रयोग किया है। तत्सम शब्दावली का प्रयोग इस भाषा में भरपूर हुआ है। दोनों के नाटकों में सारगर्भित, सुनिश्चित एवं प्रभावपूर्ण भाषा का प्रयोग लिया गया है। दोनों ने बड़े सोच-विचार से भाषा के प्रभावशाली रूप को अपने नाटकों में स्वीकार किया है। त्रासद तत्व को दोनों नाटककारों ने समान रूप से अपनाया है। मानव जीवन में परिस्थितिजन्य निरर्थकता को रेखांकित करते हुए प्रसाद और राकेश ने त्रासद तत्त्व की सशक्त नाटकीय अभिव्यक्ति की है। आस्था एवं अनास्था के कारण जीवन में उत्पन्न समस्याओं एवं उससे जीवन में व्याप्त त्रासदी का अंकन दोनों ने समान रूप से उभारा है। श्रृंगार एवं शान्त रस ही दोनों नाटककारों का अभीष्ट रहा है। संयोग एवं वियोग श्रृंगार के दृश्य दोनों नाटककारों ने रचा है।

दोनों नाटककारों में वैषम्य भी प्रचुर मात्रा में है। भारतीय परम्परा का अनुसरण करते हुए प्रसाद ने कथानक का विभाजन अंकों एवं दृश्यों में किया है। ऐसा करते हुए उन्होंने किसी क्रम का अनुपालन नहीं किया है इस कारण प्रत्येक नाटक में अलग-अलग ढ़ंग से अंक-दृश्य विभाजन किया गया है। राकेश ने पाश्चात्य पद्धति का अनुसरण करते हुए प्रत्येक नाटक में कथानक को तीन अंकों में बांटा है तथा दृश्य विभाजन नहीं किया है। यह वर्गीकरण मंचीकरण की दृष्टि से अधिक प्रभावशाली है।

दोनों नाटककारों के नाटकों में पात्रों की संख्या में भी ताल मेल नहीं है। प्रसाद के नाटकों में गौण पात्रों की संख्या अधिक है जबकि राकेश के नाटकों के पात्रों की संख्या कथ्यानुरूप एवं संख्या में कम है। देशकाल की दृष्टि

से भी दोनों में भिन्नता है। प्रसाद ने भारतीय इतिहास से कथानक ग्रहण किया है जिससे उनके नाटकों का वातावरण ऐतिहासिक है। इसके विपरीत राकेश के प्रथम दो नाटक इतिहास सम्मत होने पर भी उनके नाटकों में वर्णित घटनाओं का वातावरण ऐतिहासिक न होकर पूर्णतः समसामायिक है। संकलनत्रय का निर्वाह राकेश के सभी नाटकों में सशक्त रूप से हुआ है जबकि प्रसाद के नाटकों में यह नाम मात्र के लिए भी नहीं है। प्रसाद संस्कृत नाटकों से प्रेरणा ग्रहण करते हुए संवादों के बीच में गीत-योजना भी की है। राकेश में यह प्रयोग दृष्टव्य नहीं है। उनकी भाषा आधुनिक जीवन शैली के अनुरूप है। उनमें व्यंग्य का प्रयोग सार्थक रूप में हुआ है।

रंगमंचीयता की दृष्टि से राकेश के नाटक श्रेष्ठ साबित होते हैं। उनके सभी नाटकों का मंचन लगभग पूरे भारत में कई बार सफलता के साथ किया गया है। प्रसाद के नाटकों के मंचन के संबंध में कई चुनौतियाँ हिन्दी रंगमंच के सामने हैं। प्रसाद की दृष्टि में हिन्दी रंगमंच को ओर अधिक समृद्ध होने की ज़रूरत है तभी उनके नाटकों का मंचन अधिक संख्या में संभव हो पायेगा।

इस तरह प्रसाद और राकेश के संबंध में यह अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति को अपनाते हुए संपन्न हुआ है। हिन्दी के दो मूर्द्धन्य नाटककारों के नाटकों का समग्र रूप से अध्ययन करने पर यह मत भी प्रकट हुआ कि इसके विभिन्न पहलुओं पर और अधिक अध्ययन की गुंजाइश हैं। इनके नाटकों की ऐतिहासिकता एवं कल्पनाश्रित कथानकों पर विस्तृत अध्ययन किया जा सकता है। इनकी भाषा-शैली एवं उसमें अभिव्यक्त व्यंग्य पर भी विचार किया जा सकता है। दोनों

नाटककारों के स्त्री-पुरुष संबन्धी दृष्टिकोण, स्त्रियों के सशक्त रूप का अंकन तथा त्रासद तत्व की ओर इनके झुकाव पर भी विश्लेषण संभव है। इन पहलुओं पर यहाँ विचार किया गया है लेकिन विस्तृत रूप से इनपर विश्लेषण करने की अब भी संभावना है।

निष्कर्षतः हिन्दी नाट्य जगत को समृद्ध करने वाले दो बहुमुखी प्रतिभा के धनी नाटककारों की नाट्य कृतियों का समग्र रूप से विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

सहायक ग्रंथ-सूची

आधार ग्रंथ

1. प्रसाद के संपूर्ण नाटक एवं एकांकी — जयशंकर प्रसाद, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, संस्करण-2004

2. मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक — नेमिचन्द्र जैन (सं), राजपाल एंड सन्ज़, दिल्ली-6, संस्करण-2008

आलोचनात्मक ग्रंथ

3. आधुनिक हिन्दी नाटक — डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंह, नई दिल्ली, प्र.सं. - 1981

4. आज का हिन्दी नाटक : प्रगति और प्रभाव — डॉ. दशरथ ओझा, राजपाल एण्ड सन्ज़, नई दिल्ली, प्र.सं. - 1984

5. आज के हिन्दी रंगनाटक : परिवेश और परिदृश्य — जयदेव तनेजा, तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. - 1980

6. आधुनिक हिन्दी नाटक : एक यात्रा दशक	नरनारायण राय भारतीभाषा प्रकाशन, दिल्ली प्र.सं. - 1979
7. आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच	डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल साहित्य भवन प्रा.लि., इलाहाबाद प्र.सं. - 1973
8. आधुनिक हिन्दी नाटक का अग्रदूत : मोहन राकेश	डॉ. गोविन्द चातक इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली प्र.सं. - 2003
9. आधुनिक हिन्दी नाटक : भाषिक और संवादीय संरचना	डॉ. गोविन्द चातक तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली प्र.सं. - 1989
10. आधुनिक हिन्दी नाटक : संवेदना और रंगशिल्प के नये आयाम	सुंदरलाल कथूरिया भावना प्रकाशन, दिल्ली प्र.सं. - 1998
11. काव्य और कला तथा अन्य निबंध	जयशंकर प्रसाद लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली द्वि.सं. - 2007
12. जयशंकर प्रसाद	नन्ददुलारे वाजपेयी भारती भण्डार, इलाहाबाद प्र.सं. - 1963

13. जयशंकर प्रसाद	प्रभाकर माचवे राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली प्र.सं. - 1990
14. जयशंकर प्रसाद के नाटकों में संवाद, सिद्धान्त और विनियोग	डॉ. श्यामा सहाय जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
15. जयशंकर प्रसाद और मोहन राकेश के नाटकों में संवाद योजना	डॉ. एम. शान्तम्मा जवाहर पुस्तकालय, मथुरा प्र.सं. - 2008
16. जयशँकर प्रसाद : मूल्यांकन और मूल्यांकन	डॉ. कृष्णकुमार गोस्वामी उच्च शिक्षा और शोध संस्थान दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा प्र.सं. - 1990
17. जयशँकर प्रसाद : रंगदृष्टि रंगसृष्टि	महेश आनन्द राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली प्र.सं. - 1998
18. जयशंकर प्रसाद : नवीन मूल्यांकन	डॉ. राजेन्द्र सिंह दिल्ली विश्वविद्यालय प्रेस, नई दिल्ली प्र.सं. - 1999
19. जयशंकर प्रसाद : वस्तु और कला	डॉ. रामेश्वरलाल खण्डेलवाल नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली प्र.सं. - 1968

20. ध्रुवस्वामिनी का शास्त्रीय विवेचन — पुरुषोत्तमदास अग्रवाल
जीवन ज्योति प्रकाशन, नई दिल्ली
प्र.सं. - 1972

21. नई रंगचेतना और हिन्दी नाटककार — जयदेव तनेजा
तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली
प्र.सं. - 1994

22. नए प्रतीक नाटक — डॉ. सूरज प्रसाद पचौरी
जवाहर पुस्तकालय, मथुरा
प्र.सं. - 2007

23. नया हिन्दी नाटक — डॉ. भानुदेव शुक्ल
जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
प्र.सं. - 1993

24. नाट्य चिन्तन : नये संदर्भ — डॉ. चन्द्र
साहित्य रत्नालय, कानपुर
प्र.सं. 1987

25. नाट्य निबंध — डॉ. दशरथ ओझा
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नई दिल्ली
प्र.सं. - 1972

26. नाट्य विमर्श : मोहन राकेश — जयदेव तनेजा (सं)
राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली
प्र.सं. - 2003

27. नाटककार मोहन राकेश — सुन्दरलाल कथूरिया
कुमार प्रकाशन, दिल्ली
प्र.सं. 1974

28. नाटककार मोहन राकेश : संवाद-शिल्प — मदनलाल
दिनमान प्रकाशन, दिल्ली
प्र.सं. - 1990

29. नाटक के तत्त्व — डॉ. कमालिनी मेहत्ता
नागरी प्रचारणी सभा, काशी
प्र.सं. - 2000

30. नाटक के साहित्यिक संरचना — गोविन्द चातक
तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली
प्र.सं. - 1994

31. नाटक तथा रंग परिकल्पना — गिरिश रस्तोगी
विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
प्र.सं. - 1992

32. नाट्य प्रस्तति : एक परिचय — रमेश राजहंस
राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
प्र.सं. - 1987

33. नाटककार प्रसाद और द्विजेन्द्रलाल राय — डॉ. ब्रजकुमार मित्तल
भावना प्रकाशन, इलाहाबाद
प्र.सं. - 1978

34. प्रसादयुगीन नाटक	डॉ. रमेशकुमारी खनेजा तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली प्र.सं. - 1981
35. प्रसाद के नाटक	डॉ. सिद्धनाथ कुमार अनुपम प्रकाशन, पटना प्र.सं. - 1978
36. प्रसाद के नाटकों के नारी पात्र	श्रीमती मुकुलरानी सिंह जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद प्र.सं. - 1991
37. प्रसाद के नाटकों का रसानुशीलन	डॉ. मायासिंह जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद प्र.सं. - 2000
38. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन	जगन्नाथ प्रसाद वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली प्र.सं. - 1950
39. प्रसाद के नाटक तथा रंगमंच	डॉ. सुषमपाल मल्होत्र राजपाल एण्ड सन्ज़, नई दिल्ली प्र.सं. 1974
40. प्रसाद के नाटक : देश और काल की बहुआयामिता	रमेश गौतम ईशा ज्ञानदीप, दिल्ली प्र.सं. - 2001

41. प्रसाद के नाटक : सर्जनात्मक धरातल और भाषिक चेतना	गोवन्द चातक आत्माराम एण्ड सन्ज़, दिल्ली प्र.सं. - 1972
42. प्रसाद के नाट्य साहित्य : परम्परा एवं प्रयोग	डॉ. हरीन्द्र प्रतिष्ठान प्रकाशन, मेरठ प्र.सं. -
43. प्रसाद की नाट्यकला : संरचना और शैली तत्त्व	डॉ. सुजाता बिष्ट तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली प्र.सं. - 1990
44. प्रसाद के नाटक : स्वरूप और संरचना	गोविन्द चातक तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली प्र.सं. - 1995
45. प्रसाद के नाटकों में नियतिवाद	पद्माकर शर्मा जीत मल्होत्रा रचना प्रकाशन इलाहाबाद प्र.सं. - 1968
46. बदलते हुए मूल्य और आधुनिक हिन्दी नाटक	डॉ. ओमप्रकाश सारस्वत मंथन पब्लिकेशनस, रोहतक प्र.सं. - 1984
47. भारत की नाट्य मीमांसा - चित्र तुरंग	डॉ. हरद्वारीलाल शर्मा नवसाक्षर संस्थान, इलाहाबाद प्र.सं. - 1999

48. भारतीय नाट्य सौन्दर्य
डॉ. मनोहर काके
मेथ प्रकाशन, दिल्ली
प्र.सं. - 1982

49. भारतीय नाट्य : स्वरूप और परम्परा एवं नाट्यशास्त्र के बीज शब्द (2 भाग)
राधावल्लभ त्रिपाठी
सागर विश्वविद्यालय, सागर
प्र.सं. - 1988

50. भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा और दशरूपक
हज़ारी प्रसाद द्विवेदी
पृथ्वीराज द्विवेदी
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
प्र.सं. - 1963

51. मोहन राकेश और उनके नाटक
गिरीश रस्तोगी
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
द्वि.सं. - 1989

52. मोहन राकेश का नाट्य साहित्य
डॉ. पुष्पा बंसल
सूर्य प्रकाशन, दिल्ली
प्र.सं. - 1976

53. मोहन राकेश का नाट्य साहित्य
घनानंद एम. शर्मा
चिन्ता प्रकाशन, राजस्थान
प्र.सं. - 1988

54. मोहन राकेश का नाट्य शिल्प : प्रेरणा एवं स्रोत
राजेश्वरप्रसाद सिंह
अमित प्रकाशन, गज़ियाबाद
प्र.सं. - 1992

55. मोहन राकेश की रंग सृष्टि	जगदीश शर्मा राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली द्वि.सं. 1975
56. मोहन राकेश और उनका साहित्य	कविता शनवारे विकास प्रकाशन, कानपुर प्र.सं. - 1999
57. मोहन राकेश : सांस्कृतिक और साहित्यिक दृष्टि	मोहन राकेश राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली प्र.सं. - 1975
58. मोहन राकेश : रंगशिल्प और प्रदर्शन	जयदेव तनेजा राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली प्र.सं. - 1996
59. रंगमंच : देखना और जानना	लक्ष्मीनारायण लाल सातवाहन पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली प्र.सं. - 1983
60. रंग परम्परा : भारतीय नाट्य परम्परा में निरंतरता और बदलाव	नेमिचन्द्र जैन वाणी प्रकाशन, दिल्ली द्वि.सं. 1996
61. रंग दर्शन	नेमिचन्द्र जैन राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली द्वि.सं. 2008

62. रंगशिल्पी मोहन राकेश	नरनारायण राय कादम्बरी प्रकाशन, दिल्ली प्र.सं. - 1991
63. रंगमंच और जयशंकर प्रसाद के नाटक	रीतारानी पालीवाल साहित्य निधी, दिल्ली प्र.सं. - 1984
64. रंगमंच : लोकधर्मी - नाट्यधर्मी	डॉ. लक्ष्मीनारायण भरद्वाज के.एल. पचौरी प्रकाशन, गज़ियाबाद प्र.सं. - 1992
65. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी रंगमंच	डॉ. ओमप्रकाश शर्मा अतुल प्रकाशन, कानपुर प्र.सं. - 1994
66. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक : मोहन राकेश के विशेष संदर्भ में	रीता कुमार भूमिका प्रकाशन, नई दिल्ली प्र.सं. 1991
67. समकालीन संवेदना और हिन्दी नाटक	डॉ. शेखर शर्मा भावना प्रकाशन, दिल्ली प्र.सं. 1988
68. समकालीन हिन्दी नाटक की संघर्ष चेतना	गिरिश रस्तोगी हरियाणा साहित्य अकादमी चण्डीगढ़ प्र.सं. - 1990

69. समकालीन के अतीतोन्मुखीन नाटक	रमेश गौतम नचिकेता प्रकाशन, दिल्ली प्र.सं. - 1979
70. समकालीन नाट्य साहित्य और मोहन राकेश के नाटक	सुषमा अग्रवाल अनुपम प्रकाशन, जयपुर प्र.सं. - 1975
71. हिन्दी नाटक	बच्चन सिंह राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली प्र.सं. - 1989
72. हिन्दी नाटक : उद्‌भव और विकास	डॉ. दशरथ ओझा राजपाल एण्ड सन्ज़, नई दिल्ली तृ.सं. - 1991
73. हिन्दी नाटक का आत्मसंघर्ष	गिरिश रस्तोगी लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद द्वि.सं. 2002
74. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास	सोमनाथ गुप्त हिन्दी भवन, इलाहाबाद प्र.सं. - 1948
75. हिन्दी नाटक : रंग शिल्प दर्शन	विकल गौतम वाणी प्रकाशन, दिल्ली प्र.सं. - 2000

76. हिन्दी नाटक : इतिहास दृष्टि और समकालीन बोध	डॉ. प्रभात शर्मा सोमनाथ ढल संजय प्रकाशन दिल्ली प्र.सं. - 2006
77. हिन्दी नाटक और रंगमंच	राजमल बोरा नारायण शर्मा पंचशील प्रकाशन, जयपुर प्र.सं. - 1988
78. हिन्दी नाटक : प्राक्कथन और दिशायें	डॉ. विजकांत धर दुबे अनुभव प्रकाशन, कानपुर प्र.सं. 1986
79. हिन्दी नाटक और रंगमंच : पहचान और परख	इन्द्रनाथ मदान लिपि प्रकाशन, दिल्ली प्र.सं. - 1975
80. हिन्दी नाट्य समालोचना	डॉ. माधाता ओझा राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली प्र.सं. - 1976
81. हिन्दी नाट्य साहित्य	ब्रजरत्नदास हिन्दी साहित्य कुटीर, वाराणसी प्र.सं. - 1960

82. हिन्दी नाटक में नायक का स्वरूप — राजेन्द्र कृष्ण, भारतीय ग्रन्थ निकेतन, दिल्ली, प्र.सं. 1974

83. हिन्दी नाटकों में हास्य तत्त्व — शान्ता रानी, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं. - 1969

84. हिन्दी के ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास तत्त्व — डॉ. धनजय, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं. - 1970

85. हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की मीमांसा — कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह, भारती ग्रन्थ भंडार, दिल्ली, प्र.सं. - 1968

अंग्रेज़ी ग्रंथ

86. Dramatic concepts - Greek & Indian A study of poetics and Natyasastra — Bharat Gupta, D.K Printworld Delhi, F.P. - 1994

Aristotle's Theory of Poetry and Fine Arts — S.H. Butcher

मलयालम ग्रंथ

87. नाटक दर्शनम्
प्रो.जी. शंकर पिल्लै
डी..सी. बुक्स, कोट्टयम
प्र.सं. - 1990

88. नाटक दर्शनम्
ए.पी.पी. नम्बूतीरी
मलयालम पब्लिकशन, कालिकट

89. नाटक प्रवेशिका
ए.सी. हरिशर्मा
आर.सी. शर्मा
साहित्य प्रवर्तक को.सो., कोट्टयम
प्र.सं. - 1922

90. भरतमुनि का नाट्यशास्त्र
के.पी. नारायण पीषारडी
केरल साहित्य अकादेमी, त्रिशूर
प्र.सं. - 1987

कोश ग्रंथ

91. प्रसाद साहित्य कोश
डॉ. हरदेव बाहरी
भारती भण्डार, इलाहाबाद
प्र.सं. - 1957

92. हिन्दी नाटक कोश
डॉ. दशरथ ओझा
नेशनल पब्लिशिंह हाउस
दिल्ली,
प्र.सं. - 1975

पत्रिकाएँ

		अंक				
1.	आलोचना	14	-	सितंबर	-	2003
2.	नटरंग	9	-	मार्च	-	1969
3.	"	10	-	जून	-	1969
4.	"	12	-	सितंबर	-	1969
5.	"	18	-	दिसंबर	-	1969
6.	"	20	-	सितंबर	-	1975
7.	"	24	-	दिसंबर	-	1975
8.	"	34	-	दिसंबर	-	1985
9.	"	46	-	सितंबर	-	1986
10.	रंगप्रसंग	2	-	जून	-	2003
11.	रंगप्रसंग	1	-	दिसंबर	-	2003
12.	संग्रथन	-	-	अप्रैल	-	2009
13.	सरस्वती	73	-	सितंबर	-	1972
14.	सरस्वती	75	-	दिसंबर	-	1974
15.	हिन्दी अनुशीलन (अंक 91)			-		नवंबर- 1994

12/264 'सरोज'
कुवपाडम
कोच्चिन-2

श्रीमती मायालक्ष्मी आर. का जन्म एरणाकुलम जिले के मट्टानचेरी में 17 मई 1986 को हुआ। प्रारंभिक शिक्षा केन्द्रीय विद्यालय, द्रोणाचार्य और केन्द्रीय विद्यालय, पोर्ट ट्रस्ट में संपन्न हुआ। सन् 2006 ई. में महात्मा गाँधी विश्वविद्यालय के अधीनस्थ एरणाकुलम, महाराजास कॉलेज से बी.ए. हिन्दी, प्रथम श्रेणी एवं द्वितीय स्थान (II Rank) के साथ स्नातक की उपाधि प्राप्त की। सन् 2008 ई. में कोच्चिन विज्ञान एवं प्रौद्योगिक विश्वविद्यालय से एम.ए. हिन्दी की उपाधि प्रथम श्रेणी एवं द्वितीय स्थान हासिल करते हुए प्राप्त की। सन् 2008 ई. में कोच्चिन विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्रोफेसर डॉ. एन.जी. देवकी जी के नेतृत्व में शोध कार्य आरंभ किया। सन् 2009ई. में कोच्चिन विज्ञान एवं प्रौद्योकिकी विश्वविद्यालय से पोस्ट ग्राजुएट डिप्लोमा इन ट्रांश्लेशन एण्ड फंक्शनल हिन्दी प्रथम श्रेणी एवं प्रथम स्थान के साथ उत्तीर्ण की। प्रो.एन.जी. देवकी के नेतृत्व में "भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में स्त्री सशक्तिकरण : हिन्दी-मलयालम कविता के विशेष संदर्भ में" विषयक यू.जी.सी. बृहत शोध परियोजना में 'रिसर्च फेलो' के रूप में दो साल कार्य किया। कोच्चिन विश्वविद्यालय के वार्षिक शोध पत्रिका 'अनुशीलन' तथा हिन्दी विद्यापीठ, तिरुवनन्तपुरम की मासिक पत्रिका 'संक्रथन' में शोध प्रपत्रों का प्रकाशन हुआ। संप्रत्ति सिंडिकेट बैंक, क्षेत्रीय कार्यालय एरणाकुलम में सहायक प्रबंधक (राजभाषा) के पद पर कार्यरत है। "जयशंकर प्रसाद और मोहन राकेश के नाटकों का तुलनात्मक अनुशीलन" शीर्षक शोध-कार्य पी.एच.डी की उपाधि हेतु प्रस्तुत कर रही हूँ।